प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर-१

• द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण, १९६९

• मूल्य :
विद्यार्थी संस्करण : पाँच रुपये मात्र
पुस्तकालय संस्करण : सात रुपये मात्र

• मुद्रक
जयपुर लॉ प्रिन्टर्स
जाट के कुएँ का रास्ता,
जयपुर-१.

प्राक्कथन

भारत की सांस्कृतिक परम्परा सर्वदा [illegible]
राजनीतिक एकता के अभाव में भी देशवासियों ने सदा सांस्कृतिक एकता का अनुभव किया है। अतः सांस्कृतिक एकता की समान अनुभूति पर राष्ट्रीय चेतना का सुगमतापूर्वक विकास किया जा सकता है। भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप देश की संस्कृति के आलोक में ही उद्भासित हो सकता है। अतः प्रत्येक भारतीय के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान प्राप्त करे और अपने को उसका योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध करे। आज का विश्व विभिन्न प्रकार की विरोधी विचारधाराओं तथा वादों के संघर्ष से पीड़ित है। ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता एवं समन्वयात्मक प्रवृत्ति निस्सन्देह आदर्श मानव समाज की रचना का आधार प्रस्तुत कर सकती है। पूर्व व पश्चिम के बीच समन्वय के लिए भारतीय वेदान्त सेतु बन सकता है। यही नहीं, भारतीय संस्कृति का शान्ति, अहिंसा तथा विश्व-बन्धुत्व का संदेश परमाणु युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवता के लिए आज भी आशाप्रद हो सकता है। अतः सब दृष्टियों से भारतीय संस्कृति का ज्ञान हमारे लिए वांछनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक पूर्णतः राजस्थान विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखी गई है। भारतीय संस्कृति के विकास के महत्त्वपूर्ण चरणों का प्रस्तुत पुस्तक में सुबोध, सरल, किन्तु प्रामाणिक विवेचन है। विद्यार्थी विषय को भली प्रकार हृदयंगम कर सकें, इस उद्देश्य से प्रत्येक महत्त्वपूर्ण तथ्य को सुबोध शीर्षक या उपशीर्षक का रूप दे दिया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में अभ्यास के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी दिए गए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में कविवर रामधारीसिंह दिनकर की महत्त्वपूर्ण कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' विशेष सहायक सिद्ध हुई है, अतः इसके लिए लेखक उनका आभारी है। लेखक डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, अध्यक्ष, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय एवं डा० गोपीनाथ शर्मा, रीडर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, का उनसे प्राप्त प्रेरणा व मार्गदर्शन के लिए आभारी है। यदि यह पुस्तक विद्यार्थियों तथा अन्य जिज्ञासु पाठकों को इस विषय का ज्ञान करा सकी और इसके प्रति उनमें अनुराग उत्पन्न कर सकी तो लेखक अपना श्रम सफल समझेगा।

—रामगोपाल शर्मा

विषय-सूची

1

भारतीय संस्कृति : विशेषताएँ एवं विकास

सभ्यता और संस्कृति का अर्थ—सामान्यतः दोनों शब्द पर्यायवाची समझे जाते हैं, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से दोनों में भेद है। अपने बाह्य जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र और निवास—की पूर्ति के लिए मानव जिन साधनों या उपकरणों की खोज निकालता है, उनके संस्थागत रूप का नाम सभ्यता है। जीवन की सुरक्षा तथा सुविधाओं के लिए मानव जिन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना करता है, वे सब सभ्यता के अन्तर्गत आती हैं। संस्कृति शब्द सम उपसर्गपूर्वक कृ (करना) धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने पर बना है। अतः इसका शाब्दिक अर्थ हुआ—संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। दूसरे शब्दों में संस्कृति का अर्थ संस्कार से है। संस्कार व्यक्ति एवं जाति दोनों के हो सकते हैं। अंग्रेजी शब्द कल्चर में जो धातु है, उसका अर्थ भी सुधारना है। विकास करते करते जब कोई जाति ऊँचे मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की स्थापना कर अपना परिष्कार या सुधार कर लेती है, तो उसके इन जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। सभ्यता यदि किसी जाति का बाह्य शरीर है तो संस्कृति उसमें अनुप्राणित आत्मा। संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव की तरह निर्जीव रहता है। संस्कृति साहित्य, धर्म, विज्ञान एवं कला में प्रकट होती है।

भारतीय संस्कृति—भारतीय संस्कृति सार्वभौम आदर्शों से प्रेरित रही है। 'सत्य की खोज, मानव कल्याण की भावना तथा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति (सत्य, शिव, सुन्दरम्) इसका मुख्य अंग है। इसका अतीत मानव इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का प्रकाश संसार के अनेक देशों में फैला हुआ था। एशिया महाद्वीप के कई देशों ने भारत से सभ्यता और संस्कृति का पाठ सीखा था। भारतीय संस्कृति की संजीवनी शक्ति अनुपम है। प्राचीन विश्व की अनेक सभ्यताएँ—मिश्र, सुमेर, बेबीलोन, असुर, यूनान और रोम आज लुप्त हो चुकी हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति गंभीर राजनीतिक उथल-पुथल को बार-बार सहकर भी आज तक जीवित है। इसका यह शान्त और अबाध प्रवाह इतिहास के विद्यार्थियों को [illegible] कर देता है। आधुनिक भारत के लिए इस संस्कृति का विशेष [illegible] है। 'इस संस्कृति के आलोक से ही भारतीय राष्ट्रीयता प्रकाशित हो [illegible]। देश की राष्ट्रीय चेतना सांस्कृतिक एकता की समान अनुभूति पर

विकसित की जा सकती है। भारतीय संस्कृति का शान्ति, अहिंसा एवं विश्वबन्धुत्व का आदर्श आज युद्ध की विभीषिका में ग्रस्त मानवता के लिए आशा की एक किरण है। ऐसी स्थिति में इस महान् संस्कृति के स्वरूप और गौरवपूर्ण योगदान को भली प्रकार समझना नितान्त आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ:—

प्राचीनता—भारतीय संस्कृति का संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में स्थान है। हड़प्पा-मोहेनजोदड़ो, लोथल आदि स्थानों में हुई खुदाई ने हमारे सामने सिन्धु सभ्यता की झांकी प्रस्तुत की है। इस सभ्यता का प्राचीन विश्व की मिस्र, सुमेर, बेबीलोन आदि नदी घाटी सभ्यताओं से सम्पर्क था। अधिकांश इतिहासकार इस सभ्यता का काल ३२५० ईस्वी पूर्व से २७५० ई० पू० तक निश्चित करते हैं। इस तरह भारतीय सभ्यता का ज्ञात इतिहास इसे ५००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन सिद्ध करता है।

निरन्तरता—भारतीय संस्कृति का स्रोत निरन्तर अविरल गति से बहता रहा है। मिस्र, सुमेर, बेबीलोन, यूनान और रोम की संस्कृतियाँ लुप्त होकर अतीत की कहानी मात्र रह गई हैं, परन्तु भारतीय संस्कृति की धारा निर्बाधरूप से पिछले ५००० वर्षों से भी अधिक समय से बहती चली आ रही है। इस दृष्टि से केवल चीन की संस्कृति भारतीय संस्कृति से समता कर सकती है। भारत में समय समय पर अनेक जातियों का प्रवेश हुआ और भारत को कई बार उनके हाथों राजनीतिक पराजय भी झेलनी पड़ी, तथापि इससे भारतीय संस्कृति का प्रवाह अवरुद्ध नहीं हुआ। विदेशी तत्त्वों का भारतीय जीवन में समावेश होने पर भी भारतीय संस्कृति का मूल रूप नहीं बदला। भारत के सांस्कृतिक जीवन के मूल आधार अब भी वही हैं जो प्राचीन काल में थे।

आध्यात्मिकता एवं धर्म-प्रधानता—भारतीय संस्कृति का विकास तपोवनों एवं आश्रमों में हुआ है। अतः इसके चिन्तन पर आध्यात्मिकता की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। नाशवान् पार्थिव शरीर की अपेक्षा आत्मा की अमरता तथा सर्वव्यापकता भारतीय दार्शनिक चिन्तन का विषय रहा है। 'आत्मा को पहिचानो (आत्मानं विजानीहि)'—भारतीय संस्कृति की सार्वभौम घोषणा है। 'जो सब प्राणियों को अपने समान देखता है, वही पण्डित है,' (आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः) एवं 'सारी पृथ्वी ही अपना कुटुम्ब है' (वसुधैव कुटुम्बकम्)—यह इस संस्कृति का चिरन्तन आदर्श रहा है। सब प्राणियों के हित की कामना करना (सर्वे भवन्तु सुखिनः) इस संस्कृति का मूल मन्त्र है। भारतीय संस्कृति त्यागपरक है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'त्याग से अपार शान्ति प्राप्त होती है' (त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्)।

भारतीय विचारकों ने मानव जीवन के चार पुरुषार्थों की कल्पना की है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें मोक्ष अन्तिम लक्ष्य है और अन्य तीन पुरुषार्थों में धर्म का प्रधान स्थान है। परन्तु धर्म का भारतीय विचार किसी निश्चित धार्मिक विश्वास, धर्मकाण्ड या धार्मिक क्रियाओं के संकुचित अर्थ को प्रकट नहीं करता, वह एक व्यापक जीवनपद्धति का बोध कराता है। साधारण अर्थ में धर्म वह विश्वव्यापी नैतिक तथा भौतिक व्यवस्था है जो लोक-जीवन को धारण करती है। विशेष अर्थ में धर्म व्यक्ति के कर्तव्य एवं आचार की संहिता है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय संस्कृति की धर्म-प्रधानता की आलोचना की है। उनका मत है कि भारतीय धर्म में इतने खोए रहे कि उन्होंने इस लोक के जीवन और समस्याओं की उपेक्षा की। ध्यान से देखने पर यह आलोचना निराधार प्रतीत होगी। चार पुरुषार्थों में धर्म को प्रधान मानने पर भी अर्थ और काम की उपेक्षा नहीं की गई है। भारतीय आचार्य धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से पालन करने का निर्देश करते हैं। महाभारत का कथन है—'जीवन में अर्थ और काम का इस प्रकार सेवन करो कि धर्म का उल्लंघन न हो।' इस निर्देश द्वारा भारतीय संस्कृति ने जीवन के आध्यात्मिक और भौतिक पक्षों के बीच समन्वय स्थापित किया है जो व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है।

विचार-स्वातन्त्र्य तथा सहनशीलता—भारतीय संस्कृति में चिन्तन की स्वतन्त्रता को पूर्ण मान्यता दी गई। यहाँ अनेक प्रकार के आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों का विकास हुआ। छः दर्शन, बौद्ध, जैन, चार्वाक, भागवत, शैव आदि अनेक मत-मतान्तरों की यहाँ सृष्टि हुई। परन्तु सभी धर्मों व मतों के प्रति सहनशीलता की भावना भारतीय जीवन में ओत प्रोत रही है। इस भावना का सर्वप्रथम प्रारम्भ ऋग्वेद में मिलता है-'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'। 'सद् एक है परन्तु ज्ञानी पुरुष उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।' यही विचार गीता में श्रीकृष्ण ने इस प्रकार प्रकट किया है-'हे अर्जुन! सभी प्रकार से मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं।'[1] धार्मिक सहिष्णुता की भावना की सुन्दरतम अभिव्यक्ति प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के बारहवें शिलालेख में हुई है। सब धर्मों के सार की वृद्धि की कामना करते हुए अशोक ने कहा है-'मनुष्यों को दूसरों के धर्म को सुनना चाहिए और उसका आदर करना चाहिए। जो मनुष्य अपने धर्म को पूजता है और दूसरे धर्म की निन्दा करता है, वह ऐसा करते हुए अपने धर्म को बड़ी भारी हानि पहुँचाता है। अतः मनुष्य में वाणी का संयम होना चाहिए।' अशोक की धर्म-सहिष्णुता का यह आदर्श आज भी हमारा मार्ग दर्शन करता है। भारतीय संस्कृति में धर्मान्धता तथा संकुचित दृष्टिकोण का कोई स्थान नहीं है। गीता का कथन है—'सब देवताओं को

1. मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

किया हुआ नमस्कार केशव को ही प्राप्त होता है'।[1] विभिन्न सम्प्रदायों तथा मत-मतान्तरों के अनुयायी यहाँ परस्पर [illegible] के साथ रहे हैं। यहाँ के शासकों ने भी [illegible] धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया है। योरोप तथा अन्य देशों की तरह भारत का इतिहास धार्मिक विद्वेष तथा धर्मान्धता के बर्बर कृत्यों से कलंकित नहीं हुआ। यहाँ के इतिहास में धार्मिक विद्वेष की जो घटनाएँ मिलती हैं, वे अपवाद स्वरूप मात्र हैं।

समन्वयशीलता—[illegible] प्रकार की समता तथा समयानुकूल परिवर्तन भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण गुण हैं, जिन्होंने इसे स्थायित्व प्रदान की है। भारतीय संस्कृति की [illegible] और [illegible] का रहस्य उसकी समन्वय शक्ति में निहित है। भारतीय समाज विभिन्न प्रजातियों—निषाद, किरात, द्रविड़, [illegible] आर्य आदि का सम्मिश्रण है। तथापि यहाँ सभी प्रजातियों की विभिन्नता इस की सांस्कृतिक एकता में बाधक नहीं बनी। इसका कारण केवल भारतीय संस्कृति की समन्वय शक्ति ही है। समय-समय पर यहाँ अनेक विदेशी आक्रमणकारी—यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण, हूण, आदि-आए और उन्होंने यहाँ अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया। तथापि भारत ने इन विदेशियों पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की और उन्हें सदा के लिए अपनी गोद में समा लिया। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के बाहर उनका कोई पृथक् अस्तित्व न रहा। महाभारत तथा मनुस्मृति के अध्ययन से विदित होता है कि भारतीय आचार्यों ने किस प्रकार अपनी सामाजिक व्यवस्था के नियमों को ढीला कर इन विदेशी लोगों को क्षत्रिय वर्णों के अन्तर्गत स्थान दिया। मेनेन्डर नामक यवन (ग्रीक) राजा ने बौद्ध मत ग्रहण कर लिया। मध्यप्रदेश में भिलसा के समीप बेसनगर में हेलियोडोर नामक ग्रीक राजदूत का गरुड़ स्तम्भ मिला है। उस पर अंकित लेख में हेलियोडोर को भागवत धर्म का अनुयायी बताया गया है। इससे प्रकट है कि भारत के वैष्णव धर्म का द्वार भी विदेशियों के लिए खुला था। यवनों (ग्रीक) की तरह शक, कुषाण और हूणों का भी भारतीयकरण किया गया। शकों के दो राजवंश दक्षिण भारत में तथा दो उत्तर भारत में स्थापित हुए। दक्षिण के शकों ने वैदिक धर्म तथा उत्तर के शकों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। हूण राजा मिहिरकुल ने भी हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया था। मन्दसोर के शिलालेख में उसके शैव मत का अनुयायी होने का उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हूणों तक इस देश में आने वाली सभी विदेशी जातियाँ भारतीय संस्कृति में उसकी प्रचण्ड पाचन शक्ति के कारण पूर्णतया समा गयीं। इस्लाम जब भारत में आया तो वह अपनी कट्टरता के कारण

1. सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

भारतीय संस्कृति में न पचाया जा सका। परन्तु फिर भी भारत में आकर इस्लाम का रूप बहुत कुछ बदल गया। भारतीय संस्कृति की समन्वय शक्ति के बारे में प्रो० डाडवेल का यह कथन सत्य है कि 'भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है जिसमें अनेक नदियाँ आ-आकर विलीन होती रही हैं।'

सामाजिक जीवन की तरह विचार जगत् में भी भारतीयों की ग्रहणशीलता उल्लेखनीय रही है। उसमें किसी प्रकार की जड़ता या संकीर्णता नहीं आई। अन्य जातियों से ज्ञान ग्रहण करने में भारतीय विचारक अपनी हीनता नहीं समझते थे। ज्योतिष के क्षेत्र में उन्होंने यूनानी तथा रोमन सिद्धान्तों को ग्रहण कर उन्हें 'रोमक सिद्धान्त' का नाम दिया। प्राचीन भारतीयों की ग्रहणशीलता प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर की निम्न उक्ति से स्पष्ट है : 'यद्यपि यवन म्लेच्छ हैं परन्तु अपने ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान के कारण वे ऋषियों की तरह पूजनीय हैं।'

भारतीय संस्कृति की मौलिक एवं आधारभूत एकता—

भारतीय संस्कृति की भौगोलिक पृष्ठभूमि—भारत की मौलिक एवं आधारभूत एकता को ठीक तरह से समझने के लिए भारतीय संस्कृति की भौगोलिक पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक है। देश के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक १६०० मील लम्बा और औसतन २५० मील चौड़ा पर्वतराज हिमालय स्थित है। इसी पर्वत से सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र आदि नदियाँ निकलती हैं। देश के दक्षिणी भाग को पश्चिम में अरब सागर, पूर्व में बंगाल की खाड़ी तथा दक्षिण में हिन्द महासागर घेरे हुए हैं। उत्तर में पर्वतराज हिमालय द्वारा सुरक्षित और दक्षिण में समुद्र से घिरा होने के कारण भारतवर्ष एक पृथक् भौगोलिक इकाई बन गया है। ये प्राकृतिक सीमाएँ उसे एशिया महाद्वीप के अन्य देशों से अलग करती हैं। इन प्राकृतिक सीमाओं के कारण विदेशी आक्रमण तथा पड़ोसी देशों के सांस्कृतिक प्रवाह भारतीय जीवन को गम्भीर रूप से प्रभावित न कर पाए और भारत अपनी प्राकृतिक सीमाओं में अपनी विशिष्ट संस्कृति विकसित कर सका।

विभिन्नता—भौगोलिक दृष्टि से भारत एक विशाल देश है। इस विशालता के कारण देश में अनेक प्रकार की प्राकृतिक, भौगोलिक तथा सामाजिक विविधता देखने को मिलती है। भौगोलिक दृष्टि से भारत को पाँच भागों में बाटा जाता है—(१) उत्तर की हिमालय पर्वतश्रेणी, (२) गंगा-सिन्धु का मैदान, (३) थार का मरुस्थल, (४) दकन का पठार तथा (५) पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तट। इनमें आश्चर्यजनक विविधता है। कहीं ऊँचे पहाड़ हैं, कहीं सपाट मैदान हैं और कहीं शुष्क रेगिस्तान। एक ओर हिमालय प्रदेश की भयंकर ठण्ड है तो दूसरी ओर राजस्थान और थार के मरुस्थल की झुलसा देने वाली गर्मी। दकन में शुष्क जलवायु है तो बंगाल व मलाबार तट पर आर्द्र जलवायु। प्रजाति या नस्ल की दृष्टि से भी

भारत में विविधता देखने को मिलती है। जहाँ उत्तर भारत के लोग गोरे और लम्बे तथा लम्बी नाक वाले हैं, दक्षिण भारत के निवासियों का रंग काला, कद नाटा तथा नाक चौड़ी होती है। देश में कई नस्लें हैं—जैसे आर्य, द्रविड़, किरात (तिब्बत-बर्मी) तथा मुण्डा (कोल-भील)।

देश के विभिन्न भागों में अनेक भाषाएँ— कश्मीरी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली, उड़िया, आसामी, उर्दू, तमिल, मलयालम, तेलुगू आदि बोली जाती हैं। भारत के विभिन्न राज्यों के निवासियों के खानपान, वेशभूषा तथा रहन-सहन आदि में भी आज भारी भेद दिखाई देगा। निश्चय ही इन विभिन्नताओं के कारण इस देश में राजनीतिक तथा राष्ट्रीय एकता सुलभ नहीं रहा। प्राचीन काल में भारत के विचारकों ने इस विभिन्नता में एकता स्थापित करने के लिए अनेक प्रयास किए। उनके इन प्रयत्नों का अध्ययन हमारे लिए आज भी उपयोगी है, क्योंकि अनेक विविधताओं के इस विशाल देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की समस्या आज भी हमारे समक्ष विकट रूप में उपस्थित है।

भारतीय संस्कृति की मौलिक तथा आधारभूत एकता के सूत्र— उपर्युक्त विभिन्नताओं पर कई पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत बल दिया है। भारत में मौलिक एकता एवं राष्ट्रीय चेतना का उन्होंने अभाव बतलाया है। यह सत्य है कि भारतीय जीवन में विविधता है, अनेकता है, तथापि भारतीय जन-जीवन के मूल में जो मूलभूत एकता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस एकता का मूल स्रोत भारतीय संस्कृति है। विभिन्नता में एकता भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र रहा है। भारतीय विचारकों ने बहुत प्राचीन काल से ही भारत की आधारभूत एकता की कल्पना की थी। उन्होंने सारे देशवासियों के लिए समान सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था का विधान किया था। उन्होंने जीवन व उसकी समस्याओं के प्रति समान दृष्टिकोण तथा सार्वभौम नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों की स्थापना की थी। देश की आधारभूत एकता को पुष्ट करने के लिए भारतीय आचार्यों ने संस्कृति की अखिल भारतीय परम्पराओं का विकास किया था। यही नहीं, उन्होंने ऐसी संस्थाओं तथा सूत्रों की भी रचना की थी, जिनके माध्यम से भारतीय संस्कृति की मौलिक एकता की यह चेतना निरन्तर पुष्ट हो सके। अब हम सांस्कृतिक एकता के इन सूत्रों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

(१) समान सामाजिक व्यवस्था—वर्णाश्रमधर्म—भारतीय आचार्यों ने सारे देशवासियों के लिए एक समान सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जिसे वर्णाश्रमधर्म कहा जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज में चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चार आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास का विधान है। यह व्यवस्था ही भारत के सामाजिक संगठन का मूल आधार बनी। प्राचीन धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित जन्म, चूड़ाकर्म,

उपनयन, विवाह, मृत्यु आदि संस्कार भी सारे देश में समानरूप से प्रचलित रहे हैं। सामाजिक उत्सवों तथा त्योहारों की भी सारे देश में समान परम्परा दिखाई पड़ती है।

(२) संस्कृत भाषा तथा साहित्य का सांस्कृतिक एकता में योगदान—प्राचीन काल से ही संस्कृत सारे देश की भाषा बन गई थी। यही पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारत की अनेक भाषाओं–हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, पंजाबी, मैथिली, बिहारी आदि, की जननी है। आधुनिक भारत की लगभग सभी भाषाओं के शब्द तथा व्याकरण संस्कृत से ग्रहण किए गए हैं। दक्षिण की भाषाओं–तमिल, तेलुगु तथा मलयालम पर भी संस्कृत व्याकरण तथा संस्कृत शब्दों का भारी प्रभाव है। संस्कृत के कवियों ने ऐसे सार्वदेशिक साहित्य की रचना की जो युगों से कश्मीर से कन्याकुमारी तक सारे देशवासियों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है। संस्कृत के साहित्यकारों की कल्पना किसी प्रदेश विशेष तक सीमित न रह कर समग्र भारतवर्ष का भव्य मानचित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। संस्कृत साहित्य मातृभूमि भारत के गौरवगान तथा वन्दना से भरा है। रामायण नामक महाकाव्य में मातृभूमि के उत्कट प्रेम की झलक मिलती है। राम कहते हैं कि—'हे लक्ष्मण! मुझे यह स्वर्ण की लंका अच्छी नहीं लगती, जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी महान् है।'[1] महाभारत तथा पुराणों के अनेक स्थल भारतवर्ष के प्रति उत्कट प्रेम की भावना से ओतप्रोत हैं। विष्णु पुराण में एक स्थान पर भारतवासियों को स्वर्ग के देवताओं से भी ऊँचा बताया गया है—"यह भारतभूमि धन्य है, जिसकी प्रशंसा के गीत देवता गाते हैं। यह भूमि स्वर्ग और अपवर्ग के समान बनी है, जिस पर देवता लोग भी मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं।"[2] भारतीय साहित्य में सारे देश की सांस्कृतिक एकता की चेतना ओतप्रोत है। विष्णु पुराण में एक स्थान पर कहा है—

"हिमालय पर्वत से दक्षिण में और समुद्र से उत्तर में स्थित यह भूमि भारतवर्ष है और यहाँ के निवासी भरत की सन्तान 'भारती' कहलाते हैं।" महाभारत के भीष्म पर्व[3] में भारत की एक राष्ट्रीय और भौगोलिक इकाई के रूप में कल्पना सुन्दर रूप में प्रकट हुई है। ओजस्वी शब्दों में भारत की

---

1. नेयं स्वर्णपुरी लङ्का रोचते मम लक्ष्मण।
   जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥
2. विष्णु पुराण ii, ३.२४
   गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
   स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
3. भीष्म पर्व, १०, ५–६

सांस्कृतिक परम्परा के सभी महापुरुषों—इन्द्र, वैवस्वत मनु, पृथु, इक्ष्वाकु, ययाति आदि, का स्मरण कर इस पुण्यभूमि भारतवर्ष को उन सभी का प्रिय देश बताया है। इस प्रकार संस्कृत भाषा तथा साहित्य भारतीय एकता की सांस्कृतिक चेतना के निर्माण का सबल माध्यम रहा है। आज भी इसे राष्ट्रीय एकता के निर्माण में इस माध्यम का प्रयोग करना है, क्योंकि भारत की आधुनिक भाषाओं का अधिकांश साहित्य संस्कृत के महाकाव्य रामायण, महाभारत आदि से लिए गए कथानकों पर आधारित है।

(३) धार्मिक एकता—प्राचीनकाल से ही इस विशाल देश के अधिकांश निवासी समान धर्म के अनुयायी रहे हैं। सभी हिन्दू धर्म के अनुयायी विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, गणेश आदि की देवताओं के रूप में पूजा करते रहे हैं। वे समान रूप से वेद, उपनिषद्, स्मृति, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि को धर्मशास्त्र के रूप में मानते हैं। सारे देश में रामायण, महाभारत, भागवत आदि धर्मग्रन्थों की कथाएँ श्रद्धापूर्वक सुनी जाती हैं। घर-घर में इन ग्रन्थों का नियमित पाठ या श्रवण भारतीयों में सांस्कृतिक एकता की भावना उत्पन्न करता है, क्योंकि इन ग्रन्थों के कथानक तथा विषय सार्वदेशिक (सारे देश से सम्बन्धित) हैं। सब हिन्दू गंगा, गायत्री और गौ को सारे देश में समान रूप से पवित्र मानते हैं और एक से धार्मिक अनुष्ठान करते हैं।

(४) तीर्थस्थल—देश में सांस्कृतिक एकता की चेतना जागृत करने वाली दूसरी कड़ी सारे देश में फैले हुए तीर्थस्थल हैं। महाभारत तथा पुराणों में सारे देश में फैले हुए तीर्थों का विस्तृत विवरण मिलता है। शास्त्रों में प्रत्येक हिन्दू के लिए तीर्थयात्रा करना आवश्यक बताया गया है। भारत के धर्माचार्यों ने देश की नदियों, सरोवरों, वनों तथा नगरों के इर्दगिर्द पवित्रता का ऐसा ताना बाना बुन दिया है कि ये सर्वदा देशवासियों के मन में देश की अखण्डता के प्रतीक बने रहे। स्नान करते समय प्रत्येक आदर्श हिन्दू यह प्रार्थना करता है—हे गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी नदियो ! तुम इस जल में निवास करो, जिसमें मैं स्नान कर रहा हूँ।[1] इस प्रकार भारत की सभी नदियों का प्रतिदिन स्मरण प्रत्येक हिन्दू के मन में यह भावना जागृत करता है कि यह सारा देश, जिसमें ये नदियां फैली हैं, पुण्यभूमि है और एक है। पर्वतराज हिमालय भी पावन माना गया है। हिमालय पर कैलाश, मानसरोवर और गंगोत्री जैसे कई पावन स्थल हैं। भारतीय साहित्य में पर्वतराज हिमालय को महादेव शिव का निवासस्थल तथा महादेवी पार्वती का पिता

---

1. गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिंधु कावेरी जले अस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

माना गया है। यह पर्वत भारत के संन्यासियों तथा ऋषि-मुनियों का क्रीडा-स्थल रहा है। यह भारतीय साहित्य और दर्शन का प्रेरणा-स्रोत रहा है।

भारतीय धर्मशास्त्रों में देश के उत्तर तथा दक्षिण में स्थित सात नगरी अत्यन्त पावन तथा मोक्ष प्रदान करने वाली मानी गयी हैं। ये हैं—अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी (वाराणसी), कांची (कांचीपुरम्—शिवकांची तथा विष्णुकांची दोनों), अवन्तिका (उज्जैन) और द्वारावती (द्वारिका)। भारत के प्रमुख तीर्थस्थलों में अपने चार मठ स्थापित कर शंकराचार्य ने देश की सांस्कृतिक एकता को दृढ बनाया। ये मठ देश के चारों कोनों में स्थापित किए गए—देश के पश्चिमी छोर पर द्वारिका में (काठियावाड़), पूर्वी छोर पर जगन्नाथपुरी में (उड़ीसा), हिमालय में बद्रीनारायण पर तथा दक्षिण में शृंगेरी में (मैसूर)। ये चारों मठ आज तक देश की बहुसंख्यक हिन्दू जनता की श्रद्धा के केन्द्र बने हुए हैं।

(५) निरन्तर भ्रमणशील सन्यासियों, आचार्यों, तीर्थ-यात्रियों तथा विद्यार्थियों का योग—यातायात के साधनों के अभाव में भी भारतीय सन्यासी, तीर्थ-यात्री धर्मोपदेशक आचार्य और विद्यार्थी निरन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण कर अपने उपदेशों तथा व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा संस्कृति की अखिल भारतीय परम्पराओं का विकास करते रहते थे। इस दिशा में महात्मा बुद्ध ने बौद्ध संघ का संगठन कर तथा देश में अनेक स्थानों पर बौद्ध-विहारों की स्थापना कर एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया था। भारत में बौद्ध संघ के पतन के बाद भी यह परम्परा नहीं टूटी। शंकराचार्य ने 'दशनामिन्' नामक संन्यासियों का एक नवीन संगठन स्थापित किया। इन सन्यासियों का कार्य था—निरन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए सारे देश में धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता की चेतना जागृत करना। भारत के अन्य सम्प्रदायों तथा मतों में भी इस प्रकार के सन्यासियों के संगठन रहे हैं।

तीर्थ-यात्री भी बद्रीनारायण से कन्याकुमारी तथा द्वारिका से जगन्नाथपुरी तक सारे देश की परिक्रमा करते थे। इसके फलस्वरूप देशवासियों में परस्पर सांस्कृतिक एकता की अनुभूति जागृत होती थी। प्राचीन काल में देश के विभिन्न प्रदेशों में तक्षशिला (पंजाब), नालन्दा (बिहार), विक्रमशिला (बिहार) आदि अखिल भारतीय ख्याति के विश्वविद्यालय थे जहाँ आचार्य (शिक्षक) तथा विद्यार्थी क्षेत्रीय भेद-भाव को भुलाकर सार्वदेशिक (अखिल भारतीय) संस्कृति के निर्माण में योग देते थे।

इस प्रकार धर्म तथा पूजा-पद्धतियों की समानता, जीवन व उसकी समस्याओं के प्रति समान दृष्टिकोण, संसार के प्रति समान दृष्टि, समान नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य, समान दार्शनिक मतों तथा आदर्शों के प्रति निष्ठा, समान धार्मिक ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा, कला एवं साहित्य की समान

परम्पराएं महत्वपूर्ण तत्त्व थे, जिन्होंने भारतीयों में सांस्कृतिक एकता की चेतना को दृढ़ बनाया।

(५) सैनिक एवं राजनीतिक विजेता—समय समय पर यहाँ के कई महापुरुष—चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि ने सांस्कृतिक एकता की नींव पर राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता भी स्थापित करने का सतत प्रयत्न किया है। हमारे राजनीतिक विचारकों तथा धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने पूर्ववैदिक काल से ही यहाँ के राजाओं के समक्ष सार्वभौम, चक्रवर्तिन् एवं सम्राट् के आदर्श रखे। शासकों को सम्राट् बनाने की प्रेरणा देने के लिए भारतीय विचारकों ने राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों की व्यवस्था की। कोई भी भारतीय राजा अश्वमेध यज्ञ करके सम्राट् पद का अधिकारी हो सकता था। महान् भारतीय विचारक सारे देश की एकता की कल्पना करते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के एक हजार योजन लम्बे सारे भारत को ही चक्रवर्ती-क्षेत्र बनाया है। सारे भारत की राजनीतिक एकता का यह स्वप्न प्रथम भारतीय मौर्य साम्राज्य की स्थापना के साथ साकार हुआ। परन्तु विधि का क्रूर विधान था कि यह एकता स्थायी सिद्ध न हो सकी।

भारतीय संस्कृति का विकास—

प्रागैतिहासिक काल—ऐतिहासिक काल से पूर्व की पूर्व-पाषाण तथा उत्तर-पाषाण काल की संस्कृति के अवशेष भारत में कई स्थानों पर, जैसे, सोन, नर्मदा, गोदावरी नदी-घाटियों में, मिले हैं। किन्तु उन्नत और विकसित भारतीय संस्कृति के प्रथम दर्शन हमें 'सिन्धु-घाटी सभ्यता' में ही होते हैं। सिन्धु-सभ्यता अत्यन्त उन्नत और समृद्ध नगर-सभ्यता थी। हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो, लोथल (गुजरात) तथा राजस्थान में की गई खुदाई में कई सुन्दर भवन, स्नानगृह, आभूषण, कलापूर्ण मूर्तियाँ, मिट्टी के सुन्दर बर्तन और मुहरें प्राप्त हुई हैं। ये सब वस्तुएं सिन्धु-सभ्यता के लोगों के उन्नत नागरिक जीवन को प्रकट करती हैं। नगर एक निश्चित योजना के अनुसार बसाए गये हैं। गन्दे पानी को निकालने के लिए सुन्दर नाली-व्यवस्था है। सिन्धु-सभ्यता की प्रधान कलाएं—मिट्टी के बर्तन, पत्थर की मूर्तियाँ, मुहरें तथा आभूषण बनाना है। मुहरों पर सिन्धु-कला अपने सर्वोच्च रूप में मिलती है। इन पर अंकित बैल, बाघ, भैंस आदि पशुओं के चित्र बहुत ही सजीव और यथार्थ हैं। इन मुहरों पर चित्रात्मक लिपि में कुछ अंकित भी है, किन्तु अभी तक उसे पढ़ा नहीं जा सका है। यह सभ्यता सम्पूर्ण बिलोचिस्तान, सिन्ध, पंजाब, काठियावाड़, राजस्थान तथा गंगा घाटी के कुछ अंशों तक फैली हुई थी। अधिकांश विद्वान् इस सभ्यता का जन्मदाता आर्येतर लोगों को, विशेषतया द्रविड़ों को, मानते हैं। इसका काल २५०० ई० पू० से ३००० ई० पू० के बीच माना जाता है। इस सभ्यता का अपनी समकालीन पश्चिम

एशिया की सुमेर, बेबीलोन तथा मिश्र आदि सभ्यताओं के साथ सम्पर्क था। सिन्धु-सभ्यता के लोग पशुपति शिव तथा मातृदेवी के उपासक थे।

कालान्तर में उत्तर पश्चिम की ओर से प्रवेश कर आर्यों ने सिन्धु सभ्यता के लोगों पर विजय प्राप्त की। विजेता आर्यों ने भारत में आर्य संस्कृति की स्थापना की, किन्तु देश की आर्येतर (आर्य से भिन्न) संस्कृति के अनेक तत्त्व उनकी संस्कृति में प्रवेश कर गए। आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के संगम के रोचक विषय का हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे।

वैदिक युग—(२००० ई० पू० से ६०० ई० पू०) पूर्व वैदिक या ऋग्वैदिक काल से भारतीय संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास मिलने लगता है। ऋग्वेद न केवल भारतीय साहित्य का बल्कि विश्व-साहित्य का भी प्राचीनतम ग्रन्थ है। विद्वान् इसका काल द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। ऋग्वेद काल में सप्तसिन्धु (पंजाब) प्रदेश आर्य संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। उत्तर वैदिक काल में (१२००—७०० ई० पू०) में तीन वेदों—यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों, आरण्यकों और मुख्य उपनिषदों की रचना हुई। सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर वैदिक काल अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसी काल में भारतीय संस्कृति के प्रमुख सिद्धान्तों तथा संस्थाओं की स्थापना हुई। समाज का चार वर्णों के सिद्धान्त पर संगठन हुआ। चार आश्रमों की व्यवस्था का भी इसी काल में विकास हुआ। प्रादेशिक आधार पर संगठित जनपद राज्यों का उदय इस युग की महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना है। ऐतरेय ब्राह्मण में विशाल साम्राज्य की कल्पना भी मिलती है। इस काल में आर्य संस्कृति का व्यापक प्रसार हुआ। आर्यों ने भारतीय चिन्तन में प्रवृत्ति (कर्म) प्रधान विचारधारा चलाई। भारतीय संस्कृति के विकास में आर्यों का प्रमुख योगदान है ज्ञान-विज्ञान का विकास, तपोवन पद्धति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, नारियों की प्रतिष्ठा, जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण और सहिष्णुता तथा सामञ्जस्य की भावना। किन्तु आर्यों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन संस्कृत भाषा और उसका विशाल साहित्य है।

इस काल की एक प्रमुख विशेषता आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों का संगम है। आर्यों की परम्परा प्रवृत्तिमूलक (कर्म प्रधान) थी, परन्तु धीरे-धीरे यहाँ की आर्येतर श्रमण विचारधारा का भी उसमें समावेश हो गया। इसके फलस्वरूप संसार-त्याग के आदर्श को उपनिषदों में मान्यता दी गई और संन्यास-आश्रम की प्रतिष्ठा हुई। निवृत्ति या संन्यास की विचारधारा का उपनिषदों के चिन्तन पर पर्याप्त प्रभाव है। उपनिषदों की ज्ञानमार्गी धारा उत्तर वैदिक युग की विशेष देन है। ब्रह्म और आत्मा का विचार और कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का विकास हुआ। भारत के दार्शनिक चिन्तन का उपनिषदों में चरम विकास दृष्टिगोचर होता है।

उत्तर वैदिक काल के अन्त में सूत्र-ग्रन्थों की रचना हुई। सूत्रकारों ने मानवों के पारिवारिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के लिए नियम बनाए और इस प्रकार हिन्दू समाज को एक व्यवस्थित रूप दिया जो आज तक विद्यमान है।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व की धार्मिक क्रान्ति—वैदिक धर्मों तथा कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप जैन और बौद्ध धर्मों का उदय हुआ। इन दोनों धर्मों का उत्तर भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में [illegible] थी। बौद्ध धर्म ने वैदिक संस्कृति पर व्यापक प्रभाव डाला। बौद्ध धर्म की देन है—मूर्ति-पूजा का प्रचार, मठ-व्यवस्था, बौद्धिक स्वतन्त्रता, [illegible] साहित्य का विकास और विदेशों में, विशेषतया [illegible], भारतीय संस्कृति का प्रसार। कला के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म की देन उल्लेखनीय है। बौद्ध कलाकृतियाँ—साँची, भारहुत और अमरावती के स्तूप, अशोक के स्तम्भ, मथुरा तथा सारनाथ आदि कला-केन्द्रों में निर्मित बुद्ध-प्रतिमाएँ और अजन्ता के भित्तिचित्र भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। शिक्षा और दर्शन के क्षेत्र में भी बौद्धों की महत्त्वपूर्ण देन है। जैनों ने भारतीय जीवन में अहिंसा का सर्वाधिक महत्त्व स्थापित किया। कला के क्षेत्र में भी उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा को, जिसमें जैन आगमों की उन्नति हुई, विकसित और समृद्ध बनाने का श्रेय जैनों को है।

नन्द-मौर्य युग—(लगभग छठी से तीसरी शताब्दी ई० पू०) बौद्ध युग में (छठी शताब्दी ई० पू० में) भारत में सोलह महाजनपद थे जिनमें कुछ राजतन्त्र थे तथा कुछ गणतन्त्र। इनमें परस्पर संघर्ष चलता रहा और अन्त में मगध का राज्य विजयी हुआ। नन्द वंश के राजाओं ने बहुत से प्रदेश जीतकर मगध का विशाल साम्राज्य स्थापित किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब और सिंध को यूनानी दासता से मुक्त किया और चाणक्य की सहायता से मगध के नन्द वंश को उखाड़ कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। मौर्य साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में ईरान की सीमा को तथा दक्षिण में मैसूर को छूता था। अखिल भारतीय राजनीतिक एकता का वह स्वप्न मौर्य साम्राज्य की स्थापना के साथ साकार हुआ, जिसे वैदिक काल से ऋषियों ने देखा था। मौर्य वंश ने अशोक के रूप में दूसरा महापुरुष भारत को दिया। अशोक ने रक्तपात और युद्ध की नीति को सर्वदा के लिए त्यागकर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा विश्वशान्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने उसे संयुक्त राष्ट्र संघ का अग्रवर्ती कहा है। उसने राज-शक्ति का मानवता की सेवा में प्रयोग किया और सच्चे लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना की। उसने विदेशों में बौद्ध धर्म तथा संस्कृति के प्रचार के लिए दूत भेजे। इससे भारत का बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित हुआ और उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र

में गौरव प्राप्त हुआ। मौर्यकाल भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विकास का उत्कर्ष काल है। इस युग में भारत ने सुदृढ़ राजनीतिक एकता तथा सुरक्षा का अनुभव किया और संस्कृति के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की। इस युग में राजनीतिक चिन्तन का उल्लेखनीय विकास हुआ। कौटिल्य या चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जो भारतीय राजनीति-शास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। कला के क्षेत्र में मौर्य-युग की देन अभूतपूर्व है। वास्तव में भारतीय कला का शृंखला-बद्ध इतिहास मौर्य युग से ही मिलता है। अशोक के स्तम्भ तथा उन पर निर्मित पशु-मूर्तियां भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं।

शुंग-सातवाहन-कुषाण युग (दूसरी शती ई० पू० से दूसरी शती ईस्वी तक)—मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर पश्चिम की ओर से क्रमशः यूनानी, शक, पह्लव तथा कुषाण नामक विदेशी आक्रमणकारी भारत में प्रविष्ट हुए और उन्होंने यहां अपने-अपने राज्य स्थापित किए। मौर्य युग में स्थापित देश की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई। यद्यपि मौर्यों के बाद देश में क्रमशः शुंग, कण्व तथा सातवाहन नामक ब्राह्मण वंशों का शासन रहा, तथापि इनमें से कोई भी राजवंश देश की राजनीतिक एकता पुनः स्थापित न कर सका। इस युग की महत्त्वपूर्ण घटनाएं थीं—(१) चीन तथा रोम साम्राज्य से सम्पर्क के फलस्वरूप विदेशी व्यापार की अभूतपूर्व वृद्धि और देश में महान् आर्थिक समृद्धि, (२) वैदिक धर्म एवं संस्कृति का पुनरुत्थान, (३) महायान बौद्ध धर्म का उदय तथा (४) विदेशों में भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रसार। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का हम विस्तार से वर्णन करेंगे।

वैदिक संस्कृति का पुनरुत्थान—मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और वैदिक धर्म तथा संस्कृति के पुनरुत्थान की लहर दौड़ गई। पुष्यमित्र शुंग ने वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की और अश्वमेध यज्ञ किए। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की इस लहर को शुङ्गों के बाद काण्व तथा सातवाहन-वंशीय राजाओं ने भी आगे बढ़ाया। वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान को तीसरी शती ईस्वी में भारशिव तथा वाकाटक वंशीय राजाओं से भी प्रोत्साहन मिला। चौथी और पांचवीं शती ईस्वी में गुप्तवंशीय सम्राटों के राज्याश्रय में वैदिक धर्म व संस्कृति के पुनरुत्थान की यह लहर अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँच गई। इस वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार की लहर के फलस्वरूप वैदिक धर्म के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म के स्थान पर भक्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दू धर्म का उदय हुआ। भक्ति-प्रधान वैष्णव, शैव आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ। लोक में प्रचलित विष्णु, शिव, उमा, दुर्गा, गणेश, हनुमान, स्कन्द आदि अनेक देवताओं का इस नवीन हिन्दू धर्म में प्रवेश हुआ। इस नवीन धर्म को लोकप्रिय बनाने

के उद्देश्य से रामायण और महाभारत के नवीन संस्करण तैयार किए गए। मनुस्मृति की रचना इस काल में हुई। इस युग में हिन्दू आचार्यों ने उदार नियम बनाकर भारत में आए हुए यवन, शक, कुषाण आदि विदेशियों को बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू समाज तथा धर्म में दीक्षित कर लिया। इस काल में हिन्दू दर्शन पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गए।

महायान बौद्धमत का उदय—उत्तर भारत में प्रथम शताब्दी ईस्वी में कनिष्क ने विशाल कुषाण-साम्राज्य स्थापित किया। कुषाणकाल में भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। महायान बौद्ध-धर्म का उदय हुआ, जिससे बौद्ध धर्म की सर्वसाधारण में लोकप्रियता बढ़ी। महात्मा बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों के निर्माण ने भारतीय मूर्तिकला को प्रोत्साहन दिया। पश्चिमोत्तर भारत में गान्धार-कला शैली का विकास हुआ। महायान बौद्ध धर्म तथा संस्कृति का मध्य एशिया तथा चीन में प्रचार हुआ। इसी काल में भारतीयों ने बाहर जाकर विदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित किए और इस तरह बृहत्तर भारत का निर्माण शुरू हुआ। इस काल में कम्बोडिया तथा चम्पा में हिन्दू उपनिवेश स्थापित किए गए।

भारतीय संस्कृति का स्वर्ण युग—गुप्त-युग—(३०० ई०–६०० ई०)

गुप्तयुग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग है। यूनान के इतिहास में जो स्थान पेरिक्लीज युग का है, रोम के इतिहास में जो स्थान आगस्टस-काल का है; भारत के इतिहास में वही स्थान गुप्तयुग का है। गुप्तयुग भारतीय संस्कृति के विकास का चरमोत्कर्ष काल है। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने फिर से अपनी विजयों द्वारा उत्तर भारत में राजनीतिक एकता स्थापित की। इस युग में भूमध्यसागर के देशों से तथा पूर्वी उपनिवेशों से भारत के व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। अतः देशवासियों ने महान् आर्थिक समृद्धि का अनुभव किया। गुप्तयुग में सर्वाङ्गीण विकास हुआ। भारतीय प्रतिभा संस्कृति के सभी क्षेत्रों में अपने उत्कृष्ट रूप में प्रकट हुई। संस्कृत साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। पुराणों का संकलन किया गया। बहुत से विद्वान् संस्कृत साहित्य के सबसे महान् कवि कालिदास को भी इस युग का मानते हैं। कला के क्षेत्र में इस युग में क्रांति हुई। विदेशी यूनानी प्रभाव को हटाकर भारतीय कला-प्रतिभा अपने विशुद्ध मौलिक रूप में प्रकट हुई। सारनाथ कला-केन्द्र की बुद्ध प्रतिमा तथा अजन्ता के भित्तिचित्र गुप्तकला के भव्य प्रतीक हैं। गणित के क्षेत्र में गुप्तयुग ने शून्य और दशमलव पद्धति के प्रयोग विश्व को दिए। गुप्तयुग के महान् वैज्ञानिक आर्यभट्ट ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त ढूंढ निकाला। उसने यह भी सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इस युग की वैज्ञानिक उन्नति का सुन्दर प्रमाण दिल्ली के पास मेहरौली में स्थि चन्द्र का लोह स्तम्भ है जिस पर डेढ़ हजार वर्ष बीत जाने पर भी अभी उ

का प्रसार नहीं हुआ है। विदेशो मे भारतीय सस्कृति का असाधारण विस्तार इस युग की अन्य महत्त्वपूर्ण घटना थी। दक्षिण पूर्वी एशिया के वर्मा, मलाया, स्याम, हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा और बोर्नियो मे हिन्दू संस्कृति का प्रसार हुआ। वैदिक धर्म तथा सस्कृति के पुनरुत्थान की लहर इस युग मे अपनी पराकाष्ठा पर पहुच गई। इस युग मे वैदिक धर्म का उस भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म मे विकास हुआ जो आज तक विद्यमान है।

पूर्व-मध्य युग (५५० ई०—१२०० ई०) गुप्त युग के बाद भारतीय सस्कृति का अवनति-काल शुरू हुआ। थानेश्वर के राजा हर्ष ने कुछ समय के लिए विघटन की प्रवृत्तियो को रोका। उसने विद्वानो को विशेष प्रोत्साहन दिया। हर्षचरित और कादम्बरी का रचयिता बाण उसके दरबार का रत्न था। हर्ष ने नालन्दा विश्वविद्यालय के विकास मे भी विशेष सहायता दी, परन्तु हर्ष की मृत्यु के बाद केन्द्रीय सत्ता के अभाव मे भारतीय संस्कृति का अपकर्ष तेजी से होने लगा।

देश के विभिन्न भागो मे चालुक्य, पाल, सेन, गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चन्देल, परमार, चौहान, पल्लव, पाण्ड्य चोल आदि राजवशो के राज्य स्थापित हुए। इसी काल को राजपूत-युग भी कहते हैं क्योकि इस काल मे अनेक राजपूत राजवशो का उदय हुआ। इस युग की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना सामन्तवाद का विकास है। इस काल मे हिन्दुओं की सहनशीलता और समन्वय शक्ति में कमी हुई। जाति-प्रथा की कठोरता कुछ बढी। मुस्लिम लेखक अलबेरुनी इस युग के हिन्दुओ की संकीर्ण मनोवृत्ति और मिथ्याभिमान का उल्लेख करता है।

इस युग मे बौद्ध धर्म का पतन प्रारम्भ हो गया और धीरे-धीरे यह पौराणिक हिन्दू धर्म मे समाता गया। बारहवीं शताब्दी मे आचार्य निम्बार्क, जयदेव और रामानुज ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को लोकप्रिय बनाया। दर्शन के क्षेत्र मे इस युग मे कुमारिल, शकर, रामानुज, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित जैसे दार्शनिक हुए। परन्तु इन दार्शनिकों के बाद भारतीय दर्शन मे नया और स्वतन्त्र चिन्तन बन्द हो गया और पडित लोग केवल पुराने ग्रन्थों पर ही टीका या भाष्य लिखते रहे। बौद्धिक क्षेत्र मे मौलिकता और खोज की प्रवृत्ति लुप्त होने लगी। इस काल से कवि लोग अलंकार-प्रधान शैली का प्रयोग करने लगे। माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्य इसके उदाहरण है। जैन विद्वानों द्वारा अपभ्रंश साहित्य का विकास इस काल की उल्लेखनीय घटना है।

कला के क्षेत्र मे इस युग मे रूढ़िवादिता और अश्लीलता की प्रधानता देखने को मिलती है। इस काल मे मन्दिरों की शिखर-शैली का विकास हुआ और खजुराहो, भुवनेश्वर आदि स्थानो पर बहुत से सुन्दर मन्दिर

...ले । दक्षिण भारत में चालुक्य, पल्लव तथा चोल राजवंशों के शासन में
...कला की विशेष उन्नति इस युग में हुई ।

इसी काल में इस्लाम का भारत में प्रवेश हुआ और राजनीतिक तथा सामाजिक दुर्बलता के कारण राजपूतों को तुर्कों के हाथ पराजय का मुँह देखना पड़ा ।

उत्तर मध्ययुग (१२०० ई०—१५०० ई०)—उत्तर भारत में तुर्क-अफगान शासन की स्थापना से उत्तर मध्ययुग प्रारम्भ होता है । दिल्ली पर क्रम से दास, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी वंशों का शासन स्थापित हुआ, किन्तु राजपूताना और दक्षिण भारत में कुछ हिन्दू राज्य स्वतन्त्र बने रहे । चौदहवीं सदी में दक्षिण भारत में मुस्लिम शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और दक्षिण में विजयनगर का हिन्दू साम्राज्य स्थापित हुआ । विजयनगर राज्य ने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति को संरक्षण दिया । राजनीतिक पराजय के इस काल में भारतीय जीवन की प्रगतिशीलता रुक गई और सभी क्षेत्रों में मौलिकता, नवीनता तथा दृष्टिकोण की उदारता लुप्त हो गई । मौलिक चिन्तन समाप्त हो गया । हिन्दू संस्कृति का अब इस्लाम से टकराव हुआ तो रक्षात्मक प्रवृत्ति के कारण हिन्दू समाज में संकीर्णता और रूढ़िवादिता अधिक बढ़ गई । जाति-बन्धन दृढ़ हो गए ।

मूलभूत धार्मिक और सामाजिक आदर्शों में भारी अन्तर के बावजूद हिन्दू और मुसलमान धीरे धीरे एक दूसरे के समीप आए । इस्लाम तथा हिन्दू संस्कृति ने परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया । इस्लाम के सूफी मत पर हिन्दू वेदान्त की गहरी छाप पड़ी । इस्लाम ने भी हिन्दू धर्म तथा समाज को प्रभावित किया । कबीर, नानक, दादू, नामदेव आदि सन्त इस्लाम से प्रभावित हुए और उन्होंने हिन्दू धर्म तथा समाज की बुराइयों के विरुद्ध आन्दोलन किया । इस काल में भक्ति-परम्परा का एक लोकप्रिय आन्दोलन के रूप में विकास हुआ । इस काल में भवन निर्माणकला तथा संगीत के क्षेत्र में हिन्दू और मुस्लिम शैलियों का समन्वय हुआ । इसके परिणामस्वरूप हिन्दू कला की अलंकारिता में कमी हुई और मुस्लिम कला की सादगी और कठोरता में कमी आई ।

मुगलकाल या उत्तर-मध्यकाल का द्वितीय चरण (१५२६ ई०—१७०० ई०)—महान् मुगल सम्राट् अकबर ने देश में राजनीतिक एकता की पुनः स्थापना की और हिन्दुओं के प्रति धर्म-सहिष्णुता और उदार नीति का पालन किया । मुगल दरबार संस्कृति का केन्द्र बन गया । भारत का मुगल काल में बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित हुआ । मध्य एशिया चीन, यूरोप तथा पूर्वी द्वीप समूह से व्यापार में वृद्धि हुई । भारतीय और मुस्लिम कला के संगम से एक नवीन कला-शैली का विकास हुआ । अकबर द्वारा फतेहपुर सीकरी में निर्मित भवन इस कला-शैली के सुन्दर उदाहरण हैं । मुगल काल

की कला के क्षेत्र में अनुपम देन है। ताजमहल, मोती मस्जिद, दीवाने खास, आदि भव्य इमारतें इसी काल में बनी। चित्रकला की भी उल्लेखनीय उन्नति हुई। मुगल काल में ही हिन्दुस्तानी या रेखता देश की अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनी और सोलहवीं सदी में इसी से उर्दू भाषा का जन्म हुआ। अकबरनामा आदि अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे गए। मुगल काल में युद्ध-कला के क्षेत्र में भारी उन्नति हुई। भक्ति-परम्परा के दो महान् साहित्यकार तुलसीदास और सूरदास इसी काल में हुए। हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं—बंगला, मराठी, गुजराती, की इस काल में अभिवृद्धि हुई।

मध्यकाल का अन्त और आधुनिक काल (१७५० ई० से)—अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई। भारत के अंग्रेजों के अधीन होने का एक प्रमुख कारण हमारे सांस्कृतिक जीवन का अपकर्ष था। अंग्रेजी शासन में भारत का बाहरी दुनियाँ से, विशेषतया योरोप से, सम्बन्ध स्थापित हुआ। सारे देश में एक भाषा (अंग्रेजी), समान शिक्षा-प्रणाली तथा समान शासन–पद्धति लागू की गई और इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता की भावना को बल मिला। पाश्चात्य शिक्षा और ज्ञान के प्रभाव से उन्नीसवीं शताब्दी में भारत ने आधुनिक युग में प्रवेश किया। पुनर्जागरण की लहर उठी। धर्म एवं समाज सुधार के अनेक आन्दोलन हुए। भारतीयों ने कुम्भकर्णी मोह-निद्रा को त्यागना शुरू किया। सारे देश में एक नई भावना और नई चेतना की लहर दौड़ गई। योरोप की वैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव भी देश पर पड़ा। जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति हुई। देश का आधुनीकरण प्रारम्भ हुआ। नई चेतना ने राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया और सारा देश महात्मा गांधी के नेतृत्व में आजादी को पाने के लिए संघर्ष में कूद पड़ा। भारत को १९४७ ई० में स्वाधीनता तो मिली परन्तु देश का विभाजन हो गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत के पराभव-काल में भी उसकी सामासिक संस्कृति की धारा अक्षुण्ण बनी रही। आज के भारतीयों के सामने यह भी एक समस्या है कि वे किस तरह अपनी सांस्कृतिक परम्परा को जीवित बनाए रखें। क्योंकि आज हमारे अधिकांश नेता और नवयुवक अपने सांस्कृतिक दायित्व के प्रति उपेक्षा बरतते हैं और पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण में संलग्न हैं।

2

मूलभूत धार्मिक विचार

प्रकृति की विविध शक्तियों की देवताओं के रूप में आराधना के साथ ऋग्वेद काल से धर्म का आरम्भ हुआ। धीरे धीरे आर्यों का धर्म से दर्शन की ओर विकास हुआ और उन्होंने मानव जीवन के प्रयोजन का प्रश्न के संदर्भ में अपना चिन्तन शुरू किया। बाह्य प्रकृति की आराधना से वे आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त हुए। उनके आध्यात्मिक चिन्तन का चरम विकास उपनिषदों में मिलता है। धर्म के सम्बन्ध में उपनिषदों में कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई, जैसे आत्मा की अमरता, ब्रह्म अथवा ईश्वर का अस्तित्व, मोक्ष, पुनर्जन्म, कर्मफलवाद। ये सिद्धान्त आज तक हिन्दुत्व के सर्वमान्य सिद्धान्त बने हुए हैं। नीचे हम इन सिद्धान्तों का संक्षेप में परिचय देंगे।

आत्मा, पुरुष, जीव :—लगभग सभी हिन्दू-दर्शन आत्मा को मानते हैं और आत्मा के आवागमन में भी विश्वास रखते हैं। मनुष्य के निहित तत्त्व की खोज करते करते भारतीय ऋषि ने 'आत्मा' को पाया। आत्मा व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है। आत्मा शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है। वह मन से भी भिन्न है। शरीर, मन और इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा रहती है। सर्वप्रथम उपनिषदों में आत्मा के सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन मिलता है। आत्मा शुद्ध, चेतन और नित्य है। आत्मा अमर है, सनातन है। आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा का शरीर से अटूट सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध हो जाना जन्म है और इसी सम्बन्ध का टूट जाना मृत्यु है। व्यक्ति जो कर्म करता है, उसके संस्कारों की पूर्ति आत्मा को ढोते हुए है। जब व्यक्ति ज्ञान और साधना से वासना और कर्म के प्रभावों को समाप्त कर देता है तो वह आत्मा के सही स्वरूप को जान जाता है। आत्मा अज्ञान की उपाधि होने पर जीव बन जाता है। जीव शरीर के द्वारा किये हुए कर्मों से बंधा होता है। केवल बौद्ध मत ऐसा है जो शाश्वत या नित्य आत्मा की सत्ता को नहीं मानता। हमारे मन में स्मृतियों और संस्कारों का जो प्रवाह है, उसे ही बुद्ध आत्मा का पर्याय मानते हैं। आत्मा से मिलती जुलती सांख्य और योग दर्शन में 'पुरुष' की कल्पना है। पुरुष प्रकृति के सभी तत्त्वों से भिन्न है। उसकी प्रमुख विशेषता चेतनता है।

ब्रह्म, ईश्वर :—प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की देवता के रूप में आराधना से वैदिक ऋषि सन्तुष्ट न हो सका। आगे चलकर सृष्टि के मूल

कारण को खोजते खोजते उसने 'ब्रह्म' के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म वह परम तत्त्व या सत्य है, जिससे समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है, जिससे उसकी स्थिति है, और जिसमें उसका लोप होता है। सत्, चित् (चैतन्य) और आनन्द ब्रह्म के लक्षण हैं और वह जगत् का कारण है। वेदान्त दर्शन के अनुसार केवल ब्रह्म ही परम सत्य है और जगत् मिथ्या है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद न मानने के कारण शंकर का यह मत 'अद्वैत वेदान्त' कहलाता है। वेदान्त के अन्य आचार्य रामानुज ने ब्रह्म को सगुण या साकार ईश्वर माना है और उसकी भक्ति को मोक्ष का साधन बताया है। रामानुज के अनुसार जीव और जगत् ये ईश्वर के दो प्रकार या विशेषण हैं। इसलिए रामानुज के मत को 'विशिष्टाद्वैत' कहा जाता है। योग-दर्शन में ईश्वर की भक्ति द्वारा समाधि की योजना है। परन्तु योग का ईश्वर सृष्टि का निर्माता नहीं, वरन् योगियों का मानसिक आदर्श है। वह मनुष्य के उच्चतम विकास का प्रतीक है।

अनीश्वरवादी मत :—जैन और बौद्ध मत अनीश्वरवादी माने जाते हैं, क्योंकि इनमें ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। सांख्य में भी ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। सांख्य-दर्शन में पुरुष की सत्ता को माना गया है परन्तु वह ईश्वर नहीं है।

साकार ईश्वर :—कालान्तर में निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर भक्ति-मार्ग के प्रवर्त्तक आचार्यों ने सगुण या साकार ईश्वर की प्रतिष्ठा की। यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म के स्थान पर भक्ति-प्रधान पौराणिक लोक-धर्म का प्रचलन हुआ। वैष्णव या भागवत तथा शैव आदि भक्ति-मार्गी सम्प्रदायों का जन्म हुआ। लोकप्रिय भागवत सम्प्रदाय का सर्वोच्च देव विष्णु बन गया और विष्णु के दस अवतारों की प्रतिष्ठा हुई—वराह, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। इन सभी अवतारों को ईश्वर का अंश माना गया। इस नये लोकधर्म का विकसित रूप स्मृति-साहित्य, रामायण, महाभारत और पुराणों में मिलता है। इस धर्म में त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु, महेश की क्रमशः सृष्टि के कर्त्ता, पालक और संहारक के रूप में प्रतिष्ठा हुई। इस नये हिन्दू धर्म में ईश्वर की कल्पना त्राता या रक्षक के रूप में की गयी।

कर्मफलवाद तथा पुनर्जन्म :—उपनिषदों में सर्वप्रथम कर्मफलवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों की स्पष्ट रूप से घोषणा की गई। हिन्दुओं के सभी दर्शन इन दोनों सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। बौद्ध तथा जैन मत ने भी इन दोनों सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। मनुष्य का जन्म इसलिए होता है कि उसमें वासनाएँ शेष हैं। इन वासनाओं के कारण मनुष्य अनेक कर्म करता है और अपने कर्मों के अनुसार

ही मर कर अच्छी या बुरी योनि मे जन्म लेता है। जिसने पूर्व जन्म में जैसे कर्म किए होते हैं, वह वैसा ही इस जन्म में बनता है—'अच्छे कर्मों से अच्छा और बुरे कर्मों से बुरा'। पूर्व जन्म के ज्ञान, कर्म और अनुभव आत्मा में संस्कारों के रूप मे संचित रहते हैं। यह आत्मा ही दूसरा शरीर धारण करती है। इस जन्म मे जीव जैसा कर्म करता है, जैसे संस्कार अर्जित करता है, वे संस्कार उसे नया जन्म ग्रहण करने को बाध्य करते हैं। इस प्रकार जन्म-मरण का प्रवाह चलता रहता है। इस जंजाल से निकलने का मार्ग मुक्ति या मोक्ष है।

मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य :—भारतीय दर्शन स्वभावतः मोक्ष-परक है। मोक्ष मानव-जीवन का सर्वोच्च सत्य है। भोगवाद का प्रचारक केवल चार्वाक-दर्शन भारत मे हुआ, परन्तु वह भारत मे मान्य नहीं हो सका। मोक्ष के विषय मे भारतीय दर्शनों मे कोई मतभेद नहीं है। सभी दर्शन इसे मानव जीवन के परम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार करते हैं। मोक्ष आवागमन से अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा है। मृत व्यक्ति के लिए अमरत्व की कल्पना की गई है। वैदिक दर्शन मे मोक्ष अमरत्व की वह अवस्था है जब आत्मा ब्रह्म या परमात्मा मे विलीन हो जाती है। ज्ञान तथा तप द्वारा आत्मा की ब्रह्म के साथ एकता की अनुभूति ही मोक्ष है।

बौद्धमत में मोक्ष को निर्वाण कहा गया है। निर्वाण वह अवस्था है, जिसमें जीव के अस्तित्व की पूर्ण रूप से समाप्ति हो गई हो। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था मे आत्मा सभी बंधनों से मुक्त हो अपने शुद्ध रूप मे आकाश की तरह निर्मल होता है। योग-दर्शन मे मुक्ति का नाम कैवल्य है। कैवल्य द्वारा पुरुष वह अमर स्वरूप प्राप्त करता है, जिसमे वह प्रकृति के बन्धन से मुक्त होता है।

कर्म एवं संन्यास अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति :—मोक्ष की प्राप्ति के लिए भारतीय विचारकों ने तीन मुख्य मार्ग बतलाए हैं—कर्म, ज्ञान, और भक्ति। इन तीनों मे कर्म (कर्मकाण्ड) पूर्णतः आर्यों की देन है।

कर्म—आर्यों ने भारतीय धार्मिक जीवन मे प्रवृत्ति की विचारधारा चलाई। वैदिक संहितायें तथा ब्राह्मण ग्रंथ प्रवृत्ति का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। प्रवृत्ति का अर्थ है आसक्ति या अनुरागपूर्वक किया हुआ कर्म। वेदों के कर्म-काण्ड मे कर्म का अर्थ यज्ञ माना गया है। वेद-कालीन आर्यों की यह मान्यता थी कि यज्ञ-कर्म से देवता प्रसन्न होते हैं और वे इस जीवन मे हर
के भोग तथा मरने पर स्वर्ग प्रदान करते हैं। आगे चलकर उपनिषदों
यज्ञ के स्थान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई। मोक्ष प्राप्ति के लिए संन्यास या
कर्मों का त्याग आवश्यक बताया गया। उपनिषदो मे कर्म का अर्थ व्यापक
गया। अब कर्म से अभिप्राय उन सभी कृत्यों से था जिनके कारण मनुष्य

को पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार उपनिषदों में कर्मफलवाद के सिद्धान्त की स्थापना हुई।

कर्म-संन्यास—कर्म के त्याग द्वारा मोक्ष पाने की योजना सर्वप्रथम उपनिषदों में मिलती है। उपनिषद् निवृत्ति का आदर्श रखते हैं। निवृत्ति का अर्थ है 'वैराग्यपूर्वक कर्मों का त्याग या सन्यास।' आर्यों के भारत में आने के पूर्व यहाँ निवृत्तिपरक श्रमण परम्परा विद्यमान थी। इस निवृत्तिमूलक विचारधारा का उपनिषद्-दर्शन तथा बौद्ध और जैन दर्शनों पर पर्याप्त प्रभाव है। जैन और बौद्ध मत मोक्ष के लिए श्रमण या संन्यासी होना आवश्यक मानते हैं। कर्म-त्याग या सन्यास के पक्ष में यह तर्क दिया गया कि कर्म करने वालों को मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिए मनुष्य को जन्म लेना ही पड़ता है। यदि कर्म न किए जायें तो मुक्ति आसानी से मिल जाती है। बौद्ध तथा जैन धर्मों ने भी सन्यास या कर्म के त्याग द्वारा मुक्ति पाने की योजना रखी। इस प्रकार कर्म-सन्यास अर्थात् कर्म न करने का सिद्धान्त प्रायः सर्वसम्मत होकर भारतीय संस्कृति में प्रतिष्ठा पा सका। परन्तु इस आदर्श के पालन से जीवन के उत्तरदायित्व की अवहेलना और सामाजिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा होती थी, जो समाज के लिए घातक था। अतः इस विचार में सुधार अपेक्षित था।

कर्म एवं संन्यास का समन्वय अथवा कर्मयोग—गीता में कर्मयोग के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की विचारधारा मिलती है। गीता कर्म और सन्यास की नई व्याख्या देकर दोनों विरोधी आदर्शों में समन्वय स्थापित करती है। गीता के अनुसार सारा जीवन ही कर्ममय है और सच्चा सन्यास 'कर्म का त्याग नहीं, कर्म के फल का त्याग है।' यही त्याग सम्भव है और श्रेयस्कर है। यदि फल के प्रति आसक्ति का त्याग कर दिया जाय तो कर्म बन्धन का कारण नहीं होता, अपितु वह मोक्ष का साधन बन जाता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कर्म-त्याग या संन्यास से कर्मयोग को श्रेष्ठ माना है।

ज्ञानयोग :—अनेक मतों ने ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना है। मोक्ष प्राप्ति के लिए उपनिषदों ने यज्ञ के स्थान पर ज्ञान-मार्ग की प्रतिष्ठा की। जैन और बौद्ध मत में भी मोक्ष के लिए काफी सीमा तक ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। उपनिषदों के अनुसार ज्ञान द्वारा आत्मा या ब्रह्म के नित्य तथा आनन्दमयस्वरूप की सच्ची अनुभूति हो जाने पर व्यक्ति जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है।

सांख्ययोग :—भारत में ज्ञान-मार्गी परम्परा का विकसित रूप सांख्य-दर्शन में मिलता है। सांख्य-दर्शन में दो मूल तत्त्व माने गये हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। प्रकृति जड़, सक्रिय और परिवर्तनशील है। इसके विपरीत पुरुष अविकारी, चेतन और

निष्क्रिय है। पुरुष शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि जो प्रकृति के विकार हैं, उनसे भिन्न है। वह न तो कर्म का कर्ता है, न भोक्ता। सृष्टि के सभी कर्म प्रकृति के तीन गुण—सत्व, रज और तम का परिणाम हैं। जब अज्ञानवश पुरुष प्रकृति के विकार बुद्धि और अहंकार से अपने को एक मानता है, तो वह अपने को कर्ता और भोक्ता समझने लगता है तथा बन्धन में पड़ जाता है। सांख्य के मत में ज्ञान द्वारा पुरुष अपने को प्रकृति और उसके विकारों से अलग समझे और स्वयं को कर्म का कर्ता या भोक्ता न माने। सांख्य-योग दर्शन में पुरुष की प्रकृति के बन्धन से मुक्ति ही मोक्ष है।

भक्ति-योग :—भक्ति के बीज सम्भवतः आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में मौजूद थे। पद्मपुराण में भक्ति की उत्पत्ति द्रविड़ देश में बताई गई है। पूजा शब्द भी द्रविड़ मूल का है, जिसका अर्थ है—पू=पुष्प तथा ज=कर्म अर्थात् पुष्प-कर्म या पुष्प चढ़ाना। ऋग्वेद के वरुण-स्तोत्र में भक्ति की भावना की झलक मिलती है। उपनिषदों में भी भक्ति के विचार यत्र-तत्र मिलते हैं। परन्तु भक्तियोग का वास्तविक विकास पौराणिक हिन्दुत्व की परम्परा में ही हुआ। गीता ने भक्ति-मार्ग को ईश्वर की प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन माना है। गीता में भक्तिपूर्वक ईश्वर को आत्मसमर्पण करने का उपदेश है। भक्ति का सांगोपांग विवेचन विष्णु, भागवत आदि पुराणों में मिलता है। भागवत या वैष्णव सम्प्रदाय भक्ति-प्रधान था। इस धर्म में वासुदेव कृष्ण की उपासना प्रचलित थी। गुप्त काल में विष्णु के दस अवतारों की पूजा का भी प्रचलन हो गया था। छठी से नवी शताब्दी के बीच दक्षिण में आलवार सन्तों ने भक्ति आन्दोलन का श्रीगणेश किया। यहीं से मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ होता है। आगे चलकर रामानुज, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य ने वैष्णव सम्प्रदाय की भक्ति-परम्परा को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया। इन आचार्यों ने यह मत रखा कि कर्म और ज्ञान केवल सहायक हो सकते हैं, परन्तु मुक्ति तो केवल भक्ति मार्ग से ही मिल सकती है।

वैदिक धर्म

वैदिक साहित्य का परिचय :— वेद शब्द 'विद्' जाने धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ ज्ञान हुआ। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन तथा अथर्ववेद सबसे बाद का है। वेद भारतीय धर्म और दर्शन के प्राण हैं। धर्म का विकास किस प्रकार हुआ, यह ज्ञान वेदों के अध्ययन से ही किया जा सकता है। वेद एक युग अथवा व्यक्ति की रचना नहीं, वरन् भिन्न-भिन्न कालों में अनेक ऋषियों द्वारा बनाए गए मंत्रों या ऋचाओं का संग्रह हैं। किसी देवता की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले शब्द मंत्र कहलाते हैं। वैदिक साहित्य को प्रायः चार भागों में बाटा जाता है—(१) संहिता, (२) ब्राह्मण, (३) आरण्यक और (४)

उपनिषद् । विषय की दृष्टि से वैदिक साहित्य के तीन विभाग हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकांड और ज्ञानकांड । संहिताओं तथा ब्राह्मणों में मुख्यतया यज्ञों से सम्बन्धित कर्मकाण्ड का वर्णन है । आरण्यकों की उपासना कांड के अन्तर्गत गिनती होती है । उपनिषदों का प्रधान विषय ज्ञान का विवेचन है ।

प्रकृति का दैवीकरण व धर्म का आरम्भ— प्रकृति के चमत्कारों को देखकर भावुक आर्यों के हृदय में अनुराग, विस्मय और भय की भावना का संचार हुआ । उन्होंने प्रकृति के समक्ष नतमस्तक होकर उसकी प्रमुख शक्तियों की सूर्य, वायु, पृथ्वी, अग्नि, वरुण आदि देवताओं के रूप में प्रतिष्ठा की । इस प्रकार प्रकृति के दैवीकरण के साथ आर्यों में धर्म का आरम्भ हुआ । देव शब्द दिव् धातु से बना है जिसका संबंध तेज और प्रकाश से है । इस प्रकार देवता तेजमय और प्रकाशवान तत्त्व के प्रतीक हैं । परन्तु यह उल्लेखनीय है कि आर्यों ने इन देवी-देवताओं की कल्पना मानवरूप में की । आर्यों का विश्वास था कि देवताओं का मानव-जगत् से गहरा सम्बन्ध है, वे स्तुति सुनकर प्रसन्न होते हैं और हमारी इच्छाएँ पूरी करते हैं ।

बहुदेववाद— प्रकृति के प्रत्येक रूप में एक देवता की कल्पना करने के कारण आर्यों के धर्म में बहुत से देवताओं की प्रतिष्ठा हो गई । ऋग्वेद में प्रमुख देवताओं की संख्या ३३ है । स्थान-विभाग की दृष्टि से उन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—(१) आकाश के देवता–मित्र, वरुण, द्यौस् (आकाश), आप् (जल), सूर्य, विष्णु, पूषन्, सविता, उषा, अश्विन् आदि (२) अन्तरिक्ष के देवता–इन्द्र, मरुत्, रुद्र, पर्जन्य आदि । (३) पृथ्वी के देवता–पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, सरस्वती आदि ।

ऋत की धारणा और वरुण— ऋग्वेद-काल के आर्यों का विश्वास था कि समस्त विश्व में तथा मानव-जीवन में नैतिक नियमों का शासन है । उनका यह विश्वास 'ऋत' की धारणा में प्रकट हुआ । 'ऋत' वह भौतिक तथा नैतिक व्यवस्था है जो समस्त विश्व तथा मानव-जीवन का संचालन करती है । वरुण देवता 'ऋत' का रक्षक या अधिष्ठाता है । वह सब कुछ देखने वाला (विश्वतश्चक्षु.), नियमों को धारण करने वाला (धृतव्रत) और श्रेष्ठ कर्मों को करनेवाला (सुक्रतु) है । वह सूर्य और चन्द्र-रूपी नेत्रों से रात-दिन मनुष्यों के कर्मों का निरीक्षण करता है । अच्छे कर्मों का शुभ फल देता है और पापियों को दण्ड देता है । ऋत की धारणा से ही आगे चलकर धर्म के इस विचार का विकास हुआ कि 'जो जगत् तथा लोक-जीवन को धारण करे वही धर्म है ।' (धारणाद्धर्ममित्याहु:)

यज्ञवाद— ऋग्वेद-काल के आर्य स्वाभाविक भक्ति भावना से अपने इष्ट देवता की स्तुति करते थे । यज्ञ या हवन का प्रचलन तो था परन्तु वह गौण था और उसका रूप साधारण था । परन्तु ऋग्वेद के बाद के ब्राह्मण-

काल में आर्यों की मनोवृत्ति संकीर्ण, भौतिक तथा प्रयोजनवादी बन गई। धार्मिक जीवन की पहले की सरलता लुप्त हो गई और देवताओं तथा मानव के बीच सम्बन्ध ने यांत्रिक लेन-देन का रूप ग्रहण कर लिया। ब्राह्मण-साहित्य में यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठान का विस्तृत विवेचन है। यज्ञ का उद्देश्य यज्ञकर्ता की समृद्धि, यश, विजय, स्वर्ग आदि की इच्छा पूरी करना है। ब्राह्मण-साहित्य में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है। यज्ञ की शक्ति और महत्त्व देवताओं से भी अधिक माना गया है। ब्राह्मण-युग में आर्यों की यह धारणा बन गई कि सांसारिक सुख, स्वर्ग आदि की प्राप्ति देवताओं की कृपा पर उतनी निर्भर नहीं है, जितनी पुरोहितों द्वारा ठीक ढंग से यज्ञ करने पर। इस विश्वास के कारण पुरोहितों का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अलग वर्ग बन गया। वे पृथ्वी के देवता बन गए। ब्राह्मण-युग का यह विश्वास कि 'यज्ञ स्वतन्त्र रूप से सब फल देने वाला है' आगे जाकर मीमांसा-दर्शन में पल्लवित हुआ।

जीवन का प्रयोजन या लक्ष्य—ऋग्वेद-कालीन आर्यों के जीवन में आनन्द और सहज उल्लास की भावना थी। वे संसार को असार मानकर उससे भागना नहीं, उसका भोग करना चाहते थे। उन्हें मोक्ष की चिन्ता न थी। ऋग्वेद में दुःखवाद या निराशावाद की कहीं गन्ध तक नहीं है। आर्यों को सांसारिक जीवन प्रिय था। उनकी धारणा थी कि इन सांसारिक सुखों की प्राप्ति देवताओं की कृपा से होती है। अतः वे स्तुति द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर उनसे दीर्घायु, स्वस्थ शरीर, आनन्द, समृद्धि, यश तथा विजय की याचना करते थे। 'हम सौ वर्षों तक जियें, हम सौ वर्षों तक ज्ञान को बढ़ाते रहें, हम सौ वर्षों तक पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें, हम सौ वर्ष तक आनन्दमय जीवन बितायें। ··· हम सौ वर्षों तक अदीन रहें–' ऋग्वेद इसी प्रकार की स्तुतियों से भरा है। ऋग्वेद में स्वर्ग की कल्पना मिलती है। परन्तु स्वर्ग की कल्पना भी इसी भाव से की गई है कि स्वर्ग में भी उन्हें वैसे ही सुख तथा भोग प्राप्त हों, जैसे इस लोक में मिले हुए हैं। ऋग्वेद में मोक्ष की स्पष्ट कल्पना नहीं मिलती।

बहुदेववाद ▮ एकेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद की ओर—ऋग्वेद-काल में आर्यों ने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की देवता के रूप में कल्पना की, जिसके फलस्वरूप उनमें बहुदेववाद की प्रतिष्ठा हुई। परन्तु धीरे-धीरे आर्य धर्म से दर्शन की ओर बढ़े और उनकी जिज्ञासा उन्हें एकेश्वरवाद की ओर ले चली। सर्वप्रथम आर्यों ने इन बहुत से देवताओं के प्रधान या स्वामी के रूप में एक देवता विशेष की कल्पना की। पहले विश्व के द्रष्टा और ऋत के रक्षक वरुण को आर्यों ने देवताओं में ---- माना। परन्तु कालान्तर में ज्यों ही आर्यों का आर्येतर दास, दस्युओं

से कठोर संघर्ष हुआ, उन्होंने वरुण के स्थान पर युद्ध के देवता इन्द्र को प्रधान देवता के रूप में मान्यता दी। आगे चलकर नैतिकता के विकास के साथ-साथ इन्द्र का महत्त्व घटा और विष्णु का गौरव बढ़ने लगा।

प्रावसरिक एकदेववाद—आर्य उपासना-काल में भिन्न-भिन्न देवताओं की परम-देवता के रूप में कल्पना कर लेते थे। जिस समय जिस देवता की स्तुति करते थे उसी को सर्वोच्च मान लेते थे। इस प्रवृत्ति को 'प्रावसरिक एकदेववाद' कहा जाता है। यह बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर प्रगति की दिशा में एक महत्वपूर्ण चरण था।

सृष्टि के रचयिता के रूप में 'प्रजापति' की कल्पना—वैदिक साहित्य में सृष्टि की रचना करने वाले परम देवता को हिरण्यगर्भ (स्वर्णिम आवरणमय गर्भ जिससे विश्व की उत्पत्ति हुई), विश्वकर्मन् (विश्व का कर्ता) और प्रजापति नामों से स्मरण किया गया है। यज्ञ का प्रतीक तथा प्रधान देवता होने के कारण 'प्रजापति' का महत्त्व ब्राह्मण काल में सर्वोच्च हो जाता है। ऋत के संरक्षक वरुण की प्रधान देवता के रूप में कल्पना और सृष्टि के रचयिता के रूप में प्रजापति की कल्पना एकेश्वरवाद के ईश्वर के बहुत निकट है।

एकेश्वरवाद—परन्तु आर्यों की जिज्ञासा सब देवताओं में एक प्रधान देवता की प्रतिष्ठा तक ही सीमित न रही। उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि के मूल तत्त्व को ढूंढने का प्रयास किया। देवता अनेक थे, परन्तु वह जगत् जिसके वे शासक थे, एक ही। अतः स्वभावतः ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि जब एक जगत् के शासक देवता अनेक हैं तो प्रकृति के नियमों में एकता कैसे हो सकती है? परन्तु प्रकृति के नियमों की एकता ऋत की धारणा में पहले ही प्रकट हो चुकी थी। अस्तु, यह विचार पैदा हुआ कि सभी देवता एक ही सत्ता के विभिन्न रूप हैं। यह विचार ऋग्वेद में सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है– "सत् एक ही है, परन्तु विद्वान् उसे 'अग्नि', 'यम', 'मातरिश्वा' आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।"[1] ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में बार बार यह कहा गया है कि 'विभिन्न देवताओं का महत् (सामर्थ्य) एक ही है, उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है'। इसी प्रकार ऋग्वेद में समस्त देवताओं के समष्टि रूप की 'विश्वेदेवाः' नाम से कल्पना की गई है।

सर्वेश्वरवाद—परन्तु वैदिक ऋषि इतनी खोज से ही सन्तुष्ट न [illegible]। उन्होंने साकार या व्यक्तित्वमय सर्वोच्च देवता की कल्पना से भी ऊपर उठकर सृष्टि के परम तत्त्व को जानना चाहा। परम तत्त्व की वैदिक

१. ऋग्वेद, १. १६४, ४६। एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

धारणा सर्वेश्वरवाद (Pantheism) और एकत्ववाद (Monism) इन दो रूपों में ऋग्वेद में प्रकट हुई। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में एकत्ववाद का सुन्दर विवेचन है—'एक ही मूल तत्व सृष्टि के आदि में था; उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई और वही मूलतत्व सृष्टि में व्याप्त और परिव्याप्त है'। सर्वेश्वरवाद का विचार ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुष-सूक्त में मिलता है—'सारे जगत् की उत्पत्ति एक विराट् पुरुष से हुई, जिसके हजार सिर तथा हजार चरण थे। उसके सिर से आकाश, नाभि से वायु, पैर से पृथ्वी, मस्तिष्क से चन्द्रमा, श्वास से हवा तथा नेत्रों से सूर्य उत्पन्न हुए। सारे जगत् का कारण भूत विराट् पुरुष है, जो सारे विश्व में व्याप्त है पर उसमें परिसमाप्त नहीं है'। इस विचार का चरम विकास आगे चलकर उपनिषदों के ब्रह्म के सिद्धान्त में देखने को मिलता है।

उपनिषदों का अध्यात्मवाद

उपनिषदों का परिचय–वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से बना है जिसका अर्थ है 'किसी के पास बैठना'। इससे अभिप्राय उस रहस्यपूर्ण-गूढ़ शिक्षा से है जो शिष्य गुरु के समीप बैठकर ग्रहण करता था। दूसरे शब्दों में उपनिषदों का अर्थ है अध्यात्म विद्या या ब्रह्म-विद्या। उपनिषद् भारतीय तत्वज्ञान का मूल स्रोत हैं। उपनिषदों की संख्या बहुत अधिक है। मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों के नाम गिनाए गये हैं। परन्तु प्रमुख उपनिषद् बारह हैं, जिनके नाम हैं–ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकी और श्वेताश्वतर। इन सभी पर शंकराचार्य का प्रामाणिक भाष्य है। इनमें से अधिकांश उपनिषदों का रचना काल सातवीं शताब्दी (ईस्वी पूर्व) से पहले का माना जाता है।

उपनिषदों का ज्ञानमार्ग–उपनिषदों के दर्शन या अध्यात्मवाद का जन्म ब्राह्मण-ग्रन्थों के यज्ञ तथा कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। उपनिषदों के ऋषियों ने कर्म के स्थान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा की। इनमें हमें ब्राह्मण-युग के यज्ञवाद की निन्दा भी मिलती है। मुण्डकोपनिषद् में यज्ञ की *टूटी नाव से तुलना की गई है और कहा गया है, कि जो लोग यज्ञ के द्वारा* पार होना चाहते हैं, वे मूढ़ हैं। उपनिषद् आर्य मस्तिष्क के धर्म से दर्शन की ओर झुकाव का परिणाम हैं। इनकी प्रवृत्ति उपासना से ध्यान की ओर, यज्ञ से चिन्तन की ओर तथा बाह्य प्रकृति की आराधना से अन्तरात्मा की खोज की ओर है'।

उपनिषदों का प्रमुख विषय दर्शन है। इनमें ब्रह्म, आत्मा, प्रकृति आदि के स्वरूप का गहन चिन्तन है। उपनिषदों में हमें भारत के दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन का चरम विकास मिलता है। हिन्दुत्व के सभी प्रमुख सिद्धान्त कर्म, माया, मुक्ति, पुनर्जन्म, आत्मा और ब्रह्म उपनिषदों में मूलरूप

में विद्यमान हैं। वेदों में ज्ञानमार्ग की जो बिखरी हुई बातें जहाँ-तहाँ थी, उन्हीं से आगे चलकर उपनिषदों का विकास हुआ। उपनिषदो मे जो गूढ़ चिंतन और विचार हैं उनका मूल ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे था। नासदीय सूक्त को लोकमान्य तिलक ने मानव की सबसे बड़ी स्वाधीन चिन्ता कहा है। इस सूक्त मे यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया था कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई और इसका स्वामी कौन है। इसी चिन्तन से उपनिषदों के दर्शन का विकास हुआ।

जीवन का प्रयोजन या लक्ष्य : मोक्ष—मानव-जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य का स्पष्ट परिचय उपनिषदों में पहली बार मिलता है। सांसारिक जीवन और भोगों की तुच्छता बतलाते हुए उपनिषद् पुनर्जन्म के चक्कर से बचने के लिए मोक्ष की योजना रखते हैं। उपनिषदों के अनुसार मानव-जीवन का लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष जन्म और मृत्यु के बन्धनों से छुटकारा है। मोक्ष के सुख के सामने यज्ञ आदि से प्राप्त होने वाले सांसारिक भोग तथा स्वर्ग का सुख तुच्छ हैं। मोक्ष परम शान्ति की अवस्था है। उपनिषदों से पूर्व आर्य सांसारिक भोगों के लिए बेचैन थे। परन्तु उपनिषदों ने पहली बार यह घोषणा की कि जीवन का वास्तविक आनन्द भोग मे नहीं त्याग मे है।

उपनिषदों के मानव मे सांसारिक सुखो को त्यागकर आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की ओर बढ़ने की उत्कट आतुरता देखने को मिलती है। वह ऐसी किसी चीज से तृप्त नहीं हो सकता जो उसे अमरता (अमृतत्व) प्राप्त न कराए। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद बड़ा रोचक है। जब ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी सारी सपत्ति को दो पत्नियों के बीच बाँटने का प्रस्ताव किया तो उनकी एक पत्नी मैत्रेयी ने पूछा—सम्पूर्ण पृथ्वी की सम्पत्ति मिल जाने पर क्या मैं अमर हो सकूंगी? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया– धन से सब प्रकार के सांसारिक सुख मिलेंगे परन्तु अमृतत्व या अमरता तो न मिल सकेगी। इस पर मैत्रेयी ने कहा 'किमहं तेन कुर्याम् येनाहं नामृता स्याम्'. ('उस वस्तु का मैं क्या करूँ जिससे मैं अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकती।) मुझे तो अमृतत्व प्राप्त करने का मार्ग बतलाइए'। मैत्रेयी के ये अमर शब्द उस युग की भावना के प्रतीक हैं। इसी प्रकार कठोपनिषद् का यम-नचिकेता संवाद भी उल्लेखनीय है। यमराज द्वारा अनेक प्रलोभन दिये जाने पर भी नचिकेता ने दृढ़तापूर्वक कहा– 'राज्य, ऐश्वर्य, यौवन और स्त्रियाँ ये सब नाशवान् हैं। ये सब मुझे नहीं चाहिए। मुझे आप ज्ञान का उपदेश दीजिए'। इस प्रकार उपनिषदों ने मुक्ति या अमृतत्व को मानव-जीवन का लक्ष्य बतलाया और आत्मा या ब्रह्म को परम ज्ञेय।

ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा मोक्ष-साधना:—उपनिषदों में परा विद्या या ब्रह्म-ज्ञान को सर्वोच्च माना गया है। मोक्ष अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा

पाने के लिए ब्रह्म या आत्मा का ज्ञान आवश्यक बताया गया है—'ब्रह्म को जानना ही एक मात्र सत्य है। जो पुरुष सभी प्राणियों में उसी ब्रह्म की सत्ता को देखते हैं, वे मरने के पश्चात् अमर हो जाते हैं'। सबसे बढ़कर है ब्रह्म की उपासना जिससे वह उपासक ब्रह्मवान् बन जाता है। मनुष्य को एक मात्र ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। ब्रह्म भाव का स्वरूप है– 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं स्वयं ब्रह्म हूँ'। ब्रह्म की इस रूप में उपासना करने से उपासक स्वयं ब्रह्म बन जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि 'हम ब्रह्म हैं' हमें केवल अपने इस ब्रह्म का साक्षात् अनुभव करना है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म ज्ञान का फल बताते हुए कहता है—'विद्वान् ब्रह्म को जानकर अमर बन जाते हैं। ब्रह्म को जानने वालों के सभी दुःख दूर हो जाते हैं'।[2] आत्मा या ब्रह्म को न जानने वाले व्यक्ति मरने के बाद प्रकाशरहित अन्धकार से ढके हुए लोक में जाते हैं। इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—'सभी इन्द्रियों को आत्मा में स्थापित करके मनुष्य ब्रह्मलोक में जा पहुँचता है। वहाँ से फिर उसे लौटना नहीं पड़ता'। ब्रह्म या आत्मा को जानने के लिए तप, ब्रह्मचर्य और वैराग्य का महत्त्व बताया गया है। 'केनोपनिषद् में कहा है—'तप से ब्रह्म को जानो। ब्रह्म तक नेत्र, वाणी, मन आदि नहीं पहुँच सकते'। 'आत्मा सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य से प्राप्त करने योग्य है। मानव-शरीर के भीतर प्रकाशमान निर्मल आत्मा है, उस आत्मा को दोषहीन मुनि ही देख पाते हैं'।[3] श्रवण मनन और निदिध्यासन (ध्यान) ब्रह्म ज्ञान के साधन माने गये हैं।

जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए वासना या इच्छा को नष्ट करना आवश्यक है। 'जो व्यक्ति कामनाओं से रहित है तथा इच्छाओं से परे है, वह ब्रह्म बन जाता है, चाहे वह इसी लोक में क्यों न जीवित रहे। इच्छाओं के मिटते ही मनुष्य अमृत हो जाता है, ब्रह्म का आनन्द भोगने लगता है। जिस प्रकार साँप केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार आत्मा शरीर को छोड़ देता है और स्वयं ब्रह्म बन जाता है'।[4]

ब्रह्म और आत्मा के विचार की खोज :—उपनिषद् का ऋषि यज्ञ से हट कर परम तत्त्व के चिन्तन की ओर प्रवृत्त हुआ। बाह्य प्रकृति की आराधना से वह अन्तरात्मा की खोज में लगा। वह ऋग्वेद के वरुण तथा इन्द्र

१. तैत्तिरीयोपनिषद् ३. १०. ३–४
२. बृहदारण्यक .४. ३. १४
३. केनोपनिषद् .२. ५.
४. बृहदारण्यक ४. ४. ६–७.

अथवा ब्राह्मणों के 'प्रजापति' की कल्पना से संतुष्ट न हो सका। उसने साकार परमेश्वर या व्यक्तित्वमय प्रधान देवता के विचार से भी ऊपर उठकर एक निराकार परम तत्त्व को ढूंढ निकाला, जिसका नाम ब्रह्म अथवा आत्मा है और जो सम्पूर्ण सत्ता की एकता का मूल है। जगत् के मूल कारण को खोजते-खोजते उपनिषद् के ऋषि को ब्रह्म का विचार मिला। ब्रह्म विश्व का कारण है जो जगत् के रूप में प्रकट होता है। वह सारे विश्व में व्याप्त नित्य तत्त्व है जो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। दूसरी ओर मनुष्य में अन्तर्निहित सत्य को ढूंढते-ढूंढते 'आत्मा' का ज्ञान हुआ। आत्मा शरीर, प्राण और इन्द्रियों से भिन्न है तथा मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। सारे जगत् का मूल तत्त्व और व्यक्ति का मूल तत्त्व भिन्न नहीं हो सकते। उपनिषदों के चिन्तन में सृष्टि का कारण ब्रह्म और मनुष्य का वास्तविक स्वरूप आत्मा दोनों एकाकार हो गये हैं।

ब्रह्म एवं आत्मा की एकता—उपनिषदों की निम्न उक्तियों में ब्रह्म और आत्मा की एकता का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है—'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं)। 'तत्त्वमसि' (तुम ही ब्रह्म हो)। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ही ब्रह्ममय है)। ब्रह्म और आत्मा दोनों की एकता का प्रतिपादन उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त है। उपनिषदों का सारा चिन्तन आत्मा और ब्रह्म की धुरी पर घूमता है। उपनिषदोंके इस ज्ञानको हम एक वाक्यमें इस तरह प्रकट कर सकते हैं—'ब्रह्म ही हमारी आत्मा है और वही सारे जगत् में व्याप्त है।' वस्तुतः यह ब्रह्म और आत्मा के रूप में वर्णित जीवन और जगत् की एकता का प्रतिपादन है। ब्रह्म और आत्मा का यह एकत्व चरम सत्य है और जीवन का परम लक्ष्य है।

आत्मा का स्वरूप—उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का सुन्दर विवेचन है। ऋग्वेद का पुरुष उपनिषदों में आत्मा बन गया है। कठोपनिषद् में नचिकेता के प्रश्न के उत्तर में यमराज ने आत्मा की अमरता का सुन्दर निरूपण किया है—'आत्मा नित्य वस्तु है, न यह कभी मरता है, न कभी अवस्था विकृत दोषों को प्राप्त होता है। वह विषय ग्रहण करने वाली सब इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से तथा इन प्राणों से पृथक् है।' छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—'आत्मा, जरा, मृत्यु, चिन्ता, पाप आदि से मुक्त है। उसकी इच्छाएं और विचार सत्य हैं। हमें इसी आत्मा की खोज करनी चाहिए। जो इस आत्मा को जान लेता है, उसे तीनों लोक प्राप्त हो जाते हैं, उसकी कोई कामना नहीं रहती। वह समग्र विश्व में व्याप्त है, वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतु ! वह तुम्ही हो (तत्त्वमसि)।' बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में आत्मा के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—'आत्मा का ही दर्शन,

श्रवण, मनन और ध्यान करना चाहिए। उसके दर्शन और विज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। मनुष्य के लिए संसार में जो कुछ प्रिय है, वह सारा का सारा आत्मा के लिए प्रिय होता है। पुत्र पुत्र के लिए प्रिय नहीं होता, वह आत्मा के लिए प्रिय होता है। जो कुछ है, वह सारा का सारा आत्म-प्रधान है। यह आत्मा अनन्त, अपार और विज्ञानमय है। इसके अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं है। जहाँ द्वैत (दो) होता है, वहाँ एक दूसरे को जान सकता है। *जहाँ दूसरा कुछ है ही नहीं, वहाँ क्या जाना जाय और कौन जानने* वाला है? ज्ञाता और ज्ञेय (जानने योग्य) तो वस्तुतः एक ही हैं।'[1] इसी उपनिषद् में अन्यत्र लिखा है—पुरुष के शरीर में आत्मा की ज्योति होती है। पुरुष आत्मा के प्रकाश से काम करता है। आत्मा विज्ञानमय है, महान् है, और अजन्मा है। आत्मा ही लोकों को धारण करता है। छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है—'आत्मा नाम और रूप से रहित है। वह ब्रह्म है, अमृत है।'[2]

ब्रह्म का स्वरूप—ब्रह्म क्या है—इस विषय पर उपनिषदों में विशद विवेचन है। ब्रह्म की सामान्य परिभाषा है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म अर्थात् सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म से सबकी उत्पत्ति होती है। उसी से सब का पोषण होता है। उसी में सबका विलय होता है। वह आत्म-रूप में हृदय में विराजमान है। वह सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वव्यापक आदि है। ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा अनन्तरूप है। वह विज्ञान और आनन्दरूप है। ब्रह्म ही सब वस्तुओं का आदिस्रोत है। उसी से सबका जन्म होता है, उसी में सब जीवित रहते हैं और उसी में सब लीन हो जाते हैं। उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए। सर्वव्यापी आत्मा या ब्रह्म को कोई देख नहीं सकता क्योंकि दृष्टि के द्रष्टा को कौन देख सकता है?

ब्रह्म अथवा आत्मा ही परम सत्य है। इसका स्वरूप सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) शब्द से स्पष्ट हो जाता है। सत् का अर्थ ब्रह्म अथवा आत्मा की नित्य सत्ता है। चित् का अर्थ चेतन है। आनन्द से तात्पर्य है कि वह ब्रह्म अथवा आत्मा आनन्दमय है। इसी ब्रह्म अथवा आत्मा के इस नित्य और आनन्दमय स्वरूप की सच्ची अनुभूति हो जाना ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार है।

संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जैसे दूध में मक्खन है, उसी प्रकार जगत् में ब्रह्म व्याप्त है। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र फैला हुआ है, ठीक उसी तरह ब्रह्म जगत् के कण-कण में व्याप्त है। जीव भी ब्रह्म स्वरूप है। उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा और शरीर के परस्पर सम्बन्ध को

---

१. बृहदारण्यक २०. २. ४
२. छान्दोग्य . ८. १४

आकाश और घड़े की सुन्दर उदाहरण द्वारा समझाया गया है। जब कुम्हार कोई घड़ा बनाता है तो सारी सृष्टि में व्याप्त आकाश का एक भाग उस घड़े में भी आ जाता है। घड़ा शरीर है और घड़े के भीतर व्याप्त आकाश आत्मा। जब घड़ा फूट जाता है तो उसमें बचा हुआ आकाश फिर बड़े आकाश में, जो सारे जगत् में व्याप्त है, मिल जाता है। इसी प्रकार जब शरीर टूट जाता है तो उसमें स्थित आत्मा यदि निर्मल है तो वह ब्रह्म में मिल जाती है। निर्मल आत्मा को पुनर्जन्म के बन्धन में नहीं पड़ना पड़ता।

सृष्टि-रचना—उपनिषदों में सृष्टि की रचना के विषय में भी विचार हुआ है। यह माना गया है कि सृष्टि पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन पंच भूतों से मिलकर बनी है। इन पांच तत्वों का स्वामी महत्तत्व है। इस महत्तत्व को उपनिषदों में कहीं तो ब्रह्म बताया गया है और कहीं प्रकृति का मूल तत्व। जिस प्रकार मकड़े के भीतर से जाली निकलकर चारों ओर फैल जाती है, उसी प्रकार यह महत्तत्व भी समय पाकर फैलने लगता है। महत्तत्व के इसी फैलाव को सृष्टि की रचना और विकास कहा गया है। जब यह महत्तत्व मकड़े की जाली की तरह सिमटने लगता है तब सृष्टि का विनाश या प्रलय हो जाती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थान पर जगत् की उत्पत्ति का सुन्दर वर्णन है—'जिस प्रकार मकड़ी अपने सूत्रों के सहारे बाहर जाती है, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा से सभी विश्व, सभी देवता, और सभी जीव निकलते हैं।

कर्म तथा पुनर्जन्म—कर्मवाद और उससे सम्बन्धित पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों की प्रमुख देन है। इसका भारतीय जीवन और विचार पर गहरा प्रभाव पड़ा है। कर्म का नियम ही जन्म-मरण और संसार का कारण है। किए हुए अच्छे या बुरे कर्मों का फल भोगने के लिए ही जीव दुबारा जन्म धारण करता है। पुनर्जन्म में सुख और दुःख सभी पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार होते हैं। पूर्व जन्म के कर्मों के फल भी कर्ता के साथ संस्कारों के रूप में जुड़े रहते हैं और वे पुनर्जन्म होने पर प्रकट होते हैं। जब तक कर्मों का फल पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाता, जन्म और मरण का चक्र चलता रहता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य ने मृत्यु तथा पुनर्जन्म का इस प्रकार वर्णन किया है—'आत्मा आँख, कान, नाक या शरीर के अन्य अवयवों से बाहर निकल जाती है। कहीं से भी आत्मा निकले, प्राण, इन्द्रियाँ और चेतना भी उसके पीछे पीछे चले जाते हैं। पूर्वजन्म के ज्ञान, कर्म और अनुभव चेतना में संचित रहते हैं। इसके बाद आत्मा दूसरा शरीर धारण करती है। जिसने पूर्व जन्म में, जैसे कर्म किए होते हैं, वह वैसा ही इस जन्म में बनता है'।

कर्मवाद का यह सिद्धान्त नियतिवाद से भिन्न है। क्योंकि इसके अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने कर्मों द्वारा अपने भविष्य का निर्माण करता है।

उपनिषदों में सदाचार की शिक्षा—तैत्तिरीय उपनिषद् में दीक्षांत उपदेश मिलता है, जो आज भी हमारे स्नातकों के लिए उपयोगी है। उपदेश इस प्रकार है-'सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में आलस्य न करो। सत्य बोलने में असावधानी न करो धर्म के पालन में प्रमाद न करो। माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता मानो। जो निन्दारहित कार्य हैं, उन्हीं को करो, दूसरों को नहीं।' उपनिषदों में त्याग के साथ सांसारिक सुख भोगने का उपदेश है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है—'यह सारा संसार और उसमे जो कुछ है, ईश्वर से व्याप्त है। अतएव त्याग के साथ भोग करो, किसी दूसरे के धन पर मत ललचाओ।' सत्य के महत्त्व की सार्वभौम घोषणा हमे मुण्डकोपनिषद् के इस महावाक्य में मिलती है—'सत्यमेव जयते नानृतम्, अर्थात् सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं'। 'सत्य के बल पर दुर्बल भी बलवान् को पराजित कर सकता है, अर्थात् धर्म या सत्य ही दुर्बल का सबसे बड़ा बल है'। यहाँ सत्य को धर्म का स्वरूप माना गया है और उसकी सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा की गई है। तत्कालीन मानव के नैतिकता तथा ज्ञान में अटूट विश्वास का परिचय उपनिषद् की नीचे लिखी प्रार्थना से होता है—'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय'। 'मुझे असत् से सत् की ओर, तम से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो'।[१]

उपनिषद् ज्ञान की महत्ता एवं प्रभाव—उपनिषदों में भारत के लगभग सभी दर्शन-सम्प्रदायों का मूल विद्यमान है। बौद्ध और जैन मत ने कर्म तथा जन्मान्तरवाद या पुनर्जन्म के सिद्धान्त उपनिषदों से ही ग्रहण किए। वेदान्त दर्शन का विकास उपनिषदों के सिद्धान्तों से ही हुआ। उपनिषदों का ही सार गीता में मिलता है जो हिन्दुओं का सर्वमान्य ग्रन्थ है। शंकर के वेदान्त दर्शन का मूल तो उपनिषदों में है ही, वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय—अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि भी उपनिषदों से ही विकसित हुए। उपनिषदों की शिक्षाओं का भारतीय जीवन तथा चिन्तन पर गहरा असर पड़ा है। उपनिषदों ने संन्यास और वैराग्य को मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक बताया था। उन्होंने घोषणा की थी कि जीवन का सच्चा सुख भोग में नहीं त्याग में है। उल्लेखनीय है कि सांसारिक सुखों के प्रति यह वैराग्य-भावना तथा भौतिक सुखों की नश्वरता में विश्वास भारतीय सांस्कृतिक चेतना की एक स्थायी प्रवृत्ति बन गई है।

उपनिषद् ज्ञान भारतीय जन-जीवन में अहिंसा और सहनशीलता की भावना के विकास में सहायक हुआ। उपनिषदों के इस ज्ञान की अनुभूति होने

१. बृहदारण्यक उ० १. ४. १४.

पर कि जड़ और चेतन सभी जगत् में ब्रह्म व्याप्त है, किसी जीव की हिंसा करना या किसी प्राणी को पीड़ा देना सम्भव न था।

उपनिषद्-ज्ञान का आज भी मानवता के लिए विशेष महत्व है। प्रो० विंटरनित्ज के अनुसार '१६ वीं शताब्दी में प्राप्त भारतीय उपनिषद्-ज्ञान संसार का सबसे बड़ा वरदान है।' जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार जैसे दार्शनिकों के सिद्धान्त भारतीय उपनिषद्-विद्या से अत्यधिक रूप में प्रभावित हैं। उपनिषदों के बारे में शोपेनहार की अमर उक्ति द्रष्टव्य है—'उपनिषद्-ज्ञान विश्व की विचार-धारा के पथ-प्रदर्शन के लिए एक ज्योति है। न केवल जीवन में मुझे उपनिषद्-ग्रन्थों के अध्ययन [illegible] शांति प्राप्त हुई, वरन् मृत्यु पर भी मुझे ये शांति प्रदान करेंगे।'

श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाएँ

गीता भारतीय धार्मिक और दार्शनिक साहित्य की अनमोल कृति है। वेदों और उपनिषदों की विचारधारा स्फटिक की तरह उज्ज्वल होकर गीता में प्रकट हुई है। गीता अध्यात्म-विद्या (ब्रह्म-ज्ञान) का अपूर्व ग्रन्थ है। यह उपनिषदों के ज्ञान का निचोड़ है। कर्मयोग के दर्शन का तो गीता अद्वितीय ग्रन्थ है। इसकी प्रशंसा में स्वर्गीय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ठीक ही कहा है—"विश्व के साहित्य में कर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का ऐसा रसपूर्ण ग्रन्थ कोई दूसरा उपलब्ध नहीं है, जिसमें गीता की तुलना की जा सके।"[1] गीता भारत के सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'महाभारत' के भीष्मपर्व का अंश है। इसके १८ अध्याय हैं। आरम्भ में तथा अंत में इसमें धृतराष्ट्र और संजय के संवाद रूप में कुछ श्लोक हैं, शेष में कृष्ण और अर्जुन का संवाद है।

महाभारत-युद्ध के अवसर पर जब अर्जुन ने युद्ध के लिए तत्पर अपने भाई-बन्धुओं को देखा तो उनकी हत्या की कल्पना से उसके मन में विषाद हुआ। उस प्रसंग में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अनमोल उपदेश देकर युद्ध के लिए तैयार किया। कृष्ण का यही दिव्य उपदेश भगवद्गीता में संकलित है। परम्परा के अनुसार गीता का उपदेश अर्जुन के मार्ग-दर्शन के लिए दिया गया, परन्तु वास्तव में गीता एक विश्व-दर्शन है। अर्जुन की तरह किंकर्तव्य-विमूढ़ [illegible] हरेक मनुष्य के लिए गीता का उपदेश कल्याणपथ का निर्देश है।

गीता का सार्वभौम धर्म—गीता से पूर्व मोक्ष का साधन यज्ञ और ज्ञान माने जाते थे। वेदों ने यज्ञों पर विशेष जोर दिया था और उपनिषदों ने ज्ञान तथा तपश्चर्या पर। इस प्रकार उपनिषदों ने मोक्ष के लिए सन्यास को भी आवश्यक बताया था। मोक्ष का अधिकार केवल द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्ण तक ही सीमित था। शूद्र आदि नीची जाति के लोगों को वेद तथा उपनिषद् पढ़ने की मनाही थी। गीता ने सर्वप्रथम शूद्र, अन्त्यज

---

१. भारत सावित्री, पृष्ठ १३६

आदि नीच जातियों तथा स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार दिया। गीता ने मोक्ष का द्वार सबके लिए खोल दिया।[1] यह बतलाया गया कि मोक्ष प्राप्ति के लिए तपस्या और संन्यास अनिवार्य नहीं, मनुष्य गृहस्थ में रहते हुए भी बिना आसक्ति के कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

संन्यास (निवृत्ति) और कर्म (प्रवृत्ति) का समन्वय—गीता में श्री कृष्ण ने उपनिषदों के वैराग्य और संन्यास को कर्मयोग का रूप देने की चेष्टा की है। उन्होंने वैराग्य और संन्यास की भावना का लोकजीवन के कर्तव्य और कर्म से सामंजस्य बैठाया है। वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषदों ने क्रम से प्रवृत्ति (कर्म) और निवृत्ति (संन्यास) के दो भिन्न आदर्शों की स्थापना की थी। 'प्रवृत्ति का अर्थ आसक्ति पूर्वक किया हुआ कर्म है और निवृत्ति का अर्थ है वैराग्यपूर्वक कर्मों का त्याग'।[1] ये दोनों ही आदर्श एकांगीय थे। प्रवृत्ति रूप कर्म के पीछे वासना होती है जो आत्मा को कर्म-बन्धन से जोड़ कर उसके बन्धन का कारण बनती है। इस प्रकार प्रवृत्ति-कर्म वर्तमान जन्म में अशान्ति का तथा जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के बन्धन का कारण होता है। निवृत्ति या संन्यास का आदर्श कर्मों के त्याग पर बल देता है। इस आदर्श के पालन से जीवन के कर्तव्यों तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना होती है, जो समाज के लिए घातक है। गीता में श्रीकृष्ण ने संन्यास की नई परिभाषा देकर प्रवृत्ति और निवृत्ति के परस्पर विरोधी आदर्शों के बीच समन्वय किया है जो लोक-कल्याण के लिए अत्यन्त हितकर है। श्रीकृष्ण के अनुसार सच्चा संन्यास 'कर्म का त्याग' नहीं, 'कर्म के फल का त्याग है'। यही गीता का निष्काम कर्मयोग है जिसके द्वारा प्रवृत्ति रूप कर्म स्वार्थ के निम्न धरातल से उठकर लोक-कल्याण का साधक बन सकता है। मोक्ष कर्म का त्याग करने मात्र से नहीं, वरन् कर्मफल की इच्छा और कर्तृत्व (मैं कर्ता हूँ) के अहंकार का त्याग करने पर ही मिल सकता है। निष्काम कर्म ही सच्चा संन्यास है जिसके द्वारा आत्मा शान्ति को प्राप्त कर सकती है।

गीता का उदार एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण:—गीता का दृष्टिकोण बड़ा उदार है। गीता भगवान् की प्राप्ति के लिए कोई एक विशिष्ट मार्ग नहीं बतलाती। वह मोक्ष प्राप्ति के लिए सभी मार्गों को स्वीकार करती है। 'भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—'जो मुझे जिस तरह से भजता है, उसको मैं उसी तरह से फल देता हूँ'। मनुष्य किसी भी मार्ग का अनुसरण करे वह भगवान् का ही मार्ग है।'[2]

गीता में मुख्यतः तीन योगों की समीक्षा की गई है, जैसे कर्म, ज्ञान और भक्ति। व्यक्ति अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार इनमें से किसी का भी

१. गीता, ९.३२
२. गीता, ४–११

सहारा ले सकता है। गीता का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। वह एक मार्ग की निन्दा और दूसरे मार्ग की प्रशंसा नहीं करती।

कर्मयोग—कर्मयोग का सर्वप्रथम स्पष्ट विवेचन गीता में मिलता है। गीता का आरम्भ ही कर्मयोग से हुआ है। विरक्त अर्जुन को कर्म के लिये प्रेरित करने के लिए गीता का उपदेश दिया गया था। कर्तव्य कर्म का पालन करते रहना और अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के फल की इच्छा न रखना ही कर्मयोग है। कर्तृत्व (मैं कर्ता हूँ) के अहंकार और कर्म-फल की कामना का त्याग इस कर्मयोग का अनिवार्य अंग है। कामना-रहित कर्म होने के कारण कर्मयोग को निष्काम कर्म-योग भी कहते हैं। कामना का अभिप्राय आसक्ति है, अतः निष्काम कर्मयोग को अनासक्ति-योग भी कहा गया है। कर्मयोग का सार गीता के निम्न श्लोक में मिलता है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥[1]

अर्थात् 'कर्म पर ही तुम्हारा अधिकार है, कर्मफल पर नहीं। अतएव तुम कर्म के हेतु बन सकते हो, कर्मफल के हेतु नहीं बन सकते। कर्म नहीं करने का भाव भी मन में मत लाओ'। गीता के ये शब्द कर्मयोग के दर्शन के आधार हैं। प्राप्त कर्तव्य को बिना आसक्ति के अच्छी तरह करना यही कर्मयोग का स्वरूप है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय सबको समान समझकर किया हुआ कर्म निष्काम कर्म कहलाता है। फल की आसक्ति का त्याग ही सच्चा कर्मयोग है। यदि फल के प्रति आसक्ति न रखी जाय तो कर्म बंधन का कारण नहीं होता, वरन् वह मोक्ष का साधन बन जाता है'।

कर्तृत्व के अहंकार का अभाव—कर्मों में आसक्ति को त्यागने के लिए अहंकार का हटना जरूरी है। यह तभी हो सकेगा जब मनुष्य यह समझे कि 'मैं कर्म का कर्ता नहीं हूँ।' सब कर्म प्रकृति के सत्व, रज, तम नामक तीन गुणों के परिणाम हैं। ऐसा समझ लेने पर अपने आपको कर्ता मानने का मोह छूट जायगा। यही कर्मयोग है। जो ज्ञानी पुरुष स्वयं को कर्ता न मानते हुए कर्मफल से अपना मन हटाये रहते हैं, वे कर्म करते हुए भी कर्मों में लिप्त नहीं होते और मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। गीता में सच्चे कर्मयोगी की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो मैं या मेरा नहीं करता, कार्य में सफलता मिले या असफलता-मन में विचार नहीं लाता, वही सात्विक कर्ता है।[2]

कर्मयोग मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ मार्ग—अर्जुन के यह पूछने पर कि संन्यास और कर्मयोग दोनों में कौनसा मार्ग ठीक है, कृष्ण ने कहा कि कर्मों का

१. गीता, २-४७
२. गीता, १८, २६।

निवास करने वाली आत्मा का नहीं। आत्मा नित्य होता है, अग्नि उसे जला नहीं सकती, जल उसे गीला नहीं कर सकता और वायु भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती है। आत्मा न कभी जन्म लेता है, न मरता है, क्योंकि वह अजन्मा, नित्य और सनातन है। आत्मा देश और काल के वशीभूत नहीं होता। इसकी सत्ता सर्वत्र है। यह अव्यक्त और विकार रहित है।'[1] आत्मा का यह स्वरूप समझ पाते ही मनुष्य के सब दुःख दूर हो जाते हैं।

परा, अपरा प्रकृति का भेद और स्वरूप—गीता में सृष्टि की रचना को बहुत सरल ढंग से समझाया गया है। सारे संसार में तीन प्रकार की रचना है—(१) अपरा प्रकृति, (२) परा प्रकृति, (३) ईश्वर।

(१) अपरा प्रकृति—पांच भूत-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, मन, अहंकार और बुद्धि ये आठ तत्त्व अपरा प्रकृति का स्वरूप हैं। अपरा प्रकृति भौतिक, अचेतन और जड़ है। इसको गीता में क्षर भी कहा गया है। (२) परा प्रकृति—परा प्रकृति जीव है जो चेतन तत्त्व है। उसे अपरा प्रकृति-रूप शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जीव को शरीरी भी कहते हैं। यह जीव या परा प्रकृति ही जगत् को धारण करती है। इसे अव्यय अक्षर भी कहा गया है। (३) ईश्वर—परा और अपरा प्रकृति इन दोनों से ऊपर ईश्वर तत्त्व है। वास्तव में ईश्वर का ही अंश जीव है, जो अपरा प्रकृति-रूप शरीर को धारण करता है। ईश्वर को गीता में अव्यय पुरुष,पुरुषोत्तम तथा अज भी कहा गया है। जीव के लिए उचित यही है कि वह प्रकृति के प्रलोभनों से ऊपर उठकर अव्यय पुरुष या पुरुषोत्तम ईश्वर का अनुभव करे। यह पुरुषोत्तम ही ज्ञेय या जानने योग्य है। उसी को अनादि ब्रह्म भी कहते हैं।

ज्ञानयोग द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार—ज्ञानयोग ईश्वर की सत्ता को पहचानने का उत्तम साधन है। ज्ञानयोग की दृष्टि से यह अनुभव किया जाता है कि सब कुछ ईश्वर की सृष्टि है और वह स्वयं सब में है। इस तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के बाद मनुष्य का मोह खत्म हो जाता है और वह आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करता है। ज्ञान-रूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है और किए हुए कर्मों का शुभ या अशुभ फल ज्ञानी को नहीं भोगना पड़ता। एक बार तत्त्व ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी सदा के लिए मुक्त हो जाता है। परन्तु निष्काम कर्मयोग की साधना किए बिना यह तत्त्व ज्ञान संभव नहीं है।

भक्तियोग—गीता में भक्तियोग को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। गीता भागवत संप्रदाय का सर्वमान्य ग्रंथ है। भक्ति का लक्षण बताते हुए गीता कहती है कि भक्त को चाहिये अपने सब कर्मों का अर्पण भगवान को

१. गीता, अध्याय २. १६—२३

करते और मन, चित्त और बुद्धि से निरन्तर भगवान का ही ध्यान करे। आदर्श भक्त के लक्षण श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार बताए हैं—'जो एकाग्रचित्त होकर श्रद्धासहित मेरी उपासना करता है, उसी को मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं। जो सत्परायण व्यक्ति अनन्य भक्ति भाव से मुझे पूजता है, उसे मैं जरामरण से मुक्त कर देता हूँ। सन्तुष्ट, अप्रमादी, दृढ़निश्चयी, क्षमाशील और जितेन्द्रिय भक्त मुझे परम प्रिय है।'

गीता के अन्तिम अध्याय में श्रीकृष्ण ने भक्त तथा परा भक्ति के सम्बन्ध में बतलाया है—'विशुद्ध प्रज्ञा (बुद्धि) से युक्त व्यक्ति ब्रह्म में स्थित होता है, उसे किसी भी चीज की कामना नहीं रह जाती। ऐसा समदर्शी ज्ञानी पुरुष सब प्राणियों मे मेरे दर्शन करता है—यही परा भक्ति है। इस परा भक्ति के बल पर ही मनुष्य मेरे सच्चिदानन्द एवं सर्वव्यापक स्वरूप को ठीक तरह जान पाता है। और अन्त में वह परम प्रिय भक्त मेरे अन्दर समा जाता है।'

ईश्वर-शरणागति—अठारहवें अध्याय मे श्रीकृष्ण भक्त के लिए ईश्वर की शरणागति प्राप्त करने पर बल देते हैं। वे अर्जुन से कहते हैं—'अर्जुन ! मन को मुझ मे लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे ही प्रणाम करो तो तुम मेरे समीप आ जाओगे। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। सब कर्मों को छोड़कर केवल मात्र मेरी ही शरण में आओ। मैं सब पापों से तुम्हारी रक्षा करूंगा। शोक मत करो।'[1] गीता मे भगवान् के ये शब्द भक्ति का आधार हैं। यही वैष्णव धर्म का मूल मन्त्र है। एकाग्रचित्त होकर भगवान् को आत्मसमर्पण किए बिना कोई साधना सफल नहीं हो सकती, यही गीता की शिक्षा है। नित्यप्रति भक्तिपूर्वक भगवान् का भजन करने से आत्मा मे शुद्ध बुद्धि उत्पन्न होती है। सर्वव्यापी, अन्तर्यामी भगवान् की शरण में जाने से व्यक्ति को शाश्वत पद मिलता है। भक्ति भाव सहित एकमात्र भगवान् पर निर्भर रहने के सिवाय जीव की कोई अन्य गति नहीं है।

गीता के बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने भक्ति-साधना के कई मार्ग बतलाए हैं—(१) अभ्यास द्वारा चित्त को ईश्वर में स्थिर किया जाय, (२) यदि चित्त की एकाग्रता न हो सके तो दूसरा उपाय यह है कि जो कुछ कर्म मनुष्य करे, उसे ईश्वर पर छोड़ दे। इस प्रकार भी ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। (३) यदि यह भी न किया जा सके तो जो कुछ कर्म किए जावें उनके फल का त्याग करना सीखे।

यद्यपि गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग तीनों को ही मोक्ष का साधन माना गया है, परन्तु भक्तियोग को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

---

१. गीता. १८. ६६

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

संन्यास और कर्मयोग दोनों का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म-साक्षात्कार ही है और ईश्वर की अनन्य भक्ति से बढ़कर उसका कोई दूसरा उपाय नहीं है। गीता कर्मयोग और भक्तियोग का समन्वय कर यह उपदेश देती है—'अपने चित्त से सब कर्मों के फल को भगवान् को अर्पण करके अपने मन को ईश्वरमय बनाओ।'

पूर्ण मानव का आदर्श—गीता के दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने 'स्थितप्रज्ञ' मानव का आदर्श रखा है। स्थितप्रज्ञ एक पूर्णमानव है, जिसके निम्न लक्षण हैं—'जो व्यक्ति मन में स्थित सारी कामनाओं को त्याग देता है और आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट रहता है, जो दुःख से उद्विग्न नहीं होता और जो सुख की इच्छा नहीं करता, जो राग, भय और क्रोध से सर्वथा मुक्त है, जो शुभ अथवा अशुभ वस्तुओं के प्राप्त होने पर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, जो पूरी तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में किए हुए है, वह स्थितप्रज्ञ है अर्थात् उसकी बुद्धि स्थिर होती है।'[1] दूसरे स्थान पर गीता में आदर्श भक्त के लक्षण बताए गए हैं, जो महामानव की कल्पना के अनुरूप हैं। वह भक्त भगवान् कृष्ण को परम प्रिय है, जो किसी प्राणी से वैर नहीं करता, सबके प्रति मैत्री की भावना रखता है, अपने या पराये के साथ ममता या द्वेष नहीं रखता, दुःख और सुख को एक समान मानता है; मन, कर्म और व्यवहार से पवित्र और शुद्ध है; हर्ष द्वेष, शोक और इच्छा से मुक्त है; शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीत और उष्ण, सुख और दुःख इन सब को एक समान मानता है; जो संयमी क्षमाशील तथा दृढ़निश्चयी है और निन्दा तथा स्तुति को समान समझता है और जो अपने मन और बुद्धि को ईश्वर के अर्पण कर देता है।[2] दैवी संपद् के लक्षणों के अन्तर्गत भी गीता में इन्हीं गुणों का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः ये सब लक्षण एक आदर्श तथा परिपूर्ण मानव के हैं। ऐसा चरित्रवान् व्यक्ति वास्तव में समाज के लिए बड़ी निधि है।

पूर्ण समता का भाव—गीता में समत्वबुद्धि या पूर्ण समता के भाव की शिक्षा दी गई है। क्योंकि सब प्राणियों में एक ही ईश्वर व्याप्त है, अतः सब को समान समझना चाहिए। ज्ञानी लोग विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, हाथी में, गाय में, कुत्ते में और चाण्डाल में समान दृष्टि रखने वाले होते हैं।[3] दूसरे स्थान पर गीता में कहा है—'जो अपने समान सुख-दुःख में सबको एकसा समझता है अर्थात् जिस चीज से मुझको सुख

१. गीता, २. ५४-६१
२. गीता, १२.
३. गीता, ५. १८

होगा, उससे दूसरे को भी सुख होगा और जिससे मुझे दुःख होगा, उससे दूसरे को भी दुःख होगा, वही परम योगी है' ।[१]

गीता की शिक्षा का आधुनिक मानव के लिए महत्व—गीता एक विश्व-दर्शन है । उसकी शिक्षाएँ अर्जुन की तरह किंकर्तव्य-विमूढ़ हुए प्रत्येक मानव के लिए मार्गदर्शक है । गीता द्वारा प्रतिपादित निष्काम कर्म योग का सन्देश आज के मानव के लिए अत्यन्त उपयोगी है । फल की आसक्ति के त्याग द्वारा ही कर्म स्वार्थ के धरातल से ऊपर उठकर लोक-कल्याण का साधन बन सकता है ।

जैन एवं बौद्ध धर्म का उदय

ईसा से पूर्व छठी शताब्दी भारत के ही नहीं, सारे विश्व के इतिहास मे बौद्धिक तथा धार्मिक क्रान्ति का युग था । चारों ओर मानव-जिज्ञासा सत्य को जानने और जीवन के रहस्य का उद्घाटन करने में प्रवृत्त थी । बौद्धिक तथा धार्मिक चेतना की इस विश्वव्यापी लहर के फलस्वरूप ससार के अनेक देशों मे युग-प्रवर्तक महापुरुष पैदा हुए और नवीन धर्म तथा दर्शनों की प्रतिष्ठा हुई । चीन मे कनफ्यूशियस तथा लाओत्जे, ईरान मे जरथुस्त्र तथा यूनान मे पाइथागोरस पैदा हुए । भारत मे इस बौद्धिक और धार्मिक क्रान्ति के नेता थे—बुद्ध और महावीर । बुद्ध ने बौद्धमत की स्थापना की और महावीर ने जैन मत को व्यवस्थित रूप दिया ।

धार्मिक पृष्ठभूमि—वैदिक धर्म जन साधारण की धार्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति न कर सका था । ब्राह्मण ग्रन्थों मे एक ओर तो जटिल कर्मकाण्ड तथा यज्ञों का विधान था तथा दूसरी ओर उपनिषदों मे दर्शन के रहस्यवाद की प्रधानता थी । अपढ़ जनता इस प्रकार आध्यात्मिक रूप से घोर सकट मे थी । ऐसी स्थिति मे बुद्ध तथा महावीर ने सबके लिए सरल एव सुबोध धर्म का उद्देश्य देकर समय की माग को पूरा किया ।

सामाजिक पृष्ठभूमि—जैन एव बौद्ध मत केवल नैतिक या धार्मिक आन्दोलन ही नही, सामाजिक आन्दोलन भी थे । इन धर्मों के उदय से पूर्व जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था की प्रतिष्ठा थी । पुरोहितों की प्रधानता थी । शूद्रों तथा नीची जाति के लोगो को वेद पढ़ने या यज्ञ करने का अधिकार न था । बुद्ध तथा महावीर ने जन्म पर आधारित वर्णव्यवस्था का खण्डन किया और सब की समानता की घोषणा की । बिना किसी ऊँच-नीच के भेदभाव के बौद्ध और जैन धर्म का द्वार सबके लिए खोल दिया गया । बौद्ध धर्म ने नारी को भी सघ मे सम्मिलित होने तथा अपना आध्यात्मिक विकास करने का पूर्ण अधिकार प्रदान किया ।

---

१. गीता, ६-३२ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं सयोगी परमो मतः ॥

वैदिक परम्परा के विरुद्ध क्रान्ति-जैन तथा बौद्ध धर्म का उदय वैदिक धर्म और संस्कृति के विरुद्ध एक क्रान्ति थी । बुद्ध तथा महावीर दोनों ने हिंसक वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्ड, वेदों की प्रामाणिकता तथा जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया । इन धर्मों के मूल में अवैदिक श्रमण संस्कृति का प्रभाव था, जो आर्यों के आगमन के पूर्व से ही देश में विद्यमान थी । यह श्रमण संस्कृति निवृत्तिपरक थी । निवृत्ति का अर्थ है—वैराग्यपूर्वक कर्मों का त्याग या सन्यास । जैन और बौद्धमत में संन्यास, वैराग्य और त्याग की जो प्रधानता है, वह इस अवैदिक श्रमण संस्कृति के प्रभाव का ही फल प्रतीत होती है । इन धर्मों के दुःखवाद ने प्रवृत्तिपरक अथवा कर्मप्रधान वैदिक संस्कृति के रूप को ही बदल डाला । तथापि इन दोनों धर्मों पर उपनिषद्-दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है । उपनिषदों के कर्मफलवाद तथा पुनर्जन्म के विचार इन धर्मों में ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गये हैं ।

जैन धर्म

जैन धर्म का इतिहास बहुत पुराना है । जैन साहित्य जैनधर्म के २४ तीर्थङ्करों का उल्लेख करता है । जैन धर्म [illegible] संस्थापक महात्मा 'तीर्थङ्कर' कहलाते हैं । जैन परम्परा ऋषभदेव को प्रथम तीर्थङ्कर मानती है । जैन मत के तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे । उन्होंने जैन भिक्षुओं के लिए चार व्रतों का निर्देश किया था—अहिंसा, सत्य-भाषण, अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह (सम्पत्ति-त्याग) ।

वर्धमान महावीर का संक्षिप्त जीवन-वृत्त—महावीर स्वामी जैनधर्म के संस्थापक नहीं, चौबीसवें तीर्थङ्कर थे । जैन धर्म इससे पहले संगठित हो चुका [illegible]

[illegible] का नाम सिद्धार्थ था, जो वज्जिसंघ में सम्मिलित ज्ञातृक क्षत्रियों के एक छोटे राज्य के प्रधान थे । उनकी माता का नाम त्रिशला था, जो वैशाली की लिच्छवि राजकुमारी थी । महावीर का आरम्भिक जीवन सुखविलास में बीता । उनका यशोदा नामक एक राजकुमारी से विवाह कर दिया गया । उनके एक पुत्री का जन्म हुआ । सब प्रकार के सांसारिक सुख उपलब्ध होने पर भी महावीर को शांति न मिली । अतः ३० वर्ष की आयु में उन्होंने अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन की आज्ञा लेकर गृहत्याग कर दिया और जैन भिक्षु बन गये । ज्ञान-प्राप्ति के लिये उन्होंने कठोर तपस्या की । आचारंग सूत्र और कल्पसूत्र में उनकी कठोर तपस्या का वर्णन है । उन्होंने कपड़े पहिनना भी अपरिग्रह व्रत के विरुद्ध समझकर त्याग दिया । १२ वर्ष के कठोर तप के बाद ऋजुपालिका नदी के तट पर महावीर को कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त

ा । तब से उन्हें 'केवलिन्' कहा जाने लगा । उन्होंने इन्द्रियों को जीत
या था, इसलिये वे 'जिन' भी कहलाए । 'जिन' से ही जैन शब्द बना है जिसका
र्थ हुआ—'जिन' के अनुयायियों का धर्म । संभवतः महावीर के समय ही इस
का नाम जैन पड़ा । क्योंकि उनसे पहले इसे 'निर्ग्रन्थ' (बन्धन-मुक्त) कहा
ता था । ज्ञान प्राप्ति के बाद महावीर स्वामी ३० वर्ष तक घूम घूम कर कोशल,
ध, वज्जि (लिच्छवि आदि गण) और काशी राज्यों में जैन धर्म का प्रचार
रते रहे । धीरे-धीरे बहुत से लोग—राजा, व्यापारी एवं जन-साधारण
नके अनुयायी हो गए । बहत्तर वर्ष की अवस्था में ५२७ ई० पू० में पावापुरी
पटना के पास) नामक स्थान में उन्होंने शरीर त्याग किया । महावीर
 पार्श्वनाथ द्वारा बनाए गए अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह–इन
र व्रतों में ब्रह्मचर्य नामक पांचवां व्रत और जोड़ दिया । उन्होंने चारों
 स्वीकार करने का भी नियम बनाया । पार्श्वनाथ ने जैन साधुओं को
तवस्त्र धारण करने की आज्ञा दी थी, परन्तु महावीर ने नग्न रहने का
देश दिया ।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त—जैन धर्म दुःखवाद पर आधारित है ।
सार और जीवन को दुःख का मूल माना गया है । दुःख का कारण
नुष्य की कभी तृप्त न होने वाली तृष्णा है । दुःख का निरोध सम्यक्
त्य) ज्ञान तथा नैतिक आचरण द्वारा सम्भव है । जैन-धर्म के मुख्य
द्धान्त हैं—कर्म, पुनर्जन्म, त्रिरत्न, संसार, आत्मा तथा जीव का स्वरूप,
क्ष, अनेकात्मवाद, स्याद्वाद या अनेकान्तवाद, पंच महाव्रत एवं पंच अणुव्रत ।
 हम इनका क्रम से निरूपण करेंगे ।

१. कर्म एवं पुनर्जन्म—जैन धर्म ईश्वर या किसी दैवी शक्ति को
ार का कर्ता नहीं मानता । यह कर्म-प्रधान धर्म है । कर्म जीवन का
तिक नियम है । व्यक्ति अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है । व्यक्ति
ों द्वारा ही अपने भाग्य का निर्माण करता है, उसमें ईश्वर या किसी
ी शक्ति का कोई हस्तक्षेप नहीं है । कर्म से बंधा हुआ ही जीव संसार
भ्रमण करता है । कर्म ही जीव के पुनर्जन्म का कारण है । अपने संचित
ों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जीव को जन्म लेना पड़ता है,
ोंकि किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना जीव का छुटकारा नहीं होता ।

२. मोक्ष—मोक्ष या निर्वाण-प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य है । मोक्ष
 अर्थ है जीव की कर्म-बंधन से पूरी तरह मुक्ति । जीव आत्मा और
न तत्त्व है, परन्तु वह आस्रव द्वारा भौतिक तत्त्व (जड़ शरीर) से
ा है । राग-द्वेष आदि से प्रेरित होकर जीव जो कर्म करता है, उन कर्मों
 प्रवाह जीव की ओर होता रहता है । कर्मों के इस जीव की ओर प्रवाह
 ही 'आस्रव' कहते हैं । कर्म के प्रवाह से ढक जाने पर जीव बन्धन में पड़
ता है । कर्मफल भोगने के लिए वह जन्म लेता है और इस प्रकार

आवागमन या जन्म–मरण का चक्र चलता रहता है। मोक्ष के लिए कर्म बंधन से पूरी तरह मुक्त होना नितान्त आवश्यक है। कर्म-फल से मुक्त [illegible] र और निर्जरा बतलाता [illegible] र कहलाता है। जो पूर्व [illegible] हैं उन्हें कठोर तप द्वारा हटाने की क्रिया को निर्जरा कहते हैं। साधना का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। कर्म-बन्धन का मूल कारण वासना या तृष्णा है। वासना का मूल अविद्या (सत्यके स्वरूप को न जानना) है। जैन मत के अनुसार सम्यक् (सत्य) ज्ञान और चरित्र द्वारा अविद्या से उत्पन्न बन्धन को समाप्ति किया जा सकता है।

३. त्रिरत्न—मोक्ष तभी हो सकता है जब जीव अपने पूर्वजन्म के संचित कर्म-फल का नाश करे और इस जन्म में किसी प्रकार का कर्म–फल संग्रह न करे। कर्मफल का नाश करने के लिए तथा इस जन्म के कर्म–फल से बचने के लिए जैन धर्म 'त्रिरत्न' का मार्ग सुझाता है। त्रिरत्न हैं–सम्यक् श्रद्धा या दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण। सत् मे विश्वास सम्यक् श्रद्धा है। सत्य का संदेहरहित और वास्तविक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। सांसारिक विषयों के प्रति उदासीनता सम्यक् आचरण है। जैन धर्म सम्यक् आचरण के अन्तर्गत पंच महाव्रतों का उल्लेख करता है। इनका हम आगे वर्णन करेंगे। इस त्रिरत्न के पालन से वासनाएँ समाप्त की जा सकती हैं, कर्म–बन्धन का निवारण हो सकता है और मोक्ष प्राप्त की जा सकती है। सम्यक् ज्ञान द्वारा अविद्या के आवरण को हटा देने पर आत्मा का सच्चा रूप प्रकट हो जाता है।

४. संसार का स्वरूप—जैन मत के अनुसार संसार या जगत् माया नहीं, बल्कि सत्य है। वह नित्य और अनादि है। उसका कभी भी नाश नहीं होता, यद्यपि उसमें उत्थान, पतन और परिवर्तन होते रहते हैं। संसार या सृष्टि छः ऐसे द्रव्यों से बनी है जो नित्य हैं और कभी नष्ट नहीं होते। ये छः द्रव्य हैं–(१) जीव, (२) भौतिक तत्त्व (पुद्गल), (३) धर्म, (४) अधर्म (५) आकाश और (६) काल। इन छहों द्रव्यों या तत्त्वों में केवल जीव ही ऐसा है जिसमें चेतना है, बाकी पाच तत्त्व जड़ और अचेतन हैं। भौतिक तत्त्व या पुद्गल परमाणुओं से बना हुआ है और यह सारा संसार भी परमाणुओं के संयोग का फल है। जीव और भौतिक तत्त्व के मिलन से ही सृष्टि मे जीवन है। सारा जगत् अनेक प्रकार के जीवो से भरा है। मनुष्य, पशु–पक्षी, कीड़े-मकोड़े, पेड़–पौधे, पानी, पत्थर, इन सभी में जीव है। जीव चेतन तत्त्व है। कहीं पर भी कोई ऐसा पदार्थ नहीं, जहां जीवन न हो, जिसमे चेतना न हो।

५. आत्मा, जीव और शरीर का विचार—अपने शुद्ध रूप में जीव सर्वज्ञ और स्वयं प्रकाशमान है। वह चेतन तत्त्व आत्मा है। आत्मा अनन्त,

अपार और सर्वव्यापक है। इसे ही जैन लोग 'सत्' कहते हैं। भौतिक तत्त्व जड़ शरीर है जिसमें जीव रहता है। जीव और भौतिक तत्त्व का मिलन ही संसार है। जीव कर्म-बन्धन के कारण ही भौतिक तत्त्व से बंधा है। भौतिक तत्त्व से ढकी आत्मा ही जीव है। भौतिक तत्त्व से ढके होने के कारण ही जीव को आत्मा का ज्ञान नहीं होता। जिस तरह बादलों के आवरण के कारण सूर्य का प्रकाश नहीं हो पाता, उसी तरह भौतिक तत्त्व के आवरण के कारण जीव को आत्मा में निहित ज्ञान का प्रकाश नहीं हो पाता। भौतिक तत्त्व से मुक्त होने पर जीव विशुद्ध हो जाता है, और उसे आत्मा में निहित ज्ञान का साक्षात्कार होने लगता है। इस भौतिक तत्त्व से आत्मा को मुक्त कर देना ही निर्वाण या मोक्ष है।

६. अनेकात्मवाद—जैन धर्म की मान्यता है कि जीव भिन्न-भिन्न होते हैं और उनमें आत्माएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। आत्मा के सम्बन्ध में जैन धर्म का यह विचार उपनिषदों के आत्मा के सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न है। उपनिषद् सारे संसार में व्याप्त एक आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं, परन्तु जैन धर्म एक आत्मा पर विश्वास नहीं करता।

७. अनेकान्तवाद या स्याद्वाद—अनेकान्तवाद या स्याद्वाद जैन धर्म का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष (धर्म) हैं। साधारण व्यक्ति वस्तु के कुछ पक्षों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, सब पक्षों का नहीं। वस्तु के अनन्त पक्षों का ज्ञान तो मोक्ष की अवस्था में ही सम्भव है। हमारा ज्ञान प्रत्येक वस्तु के संबंध में सीमित और सापेक्ष है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न रूप में देखा जा सकता है। अतएव हमारे सभी कथन सापेक्ष रूप से ही सत्य हो सकते हैं, ऐकान्तिक रूप से नहीं। ज्ञान के इस सापेक्ष स्वभाव को जैन-दर्शन में सप्तभङ्गी न्याय द्वारा निम्न प्रकार से प्रकट किया गया है—(१) सम्भवतः वह हो (स्यादस्ति), (२) संभवतः वह नहीं हो (स्यान्नास्ति), (३) सम्भवतः वह हो और नहीं भी हो (स्यादस्ति च नास्ति च); (४) सम्भवतः वह कहा नहीं जा सकता (स्यादवक्तव्यः), (५) संभवतः वह है, किन्तु कहा नहीं जा सकता। (स्यादस्ति च अवक्तव्यः), (६) सम्भवतः वह नहीं भी हो और कहा भी नहीं जा सके (स्यान्नास्ति च अवक्तव्यः) (७) सम्भवतः वह हो, नहीं भी हो और कहा भी नहीं जा सके। (स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यः)।

इस जैन सिद्धान्त में धार्मिक उदारता तथा सहनशीलता का सुन्दर विचार मिलता है। परन्तु कुछ विद्वान् इस सिद्धान्त में संशयवाद की झलक देखते हैं। उनका कहना है कि भाव (होना) और अभाव (न होना) ये परस्पर विरोधी हैं और वे एक साथ नहीं रह सकते। परन्तु स्याद्वाद या अनेकान्तवाद अनिश्चय को नहीं, ज्ञान के सापेक्ष (relative) रूप को प्रकट

करता है। यह सिद्धान्त यह प्रदर्शित करता है कि कोई भी दृष्टिकोण निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं हो सकता, वह केवल सापेक्ष रूप से ही सत्य हो सकता है। श्री दिनकर के अनुसार जैन-दर्शन के अनेकान्तवाद में समन्वय, सह-अस्तित्व और सहनशीलता का उत्कृष्ट रूप प्रकट हुआ है।[1]

८. पंचमहाव्रत—जैन धर्म आचार-प्रधान है। इसमें सम्यक् आचरण या नैतिक जीवन-चर्य्या पर विशेष जोर दिया गया है, जैसे कर्म, अहिंसा, त्याग और तप। जैनमत के अनुसार निर्वाण या जन्म-मरण से छुटकारा तप द्वारा ही सम्भव है। जैनमत इन्द्रियों के सुखों का घोर शत्रु है। यह संसार के हर सुख से दूर भागने का उपदेश देता है। सम्यक् आचरण के अन्तर्गत जैन धर्म पंच महाव्रतों का निर्देश करता है—

१. अहिंसा महाव्रत—'अहिंसा परमो धर्म' (अहिंसा सर्वोच्च धर्म है)—यह जैन धर्म का सर्वोपरि सिद्धान्त है। जैनमत सब चराचर जगत्-पशु, पक्षी, पेड़, पौधे, कीड़े-मकोड़े आदि में, यहाँ तक कि मिट्टी के कण-कण में आत्मा का निवास मानता है और इसलिए अहिंसा पर अत्यधिक बल [illegible] दी जाए। कीटाणुओं की हत्या के भय के कारण जैन 'यति' या साधु धरती पर फूंक-फूंक कर पैर रखते हैं, नाक और मुंह पर सदा कपड़े की पट्टी बांधे रहते हैं और पानी छानकर पीते हैं। कीटाणुओं की हिंसा की सम्भावना से ही जैन लोगों में सूर्यास्त से पहले ही भोजन कर लेने की प्रथा प्रचलित है। जैनमत में खेती करना भी मना है, क्योंकि खेत जोतने में जीव-हत्या होने का भय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन मत ने अहिंसा के सिद्धान्त को अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया। वह यह भूल गया कि संसार में पूर्ण अहिंसा का व्रत असम्भव है। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म ने अहिंसा को कभी भी इस अव्यावहारिक सीमा तक खींचने का प्रयत्न नहीं किया।

२. सत्य महाव्रत—सत्य और मधुर भाषण किया जाय। भय, क्रोध अथवा लालच के वश होकर असत्य कभी न बोला जाए। हंसी-मजाक में भी असत्य न बोला जाए।

३. अस्तेय महाव्रत—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। बिना आज्ञा के किसी के घर में प्रवेश न किया जाय और उसकी किसी वस्तु का प्रयोग न किया जाय।

४. अपरिग्रह महाव्रत—धन-धान्य, वस्त्र आदि किसी भी वस्तु का संग्रह न किया जाए, क्योंकि उससे सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति बढ़ती है।

१. दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ, १३६–७

५. ब्रह्मचर्य महाव्रत—पार्श्वनाथ ने चार व्रतों का निर्देश किया था, नमें महावीर ने ब्रह्मचर्य का पाँचवाँ महाव्रत जोड़ दिया। उन्होंने मोक्ष के रए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक माना। नारी से वार्तालाप, उसका र्शन और ध्यान तथा उसके सभीप निवास ब्रह्मचर्य में बाधक माने गए।

पंच अणुव्रत—जैन गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान —अहिंसाणुव्रत, अस्तेयाणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और अपरिग्रहाणुव्रत। ये पाँच णुव्रत पूर्वोक्त पंच महाव्रतों की तरह ही हैं, केवल गृहस्थों के लिए उनकी ठोरता कम कर दी गई है। ब्रह्मचर्य-अणुव्रत के अन्तर्गत परस्त्री-गमन का ‍षेध है। अपरिग्रह-अणुव्रत के अनुसार व्यक्ति अपनी आवश्यकता से धिक संपत्ति अपने पास न रखे और उसको दान में दे दे।

जैन धर्म की समीक्षा—बौद्ध की तरह जैन धर्म की मुख्य समस्या भी ख तथा दुःख का निरोध (हटाना) है। संसार के सब सुखों को यह दुःख- लक माानता है। दुःख का कारण तृष्णा है जो जीव को कर्म एवं पुनर्जन्म बाँधती है। तृष्णा एवं कर्मफल को नष्ट करने के लिए जैन धर्म तप, ायाक्लेश, उपवास, व्रत, अहिंसा आदि पर विशेष बल देता है। इस प्रकार द्ध धर्म की तरह जैन धर्म भी निवृत्तिपरक या सन्यास-प्रधान है। इसे हम ख्य रूप से भिक्षु-धर्म कह सकते हैं। इस धर्म में नैतिक आचरण की प्रधा- ता है। यह नास्तिक धर्म है जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता। ह धर्म कर्म-प्रधान है। महावीर ने कर्मकाण्ड तथा यज्ञवाद का खण्डन कर र्म के महत्त्व की प्रतिष्ठा की थी।

जैन धर्म के सम्प्रदाय—कालान्तर में जैन धर्म दो सम्प्रदायों में बंट या—श्वेताम्बर और दिगम्बर। ये दोनों धार्मिक सम्प्रदाय हैं। दार्शनिक ष्टि से इन दोनों में अधिक भेद नहीं है। केवल उनके विश्वास तथा व्यव- र में थोड़ा अन्तर है। दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु संपत्ति का पूर्ण त्याग रते हैं, यहाँ तक कि वे वस्त्र भी धारण नहीं करते। इसलिए उन्हें दिगम्बर हा जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार स्त्री के लिए मोक्ष संभव ही है। श्वेताम्बर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में तिक नियम अपेक्षाकृत कुछ अधिक कठोर हैं। भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय ी अपेक्षा श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रसार अधिक हुआ है।

जैन धर्म का प्रसार—महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद जैन धर्म का गध से पश्चिम और दक्षिण की ओर प्रसार हुआ। जैन साहित्य के अनुसार न्द्रगुप्त मौर्य तथा जैन साधु भद्रबाहु बहुत से जैन भिक्षुओं के साथ दक्षिण जाकर श्रवन बेलगोला (मैसूर) में बसे थे। जैन धर्म का पश्चिमी भारत गुजरात, काठियावाड़ तथा राजस्थान में विशेष प्रसार हुआ। इस धर्म ा दक्षिण भारत में भी प्रसार हुआ। बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म भारत

से बाहर नहीं फैला। परन्तु भारत के कई भागों में वह आज भी जीवित है, जबकि बौद्ध धर्म भारत से लगभग लुप्त हो गया।

जैन धर्म-ग्रंथ—जैन धर्म-ग्रंथों को सिद्धान्त या आगम कहते हैं। इनकी रचना में दो जैन सभाओं का विशेष हाथ था। पहली सभा महावीर स्वामी की मृत्यु के तुरन्त बाद पाटलिपुत्र में हुई थी। दूसरी सभा पांचवीं शताब्दी ईस्वी में देवर्द्धि नामक जैन साधु के सभापतित्व में वलभी में हुई। इस सभा ने जैन धर्म-ग्रंथों का जो रूप निश्चित किया, वह आज तक चल रहा है। अधिकांश प्रारम्भिक जैन साहित्य प्राकृत में है। जैन आगम या धर्मशास्त्र के अन्तर्गत प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—आचरङ्ग सूत्र—इसमें जैन भिक्षुओं के आचरण के नियम दिए हुए हैं। भगवती सूत्र—इसमें महावीर स्वामी ने प्रश्नोत्तर रूप में जैन धर्म के सिद्धांतों की विवेचना की है। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध भद्रबाहु द्वारा रचित कल्पसूत्र है।

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन—महावीर स्वामी ने पंच महाव्रतों के रूप में सामाजिक जीवन के उच्च आदर्श प्रस्तुत किए। अहिंसा पर उन्होंने विशेष जोर दिया। सदाचार के ये आदर्श आज भी भारत में लोकप्रिय हैं। जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त का भारतीयों के चिंतन तथा व्यवहार पर विशेष प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं के भक्ति-प्रधान वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों में अहिंसा की भावना की प्रधानता है। जैन साधुओं ने भारत में सन्यास तथा तप की विचारधारा को लोकप्रिय बनाया। आज भी भारत में यह धारणा प्रचलित है कि शरीर नाशवान् है तथा आत्म-कल्याण का सच्चा मार्ग तप द्वारा शरीर को कष्ट देना है।

साहित्य एवं कला के क्षेत्र में—प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य के विकास में जैन लेखकों की देन उल्लेखनीय है। राजपूत काल में हेमचन्द्र आदि जैन विद्वानों ने प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा में अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। इससे अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ, जिससे आगे चलकर हिंदी, गुजराती, मराठी आदि प्रादेशिक भाषाएं जन्मीं। जैनियों ने अनेक गुफाएं तथा सुन्दर मन्दिर बनवाकर भारतीय कला को प्रोत्साहन दिया। मध्य-भारत, सौराष्ट्र और राजस्थान में कई भव्य जैन मन्दिर मिले हैं। इनमें जैन तीर्थंकरों की सुन्दर मूर्तियां हैं। सौराष्ट्र के गिरनार में, रानपुर (जोधपुर) में, खजुराहो में तथा श्रवनबेलगोला (मैसूर) में जैन मन्दिरों के समूह मिले हैं। आबू में दिलवाड़ा जैन-मन्दिर कला की दृष्टि से बड़े सुन्दर हैं। जैन मन्दिर भारतीय स्थापत्य कला का निखरा हुआ रूप प्रकट करते हैं।

जैन दर्शन के स्याद्वाद या सप्तभङ्गी न्याय ने भारत में उदार सांस्कृतिक दृष्टिकोण के विकास में सहायता दी। किसी भी मत के बारे में अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं और इनमें से कोई भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं, वरन्

सब प्राणिक कर्म से बंधे हैं—इस मान्यता को स्वीकार कर लेने के बाद धर्मान्धता, कट्टरता तथा असहिष्णुता के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती।

बौद्ध धर्म

जैनमत की तरह बौद्धमत का उदय भी वैदिक धर्म तथा कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। यह एक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन था। वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध उपनिषदों में जो भाव प्रकट हुए, उनका चरम विकास बौद्धमत में देखने को मिलता है। वैदिक धर्म जन-साधारण की धार्मिक आकांक्षाओं को पूरा न कर सका। यज्ञों को सम्पन्न करने का खर्च वहन करने का सामर्थ्य ही न था। दूसरे, लोग क्लिष्ट यज्ञों से ऊब चुके थे। यह सत्य है कि उपनिषदों ने ज्ञान-मार्ग द्वारा मोक्ष का मार्ग बताया था। परन्तु उपनिषदों के ब्रह्म, आत्मा आदि सिद्धान्त इतने सूक्ष्म थे कि वे साधारण मनुष्य के समझ नहीं पड़ते थे। अतः उस समय ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो सरल और सुबोध हो, जिसमें यज्ञ और पुरोहितों का आडम्बर तथा क्रूर पशुहिंसा न हो, जो व्यावहारिक हो, जिसके द्वारा समाज के नीचे से नीचे लोगों के लिए सुगम हो। महात्मा बुद्ध ने ऐसा ही धर्म प्रदान कर दिया।

बुद्ध का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त—बुद्ध का जन्म सन् ५६३ ई० पूर्व में कपिलवस्तु के समीप नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी वन (आधुनिक रुम्मिनदेई ग्राम) में हुआ। इनके पिता शुद्धोदन शाक्य क्षत्रियों के एक छोटे गणराज्य के प्रधान थे। इनकी माता का नाम महामाया था। इनका बचपन का नाम गौतम था। माता की मृत्यु हो जाने के कारण इनका लालन-पालन इनकी मौसी महाप्रजापती गौतमी ने किया। गौतम बचपन से ही ध्यान मग्न हो जाते थे। राजा शुद्धोदन ने उन्हें इस प्रवृत्ति से हटाने के लिए १६ वर्ष की आयु में ही उनका विवाह एक सुन्दर क्षत्रिय कन्या (यशोधरा) से कर दिया और उनके लिए सब प्रकार के भोग-विलास की सामग्री प्रस्तुत कर दी। कुछ समय बाद गौतम के एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। परन्तु सांसारिक भोग-विलास में उनकी आसक्ति बहुत समय तक नहीं रही। बौद्ध साहित्य अनेक ऐसे दृश्यों और घटनाओं का उल्लेख करता है जिनसे बुद्ध के मन में वैराग्य की भावना जागृत हुई। बाहर घूमते हुए गौतम को मार्ग में पहले वृद्ध, फिर दुखी-रोगी, फिर मृतक और सबसे बाद में वीतराग सन्यासी के दर्शन हुए। इन दृश्यों ने गौतम के भावुक मन में संसार की निस्सारता की भावना भर दी। उन्तीस वर्ष की अवस्था में सांसारिक दुखों से मुक्ति का मार्ग खोजने के उद्देश्य से गौतम अपनी पत्नी और पुत्र को सोते हुए छोड़ कर घर से निकल पड़े। कुछ समय तक उन्होंने आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त नामक राजगृह के दो तपस्वियों के आश्रम में साधना की, पर उनके मन को शान्ति न मिली। इसके

से बाहर नहीं फैला। परन्तु भारत के कई भागों में वह आज भी जीवित है, जबकि बौद्ध धर्म भारत से लगभग लुप्त हो गया।

जैन धर्म-ग्रंथ—जैन धर्म-ग्रंथों को सिद्धान्त या आगम कहते हैं। इनकी रचना में दो जैन सभाओं का विशेष हाथ था। पहली सभा महावीर स्वामी की मृत्यु के तुरन्त बाद पाटलिपुत्र में हुई थी। दूसरी सभा पाचवीं शताब्दी ईस्वी में देवर्द्धि नामक जैन साधु के सभापतित्व में वलभी में हुई। इस सभा ने जैन धर्म-ग्रंथों का जो रूप निश्चित किया, वह आज तक चल रहा है। अधिकांश प्रारम्भिक जैन साहित्य प्राकृत में है। जैन आगम या धर्मशास्त्र के अन्तर्गत प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—आचरङ्ग सूत्र—इसमें जैन भिक्षुओं के आचरण के नियम दिए हुए हैं। भगवती सूत्र—इसमें महावीर स्वामी ने प्रश्नोत्तर रूप में जैन धर्म के सिद्धांतों की विवेचना की है। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध भद्रबाहु द्वारा रचित कल्पसूत्र है।

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन—महावीर स्वामी ने पंच महाव्रतों के रूप में सामाजिक जीवन के उच्च आदर्श प्रस्तुत किए। अहिंसा पर उन्होंने विशेष जोर दिया। सदाचार के ये आदर्श आज भी भारत में लोकप्रिय हैं। जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त का भारतीयों के चिंतन तथा व्यवहार पर विशेष प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं के भक्ति-प्रधान वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों में अहिंसा की भावना की प्रधानता है। जैन साधुओं ने भारत में [illegible]

साहित्य एवं कला के क्षेत्र में—प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य के विकास में जैन लेखकों की देन उल्लेखनीय है। राजपूत काल में हेमचन्द्र आदि जैन विद्वानों ने प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा में अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। इससे अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ, जिससे आगे चलकर हिंदी, गुजराती, मराठी आदि प्रादेशिक भाषाएं जन्मीं। जैनियों ने अनेक गुफाएं तथा सुन्दर मन्दिर बनवाकर भारतीय [illegible] दान दिया। मध्य-भारत, सौराष्ट्र और राजस्थान में [illegible] हैं। इनमें जैन तीर्थंकरों की सुन्दर मूर्तियां हैं। [illegible] (जोधपुर) में, खजुराहो में [illegible] मिले हैं। आबू में [illegible] हैं। जैन मन्दिर [illegible]

[illegible] में उदार सांस्कृ- [illegible] के बारे में अनेक [illegible] नहीं, वरन् [illegible]

सब आंशिक रूप से सत्य हैं—इस मान्यता को स्वीकार कर लेने के बाद धर्मान्धता, कट्टरता तथा असहिष्णुता के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती।

बौद्ध धर्म

जैनमत की तरह बौद्धमत का उदय भी वैदिक यज्ञ तथा कर्म-काण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। यह एक सामाजिक और नैतिक आन्दोलन था। वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध उपनिषदों में जो ज्ञान की धारा बही, उसका चरम विकास बौद्धमत में देखने को मिलता है। वैदिक धर्म जन-साधारण की धार्मिक आकांक्षाओं को पूरा न कर सका। एक तो शूद्रों को यज्ञ करने या वेद पढ़ने का अधिकार ही न था। दूसरे, लोग हिंसा-युक्त यज्ञों से ऊब चुके थे। यह सत्य है कि उपनिषदों ने यज्ञ-कर्म काण्ड का खण्डन करके ज्ञान का मार्ग बताया था। परन्तु उपनिषदों के ब्रह्म, आत्मा आदि सिद्धान्त इतने सूक्ष्म थे कि वे साधारण मनुष्य के पल्ले नहीं पड़ते थे। अत: उस समय ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो सरल और सुबोध हो, जिसमें यज्ञ और पुरोहितों का आडम्बर तथा क्रूर पशुहिंसा न हो, जो व्यावहारिक हो, जिसके द्वार समाज के नीचे से नीचे लोगों के लिए खुले हों। महात्मा बुद्ध ने ऐसा ही धर्म देश को दिया।

बुद्ध का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त—बुद्ध का जन्म सन् ५६३ ई० पूर्व में कपिलवस्तु के समीप नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी वन (आधुनिक रुम्मिन्देइ गांव) में हुआ। इनके पिता शुद्धोदन शाक्य क्षत्रियों के एक छोटे गणराज्य के प्रधान थे। इनकी माता का नाम महामाया था। इनका बचपन का नाम गौतम था। माता की मृत्यु हो जाने के कारण इनका लालन-पालन इनकी मौसी महाप्रजापती गौतमी ने किया। गौतम बचपन से ही ध्यान मग्न हो जाते थे। राजा शुद्धोदन ने उन्हें इस प्रवृत्ति से हटाने के लिए १६ वर्ष की आयु में ही उनका विवाह एक सुन्दर क्षत्रिय कन्या (यशोधरा) से कर दिया और उनके लिए सब प्रकार के भोग-विलास की सामग्री प्रस्तुत कर दी। कुछ समय बाद गौतम के एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। परन्तु सांसारिक भोग-विलास में उनकी आसक्ति बहुत समय तक नहीं रही। बौद्ध साहित्य अनेक ऐसे दृश्यों और घटनाओं का उल्लेख करता है जिनसे बुद्ध के मन में वैराग्य की भावना जागृत हुई। बाहर जाते हुए गौतम को मार्ग में पहले वृद्ध, फिर दु:खी-रोगी, फिर मृतक और सबसे बाद में वीतराग सन्यासी के दर्शन हुए। इन दृश्यों ने गौतम के भावुक मन में संसार की निस्सारता की भावना भर दी। उन्तीस वर्ष की अवस्था में सांसारिक दु:खों से मुक्ति का मार्ग खोजने के उद्देश्य से गौतम अपनी पत्नी और पुत्र को सोते हुए छोड़ कर घर से निकल पड़े। कुछ समय तक उन्होंने आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त नामक राजगृह के दो तपस्वियों के आश्रम में साधना की, पर उनके मन को शान्ति न मिली। इसके

बाद उन्होंने साथियों के साथ उरुवेला (बोधगया के समीप) के घने वन में जाकर ५-६ वर्षों तक कठोर तपस्या की। परन्तु इससे भी उन्हें आन्तरिक शान्ति और ज्योति न मिली। अन्त में गौतम ने गया के एक पीपल वृक्ष के नीचे बैठकर ध्रुव समाधि लगाई। सात दिन और सात रात अखण्ड समाधि में स्थित रहने के बाद आठवें दिन वैशाखी पूर्णिमा की रात को उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और निर्वाण लाभ हुआ। उस दिन से वे 'तथागत' हो गए। उन्हें सम्बोधि (ज्ञान) प्राप्त हुई और अब वे बुद्ध (जिसे ज्ञान प्राप्त हो) कहलाने लगे। उनकी ज्ञान प्राप्ति से सम्बन्धित होने के कारण गया 'बोधगया' और वह वृक्ष जिसके नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, 'बोधिवृक्ष' कहलाया। अब पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए बुद्ध ने इस ज्ञान का सब को उपदेश देने का निश्चय किया। वे गया से सारनाथ (बनारस) पहुँचे और वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम धर्म का उपदेश अपने पुराने साथी उन ५ ब्राह्मणों को दिया जो उन्हें गया में छोड़कर चले गए थे। बौद्ध परम्परा में प्रथम धर्म उपदेश की यह पवित्र घटना 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' (धर्मरूपी चक्र का चलाना) कहलाती है। जनता की भाषा में ही धर्म का उपदेश देते हुए महात्मा बुद्ध ने काशी, उरुवेल, राजगृह, कपिलवस्तु आदि अनेक स्थानों की यात्रा की। उनके धर्म प्रचार का क्षेत्र सामान्यतः नेपाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के आधुनिक प्रदेशों तक सीमित था। उनके महान् व्यक्तित्व के कारण अनेक लोग उनके अनुयायी बने। उनके अनुयायियों की मुख्यतः दो श्रेणियाँ थीं। गृह त्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करने वाले स्त्री पुरुष भिक्षुणी और भिक्षु कहलाते थे। भिक्षु वर्ग से भिन्न दूसरा वर्ग गृहस्थ बौद्धों का था जो उपासक एवं उपासिकाएँ कहलाते थे। महात्मा बुद्ध के जीवन काल में ही उनके अनुयायियों का एक शक्तिशाली संघ बन गया था। उनके प्रमुख शिष्य थे—आनन्द, सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, उपालि, सुनीति, देवदत्त, अनाथपिण्डक। मगध के राजा बिम्बिसार और कोशल के राजा प्रसेनजित भी महात्मा बुद्ध के प्रशंसक थे। ४८३ ई० पू० में ८० वर्ष की अवस्था में महात्मा बुद्ध ने शरीर त्याग किया। बौद्ध परम्परा इस घटना को महापरिनिर्वाण कहती है।

बौद्ध धर्म—बौद्ध-धर्म मुख्य रूप से आचार धर्म है। महात्मा बुद्ध ने धर्म के दर्शन पक्ष पर नहीं, व्यवहार पक्ष पर अधिक जोर दिया। वे दार्शनिक जंजाल से दूर रहे और उन्होंने ऐसे प्रश्नों पर कोई ध्यान नहीं दिया जो साधारण बुद्धि की पहुँच से बाहर हों। वे एक दर्शन की अपेक्षा एक नैतिक धर्म के प्रवर्तक अधिक थे। उनकी दृष्टि में धार्मिक क्रियाओं की अपेक्षा शुद्ध आचरण अर्थात् शुद्ध विचार, शुद्ध कर्म और शुद्ध भावना अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने कर्म तथा ज्ञान में कर्म को मुख्य माना और शुद्ध चरित्र पर अत्यधिक जोर दिया। उनके मत में शुद्ध आचरण द्वारा कोई भी व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है। उनकी शिक्षाएँ निम्न हैं.—

दुःख का कारण है, दुःख दूर किया जा सकता है तथा दुःख को दूर करने का उपाय भी है।

२. सम्यक् संकल्प (सत्य विचार)— निर्वाण के लिए ज्ञान मात्र पर्याप्त नहीं है। उस ज्ञान को जीवन और व्यवहार में लागू करने के लिए संकल्प का आधार आवश्यक है। सत्य दृष्टिकोण के अनुकूल जीवन निर्वाह के लिए सच्चे संकल्प की आवश्यकता है। इच्छा और हिंसा से रहित संकल्प सम्यक् संकल्प है।

३. सम्यक् वचन (सत्य वचन)— झूठ न बोलना तथा कड़ी बात न कहना।

४. सम्यक् कर्मान्त— सत्य व्यवहार, सदाचार, प्राणि-हिंसा न करना, चोरी न करना, दुराचार से बचना आदि।

५. सम्यक् आजीव— ऐसी जीविका जो नैतिक नियमों के विरुद्ध न हो।

६. सम्यक् व्यायाम—शुद्ध तथा ज्ञानयुक्त प्रयत्न। मानसिक दोषों को हटाकर अपने व्यक्तित्व को शुद्ध बनाने के लिए प्रयत्न करते रहना।

७. सम्यक् स्मृति— शरीर और मन की दुर्बलताओं को भली प्रकार स्मरण रखना।

८. सम्यक् समाधि (चित्त की एकाग्रता)—सत्य के निरन्तर ध्यान को सम्यक् समाधि कहते हैं।

मध्यमा प्रतिपदा या मध्यम मार्ग—दुःख निरोध के लिए बताया गया यह अष्टांगिक मार्ग मध्यमा-प्रतिपदा या मध्यम मार्ग कहलाता है, क्योंकि इसमें बुद्धदेव ने न तो अत्यधिक तपस्या का विधान किया है और न अत्यधिक शारीरिक सुख का। वास्तव में उन्होंने भोग और त्याग के बीच का मार्ग अपनाया है। इस प्रकार बुद्ध मध्यम-मार्ग के प्रवर्तक थे।

स्वावलम्बन पर बल—महात्मा बुद्ध ने दुःख से मुक्त होने के लिए स्वावलम्बन पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने मनुष्य को स्वयं का भाग्य-विधाता माना। उनकी शिक्षा का सार यह था कि मनुष्य अपने ही प्रयत्नों से संसार के दुःखों से छुटकारा पा सकता है। उसे इसके लिए किसी ईश्वर या देवता की कृपा की आवश्यकता नहीं है। इस प्रसंग में अपने प्रिय शिष्य आनन्द को दिया गया महात्मा बुद्ध का उपदेश उल्लेखनीय है—'हे आनन्द! तुम स्वयं अपने लिए पथ-प्रदर्शक (आत्मदीप), आत्म-शरण और अनन्यशरण बनो। कोई दूसरा आश्रय (सहारा) न ढूंढो। अपनी मुक्ति के लिए निरन्तर बिना प्रमाद के प्रयत्न करते रहो। ईश्वर या किसी देवता की कृपा पर निर्भर रहने के बदले स्वयं अपने कर्मों द्वारा अपना उद्धार करो'—यह बुद्धजी का महत्त्वपूर्ण उपदेश था। बुद्ध ने स्वावलम्बन द्वारा मानवता को देवत्व तक उठाने की योजना रखी। धम्मपद नामक

बौद्ध धर्म ग्रन्थ में लिखा है—'देवता भी उस मनुष्य को नहीं हरा सकते, जिसने अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ली है'।

बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त

प्रतीत्य समुत्पाद अथवा कार्य-कारण नियम—संसार और जीवन दोनों में ही किसी वस्तु की स्वतन्त्र या नित्य सत्ता नहीं है। संसार के सारे पदार्थ तथा अवस्थाएँ किन्हीं निमित्तों या कारणों पर निर्भर हैं। प्रत्येक वस्तु या घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। ये निमित्त या कारण अनिवार्य नहीं हैं, इनका निवारण सम्भव है। इस प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त को महात्मा बुद्ध ने दुःखमय संसार पर लागू किया और दुःख-निवृत्ति (दुःख से छुटकारा) का मार्ग खोजा। अविद्या दुःख का निमित्त या कारण है। अविद्या के कारण ही दुःख का समुत्पाद (उत्पत्ति) होता है। अतः अविद्या के निवारण द्वारा दुःख का निवारण भी किया जा सकता है। यह दुःख-निवृत्ति ही बौद्ध धर्म का निर्वाण है।

क्षणिकवाद अथवा परिवर्तनवाद—क्षणिकवाद का सिद्धान्त एक तरह से प्रतीत्य-समुत्पाद से ही सम्बन्धित है। बौद्ध-दर्शन परिवर्तन और क्षणिकता को मुख्य मानता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु अनित्य (अस्थायी) और क्षणिक है। आत्मा और जगत् प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। जगत् में कुछ भी स्थायी और अपरिवर्तनशील (न बदलने वाला) नहीं है। परिवर्तन जीवन और जगत् का वास्तविक नियम है। स्थायित्व अथवा अपरिवर्तन-शीलता मन की झूठी कल्पना है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह प्रतिक्षण बदलते रहने पर भी वही प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा और जगत् क्षणिक होने पर भी प्रवाह रूप से बने रहने के कारण नित्य या स्थायी मालूम पड़ते हैं।

अनात्मवाद—अनात्मवाद का सिद्धान्त क्षणिकवाद के सिद्धान्त का ही परिणाम है। बौद्ध मत स्थायी आत्मा की सत्ता को नहीं मानता। आत्मा शरीर के ही समान नाशवान् है। आत्मा में वे सभी विकार हैं जो शरीर में हैं। आत्मा भी शरीर के साथ बदलती रहती है। जिसे हम आत्मा मानते हैं वह एक विज्ञान-संघात-मात्र है। रूप, वेदना, संज्ञान, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के समूह का नाम आत्मा है। दूसरे शब्दों में हमारे मन में स्मृतियों और संस्कारों का जो भी प्रभाव है उसे ही बुद्ध आत्मा मानते हैं। नित्य आत्मा की सत्ता को नहीं मानना बौद्ध मत की एक कम-जोरी है, क्योंकि अगर आत्मा नित्य नहीं है तो पुनर्जन्म के विश्वास का क्या आधार है।

निर्वाण—जीवन का परम लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति है। निर्वाण अष्टांगिक मार्ग की साधना से सम्भव है। दुःख के कारण तृष्णा को पूरी तरह नष्ट कर देने से निर्वाण प्राप्त होता है। निर्वाण दुःख या जन्म-मरण

के चक्र से छुटकारे का नाम है। निर्वाण उज्ज्वल शान्ति की वह अवस्था है जो कभी भंग नहीं होती। इसे पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। निर्वाण के बौद्ध विचार के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् निर्वाण को विनाश की स्थिति मानते हैं। परन्तु बौद्ध साहित्य के अनुसार यह ठीक नहीं है। डाक्टर राधाकृष्णन् के शब्दों में 'बौद्ध ग्रन्थ हमें जिस निर्वाण की अवस्था का वर्णन सुनाते हैं, वह मृत्यु या विनाश की अवस्था नहीं है, बल्कि यह वह अवस्था है जो नैतिक आचरणों की पूर्णता से प्राप्त होती है, जो पवित्र धार्मिक जीवन की साधना का परिणाम है। निर्वाण वासनाओं से छुटकारे का नाम है।'

कर्मवाद—बौद्ध धर्म कर्म-प्रधान धर्म है। जगत् के सारे व्यापार तथा क्रियाओं का नियन्ता कर्म है। बौद्ध धर्म में कर्म का वही स्थान है जो आस्तिक धर्मों में ईश्वर का है। बौद्ध धर्म में कर्म व्यक्ति की सारी शारीरिक, वाचिक (वाणी सबंधी) तथा मानसिक क्रियाओं का बोध कराता है। कर्म ही मनुष्य के सुख-दुःख का दाता है। बुद्ध का उपदेश है-'जो भी व्यक्ति,चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो,वैश्य हो अथवा शूद्र हो, सम्यक् (सद् अथवा अच्छा) कर्म करेगा वह मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।' एक बार माणवक नामक एक ब्राह्मण विद्यार्थी ने गौतम से पूछा कि हे गौतम ! यहाँ संसार में कई मनुष्य अल्पायु हैं तो कई दीर्घायु, कई बहुत रोगी हैं तो कई कम रोगी, कई कुरूप हैं तो कई सुन्दर, कई असमर्थ हैं तो कई समर्थ, कई दरिद्र हैं तो कई धनी, कई मूर्ख हैं तो कई बुद्धिमान। क्या कारण है कि यहाँ प्राणियों में इतना अन्तर, इतनी हीनता और उत्तमता दिखाई देती है। इसके उत्तर में महात्मा बुद्ध ने कर्म के आधार पर प्राणियों की हीनता और उत्तमता के भेद की व्याख्या करते हुए कहा—'*माणवक ! प्राणी कर्म के अधीन हैं। कर्म ही उनकी वर्तमान दशा का* कारण है। कर्म ही प्राणियों का बन्धु और आश्रय है। प्राणियों में जो हीनता और उत्तमता दिखाई देती है, उसका कारण भी कर्म ही है।'[1] बुद्ध का यह उत्तर कर्म के सिद्धान्त की महत्ता पर प्रकाश डालता है। इसके अनुसार मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-विधाता है। वह कर्म द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

पुनर्जन्मवाद—बौद्ध धर्म कर्म के फल में विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति कर्म के अनुसार ही अच्छी या बुरी योनियों में जन्म लेता है।

बौद्धधर्म की समीक्षा—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म मुख्यतः सदाचार के नैतिक नियमों की संहिता है। इसमें कहीं भी दर्शन या अध्यात्म का पुट नहीं है। महात्मा बुद्ध दार्शनिक तथा

---

१. मज्झिम निकाय ३.४.५

आध्यात्मिक प्रश्नों में नहीं उलझे। आत्मा तथा परमात्मा के बारे में उन्होंने पूर्ण मौन रखा। उनका यह धर्म ऊँचे बुद्धिवाद पर आधारित है। इसमें कहीं भी अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता या कर्मकाण्ड का स्थान नहीं है। यह सच्चे अर्थों में जनवादी धर्म है। इस पर किसी वर्ग, जाति या वर्ण विशेष का आधिपत्य नहीं था। इसके द्वार सबके लिए खुले थे। शूद्र और स्त्रियाँ भी दीक्षा लेकर बौद्ध संघ में प्रविष्ट हो सकती थीं। यह अत्यन्त व्यावहारिक और मानववादी धर्म है। इसके सारे चिन्तन का केन्द्र मानव है। मानव को दुःख से मुक्त कर सुखी बनाने के लिए एक साधन के रूप में इसकी कल्पना की गयी है। मज्झिम निकाय में इस धर्म को आदि में कल्याणकारी मध्य में कल्याणकारी तथा अन्त में कल्याणकारी कहा गया है। यह धर्म निवृत्ति-परक (सांसारिक विषयों के त्याग पर आधारित) है और दुःखवाद पर आधारित है। इस धर्म की प्रेरणा का स्रोत था श्रमणों की श्रमण परम्परा जो निवृत्तिपरक थी और वैदिक युग के पूर्व से ही भारत में विद्यमान थी। इस धर्म पर वैदिक परम्परा का भी प्रभाव है। निर्वाण का विचार उपनिषदों के मुक्ति सिद्धान्त से लिया गया प्रतीत होता है। इस धर्म के कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का बीज उपनिषदों में मिलता है। तथापि यह धर्म वैदिक यज्ञ-कर्मकाण्ड परम्परा के बिल्कुल विपरीत था। महात्मा बुद्ध ने वेदों की प्रामाणिकता, वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्ड तथा ब्राह्मणों की प्रधानता पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था।

बौद्ध धर्म की जैन धर्म से तुलना—दोनों धर्मों में समानता भी है और असमानता भी। दोनों धर्मों का ही प्रारम्भ सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन के रूप में हुआ। दोनों ही वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन करते हैं। दोनों ही जन्म पर आधारित जाति-भेद का खण्डन करते हैं और दोनों के ही द्वार शूद्र आदि सब वर्णों के लिए खुले हैं। दोनों ने ही वैदिक हिंसक यज्ञों का विरोध किया और अहिंसा तथा तप पर जोर दिया। परन्तु जैन मत में अहिंसा को अति पर पहुँचा दिया गया। बुद्ध तथा महावीर दोनों ने ही संस्कृत की अपेक्षा देश की प्रचलित भाषाओं में उपदेश दिए। बौद्धों का मूल साहित्य पालि भाषा में है तथा जैनों का प्राकृत में। दोनों ही इस संसार का रचयिता ईश्वर को नहीं मानते। दोनों में ही त्याग, वैराग्य और संयम की प्रधानता है।

दोनों में भेद—(१) जैन धर्म मोक्ष के लिए तप और तपस्या के कठिन मार्ग का निर्देश करता है। परन्तु बौद्ध धर्म तप और भोग के बीच के मध्यम-मार्ग को निर्वाण का साधन बतलाता है। जैन धर्म में भिक्षु तथा गृहस्थों के बीच की दूरी कम है। परन्तु बौद्ध धर्म मुख्यतः श्रमण या सन्यासियों का धर्म है। (२) बौद्ध धर्म संसार मात्र को परिवर्तनशील एवं अनात्म मानता है। वह यह स्वीकार नहीं करता कि पुद्गल के मूल में कोई आत्मा या नित्य

तत्त्व है जो कभी नष्ट नहीं होता। बौद्धों की विचारधारा का फल उनका क्षणिकवाद और अनात्मवाद का सिद्धान्त है। परन्तु जैन मत सृष्टि को नित्य, अनादि और कभी नष्ट न होने वाली मानता है। यह आत्मा के अस्तित्व में भी विश्वास करता है।

बौद्ध संघ—बौद्ध धर्म के 'त्रिरत्न' में बुद्ध और धर्म के बाद संघ का स्थान है। भिक्षु अपनी प्रार्थना में तीनों की शरण मांगते थे—बुद्धं शरणं गच्छामि। धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। संघ की स्थापना महात्मा बुद्ध ने प्रजातन्त्र-प्रणाली के आधार पर की थी। बौद्ध धर्म के प्रसार में संघ का महत्त्वपूर्ण योग था। भिक्षु विहारों में अनुशासित जीवन व्यतीत करते थे और घूम घूम कर धर्म का उपदेश देते थे।

बौद्ध धर्म की संगीतियाँ या सभाएं—बौद्ध धर्म के विकास में चार संगीतियों का महत्त्व है। पहली संगीति महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजगृह में हुई। इसमें बुद्ध के उपदेशों का संकलन किया गया। दूसरी संगीति महानिर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली में हुई। यहां बौद्ध संघ में मतभेद के कारण दो शाखाएं बन गई—(१) स्थविर जो परम्परागत नियमों के अनुयायी थे, और (२) महासांघिक जिन्होंने संघ में कई नवीन नियम लागू किए। तीसरी बौद्ध संगीति अशोक के काल में पाटलिपुत्र में हुई। इसमें अभिधम्मपिटक के कथावत्थु भाग की रचना हुई। इसमें बौद्ध धर्म की दार्शनिक व्याख्या है। इस संगीति में थेरवादी या स्थविरवादी दृष्टिकोण की ही प्रधानता रही। चौथी बौद्ध-संगीति कुषाण सम्राट् कनिष्क के राज्यकाल में काश्मीर में वसुमित्र की अध्यक्षता में हुई। इस संगीति में बौद्ध ग्रन्थों के ऊपर टीकाएं लिखी जो विभाषा कहलाती हैं। इस संगीति में सर्वास्तिवाद नामक बौद्ध सम्प्रदाय की प्रधानता थी। इस संगीति में बौद्ध धर्म की महायान शाखा को मान्यता दी।

महायान बौद्धमत—मौलिक बौद्धमत जिसे हीनयान कहते हैं, पूर्णतः बुद्धिवाद पर आधारित था। उसमें प्रतिपादित चार आर्य-सत्य, अष्टाङ्गिक मार्ग तथा निर्वाण के विचार केवल बौद्धिक वर्ग की समझ में आ सकते थे। वे सर्वसाधारण की बुद्धि से परे थे। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने निर्वाण-प्राप्ति के लिए गृह त्यागकर सन्यासी बनने पर जोर दिया था। मूल बौद्ध धर्म में गृहस्थों के लिए निर्वाण या मोक्ष की व्यवस्था ही न थी। ऐसी स्थिति में भक्ति-प्रधान वैष्णव धर्म, जो उपरोक्त कमियों से दूर था, बहुत लोकप्रिय होता जा रहा था। अतः बौद्ध धर्म में ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हुई जो सर्वसाधारण को अपनी ओर आकर्षित कर सके और जिसमें गृहस्थों के लिए भी मोक्ष या निर्वाण की व्यवस्था हो। प्रथम शताब्दी ईस्वी में महायान मत के उदय ने इस आवश्यकता को पूरा किया। महायान मत की मुख्य विशेषताएं थीं:—

प्रकार अलग-अलग नहीं, बल्कि एक हैं।' "जब अनन्त प्राणों के साथ अपने प्राण का वैसा मिलन हो, जैसा मिलन नदियों का समुद्रों के साथ होता है, तभी अनन्त जीवन की प्राप्ति होती है। अमरता अथवा निर्वाण प्राप्त करने से नहीं।" शान्तिदेव के अनुसार अपने सह बन्धुओं को दुःख से मुक्ति दिलाना निर्वाण से कहीं अधिक श्रेयस्कर है। इस प्रकार शान्तिदेव ने सातवीं शताब्दी में सारी मानवता की अभिन्न एकता का स्वप्न देखा था। उनका मत था कि इस दुःखमय जगत् में यदि सुख की सृष्टि करनी हो तो इसको खड-खड करके अनेक देशों, अनेक जातियों या अनेकजनों के रूप में न देखकर एक अखड जगत् या प्राणिलोक के रूप में ही देखना चाहिए।[1]

संस्कृत भाषा का प्रयोग—हीनयान का साहित्य पालि भाषा में रचा गया था। परन्तु महायान के आचार्यों ने अपने साहित्य की संस्कृत भाषा में रचना की। अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यमित्र, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि विद्वानों ने महायान मत को सुदृढ दार्शनिक आधार प्रदान किया। इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ संस्कृत भाषा तथा साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

बौद्ध-दर्शन के सम्प्रदाय—हीनयान बौद्धमत के दो दार्शनिक सम्प्रदाय हैं-(१) वैभाषिक और (२) सौत्रान्तिक। इन में मुख्य मतभेद सत्ता के सबन्ध में है।

१. **वैभाषिक**-इस मत के अनुसार आन्तरिक और बाह्य अथवा मानसिक और भौतिक दोनों ही जगत् सत्य हैं। मानसिक विज्ञान, विचार और भावनाएँ तथा बाह्य विषय, वस्तु और पदार्थ समानरूप से सभी सत्य हैं। वस्तु और विचार सभी को सत्य मानने के कारण वैभाषिक मत को सर्वास्तिवाद भी कहते हैं। इस मत की दृष्टि से बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है।

२. **सौत्रान्तिक**—वैभाषिकों की तरह यह सम्प्रदाय भी मानसिक और भौतिक दोनों जगत् को सत्य मानता है। इस के अनुसार बाह्य पदार्थों का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। तथापि बाह्य पदार्थ वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं।

महायान मत के दार्शनिक संप्रदाय—महायान बौद्धमत के भी दो दार्शनिक सम्प्रदाय हैं—(१) योगाचार या विज्ञानवाद और (२) शून्यवाद या माध्यमिक।

१. **विज्ञानवाद या योगाचार**—विज्ञानवाद या योगाचार सम्प्रदाय के संस्थापक आर्य मैत्रेय (तीसरी शताब्दी ई०) थे। इसका प्रसार असग वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों ने किया। इस सम्प्रदाय के अनुसार केवल चित्त या विज्ञान ही एकमात्र सत्य है। इसीलिए

१. देखिए, दिनकर, संस्कृति के चारअध्याय, पृ० १९९

स मत को विज्ञानवाद भी कहते हैं। चित्त या विज्ञान के अतिरिक्त संसार
म कुछ भी सत्य नहीं है। बाह्य पदार्थ, जैसे पहाड़, वृक्ष, नदी आदि काल्प-
निक हैं, उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। चित्त के विकल्प या मानसिक
विज्ञान ही बाह्य पदार्थों के रूप में प्रतीत होते हैं। संक्षेप में सत्य मानसिक है,
भौतिक नहीं।

२. **शून्यवाद या माध्यमिक**—शून्यवाद या माध्यमिक बौद्ध दर्शन का
सबसे महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन (दूसरी शताब्दी ई०)
तथा अन्य प्रसिद्ध आचार्य आर्यदेव चन्द्रकीर्ति और शान्तरक्षित थे। शून्यवाद
के इन आचार्यों का भारत के महान् दार्शनिकों में स्थान है। नागार्जुन के
अनुसार आन्तरिक और बाह्य दोनों ही जगत् शून्य हैं। सब कुछ ही शून्य
है। शून्य ही माध्यमिकों की दृष्टि में एकमात्र तत्त्व है, इसलिए इस मत
को शून्यवाद भी कहा जाता है। शून्य नामक यह परम तत्त्व तर्क और
बुद्धि की शक्ति से परे है। उसे बुद्धि और तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता,
क्योंकि बुद्धि की शक्ति सीमित होती है। शून्यता मुख्यतया दो प्रकार की
मानी गयी है—(१) अस्तित्व-शून्यता और (२) विचार-शून्यता।

अस्तित्व-शून्यता—बाह्य जगत् के सभी पदार्थ कारणों और परिस्थितियों
पर निर्भर रहते हैं और उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। उनमें
कोई स्थायी गुण या स्वरूप नहीं होता। विचार-शून्यता का तात्पर्य यह है
कि विचारों में भी कोई स्थायी गुण नहीं होता, इसलिए इनके वास्तविक
स्वरूप को बताना संभव नहीं है। यह ज्ञान कि बाह्य जगत् के सब पदार्थ
तथा विचार समान रूप से निःस्वरूप (स्वरूपरहित) हैं, सच्ची 'शून्य
दृष्टि है। शून्य दृष्टि से अभिप्राय है विचारों और दृष्टिकोणों से ऊपर
उठ जाना, क्योंकि बुद्धि ही सारी भ्रान्ति उत्पन्न करती है। माध्यमिक
सम्प्रदाय का यह शून्य उपनिषदों के अनिर्वचनीय (जिसका वर्णन न किया
जा सके) ब्रह्म के समकक्ष है।

वज्रयान—कालान्तर से बौद्ध धर्म में वज्रयान का विकास हुआ।
वज्रयान में तन्त्र-मन्त्र का विशेष महत्त्व है। पाँचवीं शताब्दी बाद वज्रयान का
प्रभाव बढ़ने लगा। गुह्य समाज आदि अनेक तन्त्र-ग्रन्थ लिखे गए। वज्रयान
में वज्र को एक अलौकिक तत्त्व के रूप में माना गया है। इस मत के
अनुसार मनुष्य मन्त्रों तथा तान्त्रिक क्रियाओं का अभ्यास करके वज्रसत्त्व
बन सकता है। वज्रयान की तरह तन्त्रयान का भी विकास हुआ। इन मतों
में तारा आदि देवियों की कल्पना की गई। तान्त्रिक क्रियाओं के बढ़ जाने
के कारण बौद्ध धर्म का स्वरूप बदल गया।

बौद्ध साहित्य—बौद्ध धर्म-ग्रन्थ त्रिपिटक कहलाते हैं। त्रिपिटक का
अर्थ है तीन पिटारियाँ। यह पालि भाषा में हैं। इनके नाम हैं—विनयपिटक,
सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुओं के संयम

और अनुशासन के नियम दिए हुए हैं। सुत्तपिटक में महात्मा बुद्ध की नैतिक शिक्षाएँ संकलित हैं। अभिधम्मपिटक में बुद्ध की शिक्षाओं में उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख है।

बौद्ध धर्म का प्रसार—पूर्वी भारत में उदित हुआ बौद्ध धर्म शीघ्र ही भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में फैल गया। भारत की सीमाओं को लाँघकर यह धर्म मध्य-एशिया, कोरिया, चीन, जापान, तिब्बत, नेपाल आदि देशों में फैल गया। दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों में भी इसका व्यापक प्रसार हुआ। लंका, बर्मा, कम्बुज (कम्बोडिया) चम्पा (वियतनाम), इण्डोनेशिया स्याम और मलय आदि देश भी बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ गए। बौद्ध धर्म का इतना व्यापक प्रसार विश्व इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। यह प्रसार कई कारणों से संभव हुआ। महात्मा बुद्ध के महान् व्यक्तित्व एवं त्यागपूर्ण जीवन ने जनसाधारण को आकर्षित किया। बौद्ध धर्म सदाचार के नियमों पर आधारित, कर्मकाण्ड से मुक्त एक सरल धर्म था। अतः यह बुद्धिवादी लोगों में तथा निम्न वर्ग में लोकप्रिय हुआ। यह मानववादी धर्म था जिसके द्वार सब के लिए खुले थे। इसमें किसी प्रकार का जाति-भेद न था। अतः यह धर्म निम्न वर्गों में अधिक लोक-प्रिय हुआ। इसके प्रसार में बौद्ध संघ ने महत्वपूर्ण योग दिया। संघ एक अनुशासित और भली प्रकार संगठित संस्था थी और उसके भिक्षु-भिक्षुणी नियमित रूप से घूम-घूम कर धर्म का प्रचार करते थे। बौद्ध धर्म के प्रसार में राज्याश्रय का भी बहुत महत्त्व था। मौर्य सम्राट् अशोक तथा कुषाण सम्राट् कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया।

बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को देन—महात्मा बुद्ध तथा अन्य बौद्ध विचारकों ने अपनी शिक्षाओं में सदाचार के उच्च आदर्शों—क्षमा, अहिंसा, शील (सच्चरित्र), विनय, मानव-कल्याण, करुणा आदि पर बल दिया। महायान मत ने करुणा के विचार को विकसित किया और समस्त दुःखी मानवता को दुःख से मुक्ति दिलाने का संकल्प लिया। इन आदर्शों ने भारतीय जन-जीवन में नैतिक चेतना जागृत की। बौद्ध धर्म ने ऊँच-नीच के भेद पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया और सब की समानता की घोषणा की। नारी को भी संघ में सम्मिलित होने तथा अपना आध्यात्मिक विकास करने का पूर्ण अधिकार प्रदान किया।

धार्मिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन—महात्मा बुद्ध ने एक ऐसा सरल धर्म भारत को दिया जो सब प्रकार के कर्मकाण्ड तथा अन्ध-विश्वासों से रहित था, जो बुद्धिवाद तथा मानववाद पर आधारित था और जो दुःखी मानव को मुक्त करने के लिए कृत-संकल्प था। बौद्ध-धर्म ने त्याग तथा संन्यास (निवृत्ति) की विचार-धारा को भारत में लोकप्रिय बनाया। महायान बौद्ध संप्रदाय ने बुद्ध तथा बोधिसत्वों को देवता माना और

उनकी मूर्तियों की पूजा प्रारम्भ की । इसके फलस्वरूप पौराणिक हिन्दू धर्म में भी आगे जाकर मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ हुआ । बौद्ध-संघ का संगठन धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था । इस संगठन प्रणाली को हिन्दुओं के संप्रदायों ने भी अपनाया । उनके मठों तथा संगठनों पर बौद्ध संघ का प्रभाव आज भी स्पष्ट है ।

बौद्ध साहित्य तथा बौद्धिक स्वतन्त्रता—हीनयान के लेखकों ने पालि भाषा के साहित्य को तथा महायान के लेखकों ने संस्कृत भाषा के साहित्य को समृद्ध बनाया । ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बौद्धों की महत्वपूर्ण देन बौद्धिक स्वतन्त्रता है । महात्मा बुद्ध ने स्वतन्त्र विचार को हमेशा प्रोत्साहन दिया । उन्होंने अपने शिष्यों को 'आत्म-दीप' (स्वय मार्ग दर्शक) होने का उपदेश दिया । इसी कारण बौद्ध दार्शनिकों ने दर्शन की समस्याओं पर बिना किसी प्रकार के पूर्व आग्रह के स्वतन्त्रता पूर्वक विचार किया । बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, वसुबन्धु तथा धर्मकीर्ति की संसार के महान् दर्शन-शास्त्रियों में गणना की जा सकती है । दिङ्नाग नामक बौद्ध आचार्य का भारतीय तर्कशास्त्र में बहुत ऊँचा स्थान है । शिक्षा-क्षेत्र में बौद्ध धर्म की देन अनुपम है । नालन्दा और विक्रमशिला के विश्व-विख्यात बौद्ध विश्वविद्यालय तथा अन्य अनेक बौद्ध मठ शताब्दियों तक भारत में शिक्षा प्रदान करते रहे ।

कला के क्षेत्र में देन—भारतीय कला का वास्तविक इतिहास बौद्ध कला कृतियों से ही प्रारम्भ होता है । अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भों से भारतीय कला का अत्यन्त गौरवपूर्ण अध्याय प्रारम्भ होता है । बौद्धों ने भारत में अनेक सुन्दर स्तूप, चैत्य, विहार तथा बुद्ध-प्रतिमाएँ बनवाईं । मूर्तिकला के क्षेत्र में बौद्धों की देन अद्वितीय है । गान्धार में यूनानी कला की प्रेरणा से बुद्ध की प्रतिमा बनना प्रारम्भ हुआ । शीघ्र ही गान्धार शैली बहुत प्रसिद्ध हो गई । बुद्ध-प्रतिमा के निर्माण ने भारतीय मूर्तिकला को महत्वपूर्ण प्रेरणा दी । शीघ्र ही मथुरा, नालन्दा और सारनाथ में मूर्तिकला की प्रसिद्ध शैलियाँ विकसित हुईं । सारनाथ केन्द्र की बुद्ध-प्रतिमा भारतीय मूर्तिकला का सुन्दरतम नमूना है । इस प्रतिमा के मुख से करुणा की भावना, अपार शान्ति की अनुभूति तथा अन्तरमुखता टपकती है । अजन्ता के विश्व प्रसिद्ध गुफा-चित्रों में अधिकतर दृश्य महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित हैं ।

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार—बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति का मध्य-एशिया, चीन, कोरिया, मञ्चूरिया, जापान, लंका, बर्मा, नेपाल, तिब्बत तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुमात्रा, मलाया, कम्बोडिया, वियतनाम, इण्डोनेशिया आदि देशों में प्रसार हुआ ।

बौद्ध धर्म का आधुनिक युग के लिए महत्व—आज के वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी युग में बौद्ध धर्म संसार के लिए विशेष आकर्षण रखता है ।

आधुनिक युग का बुद्धिवादी व्यक्ति ऐसे धर्म की अपेक्षा करता है, जो सब प्रकार के कर्मकाण्ड तथा अन्ध-विश्वासों से मुक्त हो और जो केवल बुद्धिवाद और सदाचार पर आधारित हो। आज हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो सारी मानवता की एकता पर बल दे। आप देखेंगे कि बौद्ध धर्म ही एक मात्र ऐसा धर्म है जो आज के युग की मांग को पूरा कर सकता है। बौद्ध धर्म, जैसा हम पहले बता चुके हैं, कर्मकाण्ड तथा अन्ध-विश्वासों पर नहीं, वरन् बुद्धिवाद और सदाचार पर आधारित है। यही नहीं, यह धर्म सारी मानवता को दुःख से मुक्त कराने के लिए कृत-संकल्प है। आज विभिन्न राजनीतिक विचार-धाराओं तथा स्वार्थों के संघर्ष के कारण विश्व-युद्ध का खतरा उपस्थित है और मानव का अस्तित्व संकट में पड़ा है। ऐसे समय अहिंसा, पंचशील और करुणा के आदर्शों पर आधारित बौद्ध धर्म निश्चय ही विश्व-शान्ति की आशा दिला सकता है।

योग

सांख्य—सैद्धान्तिक दृष्टि से योग सांख्य-दर्शन पर आधारित है। सांख्य में २५ तत्त्व माने गए हैं, जिनमें प्रकृति और पुरुष ये दो आधारभूत तत्त्व हैं। प्रकृति जड़ तत्त्व है और पुरुष चेतन तत्त्व।

प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से सृष्टि-रचना—सांख्य के अनुसार सृष्टि की रचना ईश्वर द्वारा नहीं हुई; यह प्रकृति और पुरुष के संयोग का फल है। प्रकृति एक है, पर सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण इसके अंग हैं। तीन गुणों का यह विचार सांख्य की भारतीय दर्शन को महत्त्वपूर्ण देन है। तीन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, किन्तु पुरुष के संयोग से प्रकृति के इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और प्रकृति का विकास प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृति से सर्वप्रथम महत् या बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है और उससे क्रमशः अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्राएँ तथा पंच महाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) उत्पन्न होते हैं। महाभूतों के बाद पर्वत, वृक्ष, जीवों के भौतिक शरीर आदि पैदा होते हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति का यह विकास ही सृष्टि-रचना की प्रक्रिया है और इसका उद्देश्य पुरुष को भोग और अन्त में मोक्ष प्राप्त कराना है।

पुरुष का स्वरूप—प्रकृति परिवर्तनशील, सक्रिय तथा जड़ है। इसके विपरीत पुरुष विकाररहित, निष्क्रिय और चेतन तत्त्व है। पुरुष न कर्ता है और न भोक्ता। वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जो प्रकृति के विकार हैं, उनसे भिन्न है। परन्तु जब वह देह आदि प्रकृति के विकारों से अपने को एक समझने लगता है, तब वह कर्ता और भोक्ता बन जाता है और कर्मफल से बंधकर दुःख भोगता है।

योग—योग सांख्य-दर्शन का व्यावहारिक पूरक है। मन को एकाग्र करने के लिए प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि जिन व्यावहारिक साधनों की

आवश्यकता होती है उसका उल्लेख योग-शास्त्र में मिलता है। भारत में योग की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आयी है। प्राचीन सिन्धु-सभ्यता के युग की एक ध्यान-मग्न मूर्ति मिली है जो सम्भवतः योगी की है। उपनिषदों में भी योग का उल्लेख है। महर्षि पतंजलि (१५० ई० पू०) द्वारा रचित 'योग-सूत्र' योग दर्शन का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

योग की परिभाषा—पतंजलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार की है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् 'चित्त-वृत्तियों का निरोध करना योग है'। चित्त चंचल है और मनुष्य के लिए कोई न कोई समस्या उत्पन्न करता रहता है। योग चंचल चित्त को एकाग्र करने की साधना है। प्रकृति पुरुष के लिए बन्धन बनाती है। अतएव पुरुष योग द्वारा प्रकृति के चित्त तत्व से छुटकारा पाने का प्रयत्न करे, क्योंकि चित्त के माध्यम से ही पुरुष पर संसार का प्रभाव पड़ता है।

योग के आठ अंग—चित्त से छुटकारा पाने के लिए योग के आठ अंग बताए गए हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७ ध्यान और ८. समाधि। यम के द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सम्पत्ति न रखना) इन व्रतों की सिद्धि की जाती है। नियम के अन्तर्गत शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर भक्ति) इनका पालन किया जाता है। यम और नियम के द्वारा प्रारम्भिक नैतिक साधना के पश्चात् आसन का अभ्यास होता है। जिस विधि से बैठने पर साधक को स्थिरता और सुख प्राप्त हो सके वही उसके लिए उपयुक्त आसन है। आसन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। श्वास की गति का संयम प्राणायाम है। प्राणायाम के द्वारा धारणा की साधना की जाती है। चित्त को किसी वस्तु पर स्थिर करना धारणा है। प्रत्याहार से इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाया जाता है। धारणा के द्वारा चित्त को किसी एक स्थान (हृदय-कमल, नासिका का अग्रभाग अथवा सूर्य, चन्द्र आदि बाहर की कोई वस्तु) में बांधा जाता है। उसी स्थान या वस्तु पर चित्त को लगातार लगाए रखना ध्यान है। ध्यान की सर्वोच्च अवस्था समाधि है, जिसमें ध्येय के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता। समाधि की दो अवस्थाएं हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त में ध्येय का ज्ञान रहता है और उससे अपनी भिन्नता का भी भास रहता है। इस समाधि में वितर्क, विचार आदि रहते हैं। इससे ऊंची स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें चित्त-वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता। ... पुरुष का अमर स्वरूप ... या मोक्ष प्राप्त होता है। कैवल्य द्वारा पुरुष ... है जिसमें वह प्रकृति के बन्धन से मुक्त होता है।

योग में ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई है। अतः इसे 'सेश्वर सांख्य' (ईश्वर-युक्त सांख्य) भी कहते हैं, परन्तु यह ईश्वर की कल्पना अधूरी है। ईश्वर सृष्टि का कर्ता नहीं, केवल एक पुरुष विशेष है।

गीता में योग की व्याख्या—योग के महत्त्व को गीता में पूरी तरह स्वीकार किया गया है। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनों का अभ्यास करने वालों के लिए योग की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि इससे उत्तम प्रकार के स्वास्थ्य तथा मनोबल की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण ने योग की सुन्दर परिभाषा दी है—'योग न तो कोई चमत्कार है और न शरीर को पीड़ा पहुँचाना ही योग है। जो अपने आहार और विहार में सन्तुलित है, जो कर्म-चेष्टाओं में अति नहीं करता, जो सोने और जागने में नियम का पालन करता है, उसी को योग-साधन ठीक है'[1]।

योग-दर्शन की महत्ता—योग-दर्शन भारतीय धर्मों को सदा से प्रभावित करता रहा है। प्रकृति, पुरुष, त्रिगुण—सत्, रज, तम, और सृष्टि रचना सम्बन्धी सांख्य दर्शन के विचार अधिकांश भारतीय दर्शनों तथा मतों में स्वीकार किये गये हैं। योग—साधना की विधियाँ—आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि आदि का भी अनेक दर्शनों तथा मतों में ग्रहण हुआ है। व्यावहारिक उपयोग के कारण योग का महत्त्व सदा रहा है। योग को मानव-व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास का साधन माना गया है। बौद्ध तथा जैन मतों में योग की वैसी ही प्रतिष्ठा है जैसी पतञ्जलि के योग-सूत्र में। बौद्ध-मत के अष्टांगिक-मार्ग की सम्यक् समाधि योग की ही सूचक है।

१. गीता, ६.१६–१७

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारतीय संस्कृति के मूलभूत धार्मिक विचारों का उल्लेख कीजिए।
२. ब्रह्म और आत्मा के संबन्ध में उपनिषदों में क्या कहा गया है?
३. उपनिषदों की शिक्षाओं का उल्लेख कीजिए। उपनिषदों के विचार किस प्रकार वैदिक धर्म से भिन्न हैं?
४. गीता के निष्काम कर्मयोग तथा भक्तियोग पर एक लेख लिखिए।
५. जैन धर्म की प्रमुख शिक्षाओं का उल्लेख कीजिए।
६. महात्मा बुद्ध के जीवन तथा शिक्षाओं के बारे में बताइए।
७. बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए। महायान बौद्धमत की विशेषताएँ क्या हैं?
८. जैन और बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की तुलना कीजिए।
९. निम्नलिखित पर संक्षेप में टिप्पणी कीजिए :
(१) गीता में आदर्श मानव की कल्पना, (२) स्याद्वाद का सिद्धान्त, (३) प्रतीत्य-समुत्पाद (४) योग-दर्शन के आठ अंग।

3

मूलभूत सामाजिक संस्थाएँ

कौटुम्बिक जीवन एवं व्यवस्था

कुटुम्ब सामाजिक जीवन की मूलभूत इकाई है। छोटे बड़े सभी संगठनों में जो समाज को विकसित करते हैं, कुटुम्ब से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई नहीं है। कुटुम्ब में थोड़ा सा भी परिवर्तन समाज की स्थिति को बदल देता है।[1] सभ्यता के उदय के साथ ही कुटुम्ब की संस्था का जन्म हुआ। हम आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में संगठित कौटुम्बिक जीवन का रूप देखते हैं। आर्यों का कुटुम्ब पितृसत्ता पर आधारित था अर्थात् पिता कुटुम्ब का अध्यक्ष होता था।

संयुक्त कुटुम्ब—वैदिक काल में ही संयुक्त कुटुम्ब की स्थापना हो चुकी थी। संयुक्त कुटुम्ब में माता-पिता और बच्चों के अलावा तीन पीढ़ी तक के व्यक्ति शामिल होते थे। संपत्ति विभाजन के मामले में तीन पीढ़ी तक अधिकार माना जाता था। कुटुम्ब की एकता तीन, चार पीढ़ियों तक चलना सामान्य बात थी। कुटुम्ब में दास तथा भृत्य भी शामिल होते थे। संयुक्त कुटुम्ब में सभी लोग एक ही गृह में रहते हुए संपत्ति के भागीदार बनते थे। बृहस्पति ने कुटुम्ब को एक संस्था माना है जो एकत्र भोजन करती हुई वास करती हो।[2]

संयुक्त कुटुम्ब में पिता का सर्वोच्च स्थान है। जैसे राजा प्रजा पर शासन करता है, वैसे ही पिता कुटुम्ब पर शासन करता है।[3] संतान की रक्षा करने से ही पिता नाम सार्थक है। पिता ही पुत्र का गुरु है। उसे अपराधी पुत्र को दण्ड देने का भी अधिकार है। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में पिता का कुटुम्ब तथा उसकी सम्पत्ति पर अत्यधिक अधिकार था। परन्तु परवर्ती काल में उसके अधिकार सीमित होते गए।[4] परिवार में पुत्र का अनेक दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्व था। यह धारणा थी कि 'आत्मा

---

१ आर० एम० मेकलवर और पेज, सोसायटी पृ० २४०

बृहस्पति स्मृति, २४।६ एकपाकेन वसनाय।

२. नारद स्मृति १३।३८

३ नारद स्मृति १. ३२-४२

४. Jolly, *Hindu Law & Custom* p. 83.

वै जायते पुत्रः' अर्थात् आत्मा ही पुत्ररूप में जन्म लेती है। इस प्रकार मनुष्य पुत्र द्वारा ही अमरता प्राप्त करता है। पुत्र उत्पन्न करना ही विवाह का मुख्य उद्देश्य माना गया है। पुत्र शब्द का अर्थ है 'पुंम्' नामक नरक से पितरों की रक्षा करने वाला।' पुत्र उत्पन्न करते ही पिता पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता था। पुत्र पर ही कौटुम्बिक एवं जातीय विकास निर्भर था। ज्येष्ठ (बड़े) पुत्र का कुटुम्ब में विशिष्ट स्थान माना गया है। उसके अधिकार एवं कर्त्तव्य अधिक हैं। ज्येष्ठ पुत्र ही श्राद्ध में पिण्ड देने का अधिकारी है। पिता की मृत्यु के बाद छोटे भाई बड़े भाई के ही अधीन रहते हैं। उसका कर्तव्य है कि वह अपने भाइयों का पुत्र के समान पालन करे। परन्तु ज्येष्ठ पुत्र का यह महत्त्व उसके कर्त्तव्यों पर आधारित है। माता का भी कुटुम्ब में उच्च स्थान है। कुछ स्मृतियों में माता को पिता से उच्च स्थान दिया गया है। वह पिता से हजार गुना अधिक श्रद्धेय बताई गई है।

धर्मशास्त्र शास्त्रों में बंटवारे की प्रशंसा नहीं करते और बड़े सम्मिलित कुटुम्ब पर ही आदर्श रखते हैं। मनु का वचन है कि कुटुम्ब के सदस्यों को छोड़ने पर पाप लगता है। पिता की मृत्यु के बाद भी बड़े पुत्र के संरक्षण में संयुक्त कुटुम्ब पूर्ववत् चलता रहे—यह धर्मशास्त्रों की व्यवस्था है। माता-पिता की मृत्यु के बाद सभी भाई मिलकर उनकी सम्पत्ति को बराबर बाँट सकते हैं पर अधिक अच्छा तो यह है कि छोटे भाई बड़े भाई के अधीन वैसे ही रहें जैसे पिता के साथ रहते थे। संयुक्त परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों का भली प्रकार पालन करने पर ही बड़े पुत्र को 'ज्येष्ठांश' (पैतृक संपत्ति का अतिरिक्त भाग) पाने का अधिकार है, अन्यथा नहीं।

संयुक्त कुटुम्ब में सौहार्द तथा परस्पर प्रेम की भावना होना आवश्यक माना जाता था। वैदिक साहित्य में यह प्रार्थना है—'सहृदयता, मन में शुद्ध विचारों की प्रतिष्ठा, परस्पर वैर न करना, पारस्परिक प्रेम हम सभी कुटुम्ब के सदस्य वैसे ही करें जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति करती है। पुत्र माता-पिता के प्रति और पत्नी पति के प्रति, भाई भाई के प्रति और बहिन बहिन के प्रति मधुर एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार करें। एकमति और कर्मी होकर सभी परस्पर मधुर भाषण करें'।[1]

सम्पत्ति, उत्तराधिकार एवं विभाजन—प्रारम्भ में संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति में सदस्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्मिलित नहीं थी। परन्तु बाद में कुटुम्ब की सम्पत्ति से अलग व्यक्तिगत संपत्ति रखने का अधिकार न रहा। मनु पुत्र, स्त्री और दास की सम्पत्ति का स्वामी कुटुम्ब के अध्यक्ष को मानता था। स्त्री [illegible] सम्पत्ति जिसे 'स्त्रीधन' कहा जाता था,

[illegible] की 'प्राचीन भारतीय

[illegible] २८५।

अलग रख सकती थी। यह वह दहेज (शुल्क) या उपहार होता था जो उसे विवाह के समय मिलता था। इसका वह स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग कर सकती थी।

कुटुम्ब की सम्पत्ति का अध्यक्ष पिता होता था। सामान्यतः पिता की मृत्यु के बाद ही सम्पत्ति का पुत्रों में विभाजन होता था। परन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा का कथन है कि पुत्र पिता के जीवित रहते भी पिता से सम्पत्ति का विभाजन करा सकते हैं, क्योंकि उनका कुटुम्ब की संपत्ति में अधिकार होता है। यदि पिता के समय में पुत्र अलग हों तो सबको सम्पत्ति में समान अंश मिलता था। परन्तु पिता की मृत्यु के बाद अलग होने पर ज्येष्ठ पुत्र को, यदि वह अपने छोटे भाइयों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करे, तो सम्पत्ति का अतिरिक्त अंश (ज्येष्ठांश) भी मिलता था।

उत्तराधिकार के नियम जटिल थे। धर्मशास्त्र उत्तराधिकार के प्रसंग में बारह प्रकार के पुत्रों तथा उनके सम्पत्ति पर दावों का उल्लेख करते हैं। इनमें दत्तक (गोद लिया हुआ) पुत्र भी शामिल है। स्वाभाविक उत्तराधिकारी विवाहिता पत्नी से उत्पन्न वयस्क पुत्र होते थे। चौथी पीढ़ी तक के निकट के सम्बन्धी उत्तराधिकारी माने जाते थे। बड़े पुत्र को योग्य होने पर सम्पत्ति का बीसवां भाग अधिक मिलता था जिसे ज्येष्ठांश कहा जाता है। सामान्यतः स्त्री को उत्तराधिकार का अधिकार नहीं था। पर याज्ञवल्क्य तथा उसके टीकाकार विज्ञानेश्वर ने उत्तराधिकारियों की एक सूची में पुत्र के बाद स्त्री और कन्या का भी उल्लेख किया है। पिता की मृत्यु पर अविवाहित कन्या भाइयों की तरह सम्पत्ति में समान अंश प्राप्त कर सकती है। पुत्रहीन पिता कन्या को भी नियुक्त कर सकता था। मनु के अनुसार इस प्रकार की कन्या के पुत्र को मातामह (नाना) की सम्पत्ति में अधिकार है। परन्तु यदि अविवाहित कन्या जीवित है तो अन्य कन्या के पुत्र को मातामह की सम्पत्ति में अधिकार न रहेगा।

संयुक्त कुटुम्ब के आदर्श—संयुक्त कुटुम्ब पारस्परिक सौहार्द तथा प्रेम पर आधारित था। संयुक्त कुटुम्ब के वातावरण में पले व्यक्ति में श्रद्धा, पारस्परिक सहयोग, दया, सहानुभूति, धैर्य, सन्तोष आदि महान् गुणों का सरलता से विकास हो जाता था। बालकों में पिता, माता तथा आचार्यों के प्रति श्रद्धा पर बल दिया जाता था। बहुधा ब्राह्मणों के कुटुम्ब शिक्षा के केन्द्र होते थे, जहाँ रहकर विद्यार्थी विद्या पढ़ते थे। संयुक्त कुटुम्ब रहते हुए स्वार्थ की साधना पर नियन्त्रण रहता था। संकट के समय सदस्य एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते थे और परस्पर मिलकर का सामना कर पाते थे।

पंच महायज्ञ-धर्मशास्त्रों में हरेक कुटुम्ब में प्रतिदिन पांच महायज्ञ करने का विधान है। ये पंच महायज्ञ संस्कारों में गिने जाते हैं और निम्न हैं—

(१) ब्रह्मयज्ञ—वेद का अध्ययन और अध्यापन, (२) देवयज्ञ—इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवताओं के लिए अग्नि में घृत आदि की आहुति डालकर हवन करना, (३) पितृयज्ञ—अपने मृत पितरों के निमित्त तर्पण तथा श्राद्ध का आयोजन, (४) मनुष्ययज्ञ—अतिथि-सत्कार, (५) भूतयज्ञ—समस्त जीवों, जैसे कुत्ते, कौवे आदि के लिए भोजन डालना। जैसा कि इन पंच यज्ञों से प्रकट है, गृहस्थ का कर्तव्य सारे प्राणिमात्र के प्रति था। गृहस्थ के दैनिक जीवन में अतिथि-सत्कार का विशेष महत्व था।

तीन ऋण—धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ पर तीन ऋणों का भार होता था। (१) पितृ-ऋण, (२) ऋषि-ऋण, (३) देव-ऋण। ये एक प्रकार से सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक कर्त्तव्य थे, जिनका पालन करना प्रत्येक गृहस्थ का दायित्व था। सन्तान उत्पन्न करके पितृ-ऋण, स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण तथा यज्ञ द्वारा देव-ऋण चुकाना संभव था।

समाज में कुटुम्ब का महत्व—प्राचीन भारतीय समाज में कुटुम्ब का विशेष महत्व था। यह सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई थी। कुटुम्ब के नियम तथा परम्पराएं 'कुल-धर्म' कहलाते थे और उन्हें समाज तथा राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी।

संयुक्त कुटुम्ब नामक संस्था का भारतीय समाज तथा संस्कृति के स्वरूप को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योग रहा है। वस्तुतः संयुक्त कुटुम्ब का भारतीय सामाजिक जीवन में दीर्घ काल तक अस्तित्व भारतीय मनोवृत्ति के समष्टि की ओर झुकाव का परिणाम है।

आज के संघर्षमय जीवन में संयुक्त कुटुम्ब का पालन कठिन हो [illegible] कुटुम्ब की प्रथा को भारी [illegible] से इन्कार नहीं किया [illegible] है। संयुक्त परिवार के [illegible] नी और संकट के समय वे एक दूसरे की सहायता करते हैं। प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ तथा सुख से ऊपर उठकर सारे परिवार के हित की सोचते हैं। यदि प्रत्येक सदस्य अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार पूरा करे और कुटुम्ब पर भार न हो, तो संयुक्त कुटुम्ब में रहना जीवन का वरदान बन जाता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब सब प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्यों को पूरा करें। क्योंकि नित्य कलह होने पर तो संयुक्त-कौटुम्बिक जीवन अभिशाप बन जाता है।

सोलह संस्कार

संस्कार का अर्थ—भारतीय विचारकों ने मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की जो योजना रखी, उसका प्रथम सोपान संस्कार तथा द्वितीय सोपान आश्रम है। मनुष्य-जीवन गर्भाधान से शुरू होता है और श्मशान में उसका

प्रयोग कर सकती थी। यह वह दहेज (शुल्क) या उपहार होता था जो उसे विवाह के समय मिलता था। इसका वह स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कर सकती थी।

कुटुम्ब की सम्पत्ति का अध्यक्ष पिता होता था। सामान्यतः पिता की मृत्यु के बाद ही सम्पत्ति का पुत्रों में विभाजन होता था। परन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा का कथन है कि पुत्र पिता के जीवित रहते भी पिता से सम्पत्ति का विभाजन करा सकते हैं, क्योंकि उनका कुटुम्ब की संपत्ति में अधिकार होता है। यदि पिता के समय में पुत्र अलग हों तो सबको सम्पत्ति में समान अंश मिलता था। परन्तु पिता की मृत्यु के बाद अलग होने पर ज्येष्ठ पुत्र को, यदि वह अपने छोटे भाइयों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करे, तो सम्पत्ति का अतिरिक्त अंश (ज्येष्ठांश) भी मिलता था।

उत्तराधिकार के नियम जटिल थे। धर्मशास्त्र उत्तराधिकार के प्रसंग में बारह प्रकार के पुत्रों तथा उनके सम्पत्ति पर दावों का उल्लेख करते हैं। इनमें दत्तक (गोद लिया हुआ) पुत्र भी शामिल है। स्वाभाविक उत्तराधिकारी विवाहिता पत्नी से उत्पन्न वयस्क पुत्र होते थे। चौथी पीढ़ी तक के निकट के सम्बन्धी उत्तराधिकारी माने जाते थे। बड़े पुत्र को योग्य होने पर सम्पत्ति का बीसवां भाग अधिक मिलता था जिसे ज्येष्ठांश कहा जाता है। सामान्यतः स्त्री को उत्तराधिकार का अधिकार नहीं था। पर याज्ञवल्क्य तथा उसके टीकाकार विज्ञानेश्वर ने उत्तराधिकारियों की एक सूची में पुत्र के बाद स्त्री और कन्या का भी उल्लेख किया है। पिता की मृत्यु पर अविवाहित कन्या भाइयों की तरह सम्पत्ति में समान अंश प्राप्त कर सकती है। पुत्रहीन पिता कन्या को भी नियुक्त कर सकता था। मनु के अनुसार इस प्रकार की कन्या के पुत्र को मातामह (नाना) की सम्पत्ति में अधिकार है। परन्तु यदि अविवाहित कन्या जीवित है तो अन्य कन्या के पुत्र को मातामह की सम्पत्ति में अधिकार न रहेगा।

संयुक्त कुटुम्ब के आदर्श—संयुक्त कुटुम्ब पारस्परिक सौहार्द तथा प्रेम पर आधारित था। संयुक्त कुटुम्ब के वातावरण में पले व्यक्ति में श्रद्धा, पारस्परिक सहयोग, दया, सहानुभूति, धैर्य, सन्तोष आदि महान् गुणों का सरलता से विकास हो जाता था। बालकों में पिता, माता तथा आचार्यों के प्रति श्रद्धा पर बल दिया जाता था। बहुधा ब्राह्मणों के कुटुम्ब शिक्षा के केन्द्र होते थे, जहां रहकर विद्यार्थी विद्या पढ़ते थे। संयुक्त में रहते हुए स्वार्थ की साधना पर नियन्त्रण रहता था। संकट सभी सदस्य एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने से और संकट का सामना कर पाते थे।

पंच महायज्ञ-धर्मशास्त्रों में हरेक कुटुम्ब में प्रति का विधान है। ये पंच महायज्ञ संस्कारों में गिने जाते

(१) ब्रह्मयज्ञ—वेद का अध्ययन और अध्यापन, (२) देवयज्ञ—इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवताओं के लिए अग्नि में घृत आदि की आहुति डालकर हवन करना, (३) पितृयज्ञ—अपने मृत पितरों के निमित्त तर्पण तथा श्राद्ध का आयोजन, (४) मनुष्ययज्ञ—अतिथि-सत्कार, (५) भूतयज्ञ—समस्त जीवों, जैसे कुत्ते, कौवे आदि के लिए भोजन डालना। जैसा कि इन पंच यज्ञों से प्रकट है, गृहस्थ का कर्तव्य सारे प्राणिमात्र के प्रति था। गृहस्थ के दैनिक जीवन में अतिथि-सत्कार का विशेष महत्त्व था।

तीन ऋण—धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ पर तीन ऋणों का भार होता था। (१) पितृ-ऋण, (२) ऋषि-ऋण, (३) देव-ऋण। ये एक प्रकार से सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक कर्त्तव्य थे, जिनका पालन करना प्रत्येक गृहस्थ का दायित्व था। सन्तान उत्पन्न करके पितृ-ऋण, स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण तथा यज्ञ द्वारा देव-ऋण चुकाना सम्भव था।

समाज में कुटुम्ब का महत्त्व—प्राचीन भारतीय समाज में कुटुम्ब का विशेष महत्त्व था। वह सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई थी। कुटुम्ब के नियम तथा परम्पराएं 'कुल-धर्म' कहलाते थे और उन्हें समाज तथा राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी।

संयुक्त कुटुम्ब नामक संस्था का भारतीय समाज तथा संस्कृति के स्वरूप को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वस्तुतः संयुक्त कुटुम्ब का भारतीय सामाजिक जीवन में दीर्घ काल तक अस्तित्व भारतीय मनोवृत्ति के समष्टि की ओर झुकाव का परिणाम है।

आज के संघर्षमय जीवन में संयुक्त कुटुम्ब का पालन कठिन हो गया है। आर्थिक दबाव के कारण सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा को भारी आघात पहुंचा है। तथापि संयुक्त कुटुम्ब के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा के गुण विचारणीय हैं। संयुक्त परिवार के सदस्यों को अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता नहीं रहती और संकट के समय वे एक दूसरे की सहायता करते हैं। प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ तथा सुख से ऊपर उठकर सारे परिवार के हित की सोचता है। यदि प्रत्येक सदस्य अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार पूरा करे और कुटुम्ब पर भार न हो, तो संयुक्त कुटुम्ब में रहना जीवन का वरदान बन जाता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब सब प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्यों को पूरा करें। क्योंकि नित्य कलह होने पर तो संयुक्त-कौटुम्बिक जीवन अभिशाप बन जाता है।

सोलह संस्कार

संस्कार का अर्थ—भारतीय विचारकों ने मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की जो योजना रखी, उसका प्रथम सोपान संस्कार तथा द्वितीय सोपान आश्रम हैं। मनुष्य-जीवन गर्भाधान से शुरू होता है और श्मशान में उसका

होता है । अतएव मनुष्य शरीर को स्वस्थ तथा दीर्घायु और मन को
तथा अच्छे संस्कारों वाला बनाने के लिए गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि
सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई है । संस्कार धर्मशास्त्र का पारि-
षिक शब्द है । संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी
र्य के लिए योग्य हो जाता है । संस्कार वह विलक्षण योग्यता है जिसके द्वारा
यक्ति अन्य क्रियाओं (जैसे उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन) के योग्य हो
जाता है तथा दोष से मुक्त हो जाता है ।

संस्कारों का उद्देश्य—संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य को अभ्युदय
(सांसारिक उन्नति) तथा मोक्ष के लिए पूर्ण समर्थ बनाना है । संस्कार
मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का विकास कर उसे पूर्ण बनाते हैं । पारिवा-
रिक जीवन में संस्कारों का विशेष महत्व है । मनु के अनुसार ये सोलह
संस्कार शरीर को शुद्धकर उसे आत्मा का उपयुक्त स्थान बनाते हैं ।

संस्कारों की संख्या के बारे में धर्मशास्त्रकारों में मतभेद है । गौतम
ने ४० संस्कार बताए हैं, परन्तु सामान्यतः सोलह संस्कार अनिवार्य
माने गए हैं जिनमें प्रमुख संस्कार निम्न हैं:—

गर्भाधान—यह प्रथम संस्कार है । गर्भ का धारण अथवा वीर्य की
गर्भाशय में स्थापना जिस क्रिया से होती है उसको गर्भाधान कहते हैं । सुश्रुत
के अनुसार गर्भाधान संस्कार के समय पुरुष की उम्र २५ वर्ष तथा कन्या की
अवस्था १६ वर्ष होनी चाहिए । दिन में शास्त्र की रीति से यज्ञ करके
रात्रि को गर्भाधान संस्कार करना चाहिए ।

पुंसवन—गर्भ में स्थित शिशु को पुत्र रूप देने के लिए यह संस्कार
किया जाता है । इसमें देवताओं की स्तुति कर उनसे पुत्र-प्राप्ति की
याचना की जाती है । इसके अतिरिक्त इसमें पुत्रोत्पत्ति तथा गर्भ-रक्षा के
लिए समर्थ कुछ आयुर्वेदिक औषधियों का भी प्रयोग किया जाता है ।

सीमन्तोन्नयन—इस संस्कार में पति के द्वारा पत्नी के केशपाश को
सजाकर उसमें सीमन्त या मांग काढ़ी जाती है । सीमन्तोन्नयन के अवसर
पर सामूहिक रूप से उत्सव मनाया जाता है । गर्भ के उपरान्त तीसरे या
चौथे मास में यह संस्कार मनाया जाता था ।

विष्णुबलि—गर्भ के आठवें मास में विष्णु-बलि संस्कार किया जाता
था । इसमें विष्णु के लिए ६४ बलियाँ अर्पित की जाती थी । यह संस्कार
गर्भ की रक्षा के लिए तथा निरापद प्रसव के उद्देश्य से किया जाता था ।

जातकर्म—यह संस्कार पुत्र-जन्म पर होता है । वैदिक काल में
पकाये हुये रोट को वैश्वानर (अग्नि) के लिए समर्पित करके कृतज्ञता
प्रकट की जाती थी । उपनिषद् में नवजात शिशु को गोद में लेकर जमे हुए
दूध और घी की हवि बनाकर हवन करने का विधान मिलता है । पिता
शिशु के दाहिने कान के समीप तीन बार वाक् कहता था । वह दही, मधु

तथा घी को स्वर्ण से मिश्रित करके पुत्र को खिलाते हुए शिशु के सौ वर्ष तक जीने की कामना करता था। इसके पश्चात् वह शिशु के कान में कहता था—'तुमको सविता, सरस्वती आदि देवता बुद्धि प्रदान करें।' इसके पश्चात् पिता शिशु को माता का दूध पीने के लिए देता था। पिता शिशु की माँ का अभिनन्दन करता था। इसके पश्चात् सब लोग शिशु को आशीर्वाद देते थे।

नामकरण—जन्म के ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कार होता है। पिता हों दो या चार अक्षरों का सुन्दर नाम रखता है और उस समय गृह-शुद्धि के लिए हवन, यज्ञ, भोज आदि किए जाते हैं।

कर्णवेध—यह संस्कार जन्म से तीसरे या पाँचवे वर्ष में किया जाता है। शिशु को स्नान कराकर वस्त्र पहनाए जाते हैं और फिर अच्छे वैद्य द्वारा पहले दाहिने कान को तथा फिर बायें कान को बेधा जाता है। इस संस्कार का स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्व है। कान के छेद से कुण्डल लटकाने की सुविधा हो जाती है। सुश्रुत के अनुसार कर्णवेध से आंत की वृद्धि रुक जाती है। आजकल यह संस्कार प्रचलित है।

निष्क्रमण—जन्म के चौथे मास में शिशु को पहली बार घर से बाहर निकालने की क्रिया निष्क्रमण संस्कार है। इसमें शिशु को घर से बाहर लाकर दिन में सूर्य तथा रात्रि में चन्द्रमा के दर्शन कराए जाते हैं। सूर्य ज्ञान-विज्ञान का निधान है, अतः सूर्य तथा चन्द्र के दिव्य दर्शन का शिशु के विकास पर सुखकर प्रभाव पड़ता है।

अन्न-प्राशन—छठे महिने में शिशु को पहली बार आहार देने की क्रिया अन्न-प्राशन संस्कार के रूप में मनायी जाती है। शिशु को गुड़ में, भात, मधु, दही और घी का मिश्रित भोजन दिया जाता है।

चूड़ाकर्म—इसे केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं। शिशु के जीवन के पहले या तीसरे वर्ष में उसके गर्भ के बालों को कटवाकर सिर पर केवल चूड़ा छोड़ दी जाती है। शिखा या चोटी रखने का प्रारम्भ इसी संस्कार से होता है। कुल की रीति के अनुसार सिर पर एक, तीन या पांच चूड़ छोड़ने का विधान है। केश काटने तथा चोटी रखने का स्वास्थ्य की दृष्टि से भी महत्व है।

उपनयन—इसे यज्ञोपवीत संस्कार भी कहते हैं। उपनयन का अर्थ है—'बालक को शिक्षा के लिए गुरु के समीप ले जाना।' विद्यार्थी के आचार्य द्वारा ब्रह्म विद्या के लिए स्वीकार किए जाने की विधि उपनयन संस्कार है। विद्यार्थी उत्तरीय और वस्त्र पहनकर, सिर का मुण्डन करवाकर, मेखला और दण्ड धारण करके उपनयन के लिए आचार्य के सम्मुख बैठता है और आचार्य होम करता है। इसके अनन्तर आचार्य ब्रह्मचारी के वस्त्र और हाथों को अपने हाथ से पकड़कर गायत्री मन्त्र का उपदेश

देता है। आचार्य ब्रह्मचारी को मेखला बांधकर और दण्ड देकर ब्रह्मचर्य व्रत का आदेश इन शब्दों में करता है—'तुम ब्रह्मचारी हो, जल पीओ, काम करो, दिन में मत सोओ, आचार्य के अधीन होकर वेद का अध्ययन करो।'

यह प्रमुख संस्कार माना गया है। इसको करने का अधिकार केवल द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों तक ही सीमित था। शूद्र इसे नहीं कर सकते थे। तीनों वर्णों के लिए अलग-अलग आयु निश्चित है। ब्राह्मण बालक का उपनयन आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें वर्ष में, तथा वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में करने का विधान गृह्यसूत्रों में है। मनु ब्राह्मण बालक का पांचवें वर्ष में, क्षत्रिय का छठे वर्ष में तथा वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन करने का निर्देश करता है। पहले उपनयन संस्कार स्त्रियों का भी होता था। परन्तु बाद में जब कन्याओं के विवाह की अवस्था कम कर दी गई तो उनकी शिक्षा बन्द हो गई। फलस्वरूप शिक्षण के प्रारम्भ के रूप में उनके उपनयन की प्रथा लुप्त होती गयी। कन्याओं का उपनयन विवाह के समय केवल धार्मिक विधान की पूर्ति के लिए होने लगा। मनु कन्या का उपनयन केवल दिखावे मात्र के लिए मानते हैं। उनका कहना है कि कन्याओं का उपनयन बिना मन्त्र पढ़े ही किया जाना चाहिए।

उपनयन संस्कार का महत्त्व—इस संस्कार का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व था। उपनयन के साथ विद्यार्थी ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर गुरु से वेद तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ करता था। शिक्षा देने वाला आचार्य उसका आध्यात्मिक पिता बनता और सावित्री उसकी माता। उपनयन के बाद बालक को वेद पढ़ने तथा गायत्री या सावित्री-मन्त्र के उच्चारण का अधिकार प्राप्त होता था। इस संस्कार द्वारा बालक के लिए शिक्षा-जगत् का द्वार खुलता था और उसका विद्वान् तथा गुणी पुरुषों से सम्पर्क स्थापित होता था। इस संस्कार का मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी था। इस संस्कार को पूर्ण कर बालक एक नये जीवन का प्रारम्भ करता था। उपनयन-संस्कार को दूसरा जन्म माना जाता था। इसे करने के बाद ही वह 'द्विज' कहलाता था और अपने वर्ण का पूर्ण सदस्य बनता था।

समावर्तन—ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति समावर्तन संस्कार से होती थी। इस संस्कार में विद्यार्थी आचार्य को दक्षिणा देकर उसका आशीर्वाद ग्रहण करता है और 'स्नान' करता है। वेदाध्ययन की समाप्ति पर ही इसका विधान है। इसे दीक्षान्त-संस्कार भी कह सकते हैं।

विवाह—यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार है जिसके द्वारा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। इस संस्कार में पित्रादि से अपनी कन्या का उसके योग्य गुणवान् वर को यज्ञ-वेदी में अग्नि के सामने दान किया जाता है। वर एवं वधू दोनों आजीवन परस्पर एक सूत्र में बंधे रहने की प्रतिज्ञा करते हैं। धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है।

आठ प्रकार के विवाह—(१) ब्राह्म—इस विवाह में कन्या का पिता विधिपूर्वक विवाह के योग्य अपनी पुत्री का दान सच्चरित्र एवं सुयोग्य वर को करता है। सब विवाहों में श्रेष्ठ होने के कारण ही इसे 'ब्राह्म' संज्ञा दी गई है। (२) दैव—इस विवाह में यजमान अपनी कन्या का दान यज्ञ कराने वाले पुरोहित को करता है। वर के देवकार्य (यज्ञ) में रत होने के कारण ही इस विवाह को 'दैव' कहते हैं। (३) आर्ष—इस विवाह में पिता अपनी पुत्री के दान के बदले में वर से एक गाय और एक बैल लेता है। इस प्रकार प्राप्त गाय बैल का प्रयोग यज्ञ-क्रिया में होता था, इसीलिए इस विवाह का नाम आर्ष पड़ा। (४) प्राजापत्य—इस विवाह का स्पष्ट उद्देश्य प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति है। इसमें पिता मधुपर्क आदि में वर का स्वागत कर उसे कन्या-दान करता है और यह कहता है—'तुम दोनों (पति, पत्नी) साथ रह कर धर्माचरण करो।' वास्तव में प्राजापत्य ब्राह्म विवाह के समान ही है। (५) गान्धर्व—यह प्रेम विवाह होता है। दुष्यन्त एवं शकुन्तला का विवाह इसका उदाहरण है। (६) आसुर—इसमें पति कन्या एवं उसके सम्बन्धियों को धन देकर वयस्का कन्या को ग्रहण करता है। इस प्रकार यह विवाह कन्या के विक्रय पर आधारित है। अनेक सूत्रकारों ने इस विवाह का विरोध किया है। (७) राक्षस—कन्या के पिता तथा सम्बन्धियों को हराकर या मारकर रोती हुई कन्या का अपहरण कर लेना राक्षस विवाह कहलाता है। यह प्रणाली आगे आकर क्षत्रियों में अधिक प्रिय बन गई थी। सूत्रकारों ने इस विवाह की निन्दा की है। (८) पैशाच—सोती हुई, बेहोश अथवा उन्मत्त कन्या के साथ बलात्कार करना पैशाच-विवाह है। पुरुष के पिशाच जैसे कर्म के कारण इस विवाह का नाम पैशाच पड़ा। यह सबसे निकृष्ट कोटि का विवाह था।

उपरोक्त आठ विवाहों में ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहों को धर्मशास्त्र धर्मसंगत मानते हैं। इनमें भी ब्राह्म और प्राजापत्य विवाहों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। गान्धर्व विवाह को कुछ सूत्रकार धर्मसंगत मानते हैं तो कुछ धर्म-विरुद्ध। शेष तीन विवाह—आसुर, राक्षस और पैशाच धर्मविरुद्ध माने गए हैं।

अन्तर्जातीय विवाह—यद्यपि समाज में सवर्ण विवाह ही अच्छे समझे जाते थे, अन्तर्जातीय विवाहों का भी प्रचलन था। अन्तर्जातीय विवाह दो प्रकार के होते थे—अनुलोम और प्रतिलोम। अनुलोम वह विवाह होता था जो पुरुष अपने से नीचे वर्ण की स्त्री के साथ करता था, जैसे, ब्राह्मण पुरुष का क्षत्रिय स्त्री के साथ विवाह और क्षत्रिय पुरुष का वैश्य स्त्री के साथ विवाह। इसके विपरीत जब कोई पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता था, तो वह प्रतिलोम विवाह कहलाता था, जैसे, क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री अथवा वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री। धर्मशास्त्रकारों ने

अनुलोम विवाह को मान्यता दी है परन्तु वे प्रतिलोम विवाहों का घोर विरोध करते हैं। प्रतिलोम विवाह धर्म-विरुद्ध कहे गए हैं और उनसे उत्पन्न संतान को अवैध माना गया है।

सगोत्र, सप्रवर और सपिण्ड विवाह का निषेध—धर्मशास्त्रों में माता-पिता के गोत्र, प्रवर तथा रक्त-सम्बन्ध के भीतर विवाह का निषेध है। गोत्र तथा प्रवर उस पूर्वज ऋषि के नाम के द्योतक होते हैं, जिससे किसी समुदाय विशेष की उत्पत्ति मानी गई हो। हिन्दू-समाज का प्रत्येक समुदाय किसी न किसी प्राचीन ऋषि—भारद्वाज, वशिष्ठ आदि को अपना प्रवर्तक मानता है। सामान्यतः सपिण्ड से अभिप्राय माता तथा पिता के रक्त-सम्बन्ध से है। माता-पिता के रक्त-संबन्ध को टालकर विवाह कुछ निश्चित पीढ़ियों तक करने का विधान है।

नियोग प्रथा—विशेष परिस्थितियों में धर्मशास्त्र नियोग प्रथा को मान्यता प्रदान करते हैं। पति के मृतक, नपुंसक अथवा रोगी होने पर उसकी स्त्री अपने देवर अथवा अन्य सगोत्र, सजातीय पुरुष के साथ नियोग स्थापित कर पुत्र उत्पन्न कर सकती थी। इस प्रकार नियोग से उत्पन्न पुत्र को स्मृतियों ने 'क्षेत्रज' पुत्र कहा है। किन्तु नियोग प्रथा बाद में बन्द होगई।

विवाह-विच्छेद या तलाक—अधिकांश धर्मशास्त्रकारों के अनुसार विवाह का विच्छेद नहीं हो सकता। मनु ने कहा है—'पति तथा पत्नी को धर्म, अर्थ एवं काम के विषय में एक दूसरे के प्रति सच्चा रहना चाहिए, और सदा यही प्रयत्न करना चाहिए कि वे कभी भी अलग न हो सकें ..।" "पति-पत्नी की पारस्परिक निष्ठा आमरण चलती जाय, यही पति एवं पत्नी का परम धर्म है।' मनु ने विवाह-सम्बन्ध को एक पवित्र और कभी भंग न होने वाला संस्कार माना है और स्त्री के पुनर्विवाह की मनाही की है। कौटिल्य का मत इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। कौटिल्य के मत में ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष एवं दैव नामक चार प्रकार के विवाहों का विच्छेद नहीं हो सकता। किन्तु गान्धर्व, आसुर तथा राक्षस विवाहों में परस्पर विद्वेष उत्पन्न हो जाने पर एक-दूसरे की सम्मति से तलाक हो सकता है। परन्तु बाद के काल में तलाक का अधिकार स्वीकार नहीं किया गया। बाद के लेखकों में केवल नारद ही ऐसा स्मृतिकार है जो विवाह-विच्छेद या तलाक की स्वीकृति देता है। नारद के अनुसार नपुंसक, सन्यासी तथा जातिच्युत पति को पत्नी छोड़ सकती है।

पंचमहायज्ञ—ये दैव संस्कार कहलाते हैं। प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य था कि वह इनका सम्पादन करे। इनका उल्लेख हम पहले ही कुटुम्ब के प्रसंग में कर चुके हैं।

अन्त्येष्टि संस्कार—यह जीवन का अन्तिम संस्कार है। इस संस्कार से शव को वैदिक मन्त्रों के साथ अग्नि को सौंप दिया जाता है।

संस्कारों का महत्त्व—मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए संस्कार महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। मनु के अनुसार गर्भाधान, जातकर्म (जन्म के समय का संस्कार), चौल या चूडा करण (मुण्डन संस्कार) तथा उपनयन संस्कार से माता-पिता के वीर्य एवं गर्भाशय के दोष दूर होते हैं। धर्म-शास्त्रों के अनुसार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण तथा समावर्तन संस्कारों के करने से व्यक्तित्व में पवित्रता आती है। परन्तु वास्तव में देखें तो नामकरण, अन्नप्राशन तथा निष्क्रमण आदि संस्कारों का केवल लौकिक महत्त्व ही था। उनमें बच्चे के प्रति माता-पिता का स्नेह प्रकट होता था तथा उन्हें उत्सव के रूप में मनाया जाता था। उपनयन संस्कार का आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व था। इस संस्कार के बाद ही बालक के लिए शिक्षा-जगत् का द्वार खुलता था और वह आचार्य तथा विद्वानों के सम्पर्क में आता था। इस संस्कार से उसका नया जन्म होता था और वह 'द्विज' कहलाता था। सामाजिक जीवन की दृष्टि से विवाह के संस्कार का अत्यधिक महत्त्व था। इसके द्वारा समाज को चलाने के लिए पारस्परिक सहयोग तथा प्रेम के आधार पर दो व्यक्तियों का—पति एवं पत्नी का—मिलन होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कार आध्यात्मिक, शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि के साथ-साथ मनुष्य के सामने भावी जीवन की उन्नति-शील योजना प्रस्तुत करते थे।

वर्तमान काल में उपनयन तथा विवाह संस्कारों का तो प्रचलन है, परन्तु अन्य संस्कारों की लोकप्रियता कम हो गई है। नामकरण, अन्नप्राशन तथा चौल या चूडाकर्म संस्कार भी समाज में प्रचलित हैं, किन्तु इनका स्मृतियों में निर्दिष्ट पुराना रूप बहुत कुछ बदल गया है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था : अर्थ एवं उद्देश्य—वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दुओं के सामाजिक जीवन का आधार रही है। वैदिक काल में आर्यों ने कार्य-विभाजन की दृष्टि से समाज को चार वर्णों तथा मानव-जीवन को चार आश्रमों में बाँटा था। ये चार वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र तथा चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इसी चार वर्णों तथा आश्रमों की व्यवस्था को वर्णाश्रम-धर्म के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ हम पहले वर्ण-व्यवस्था का वर्णन करेंगे। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक वर्ण के लिए उसका सामाजिक कर्त्तव्य या धर्म निर्धारित था, जिसका भली प्रकार पालन सामाजिक हित की दृष्टि से अनिवार्य था। वर्ण-व्यवस्था विभिन्न वर्णों में सामाजिक कर्त्तव्यों तथा वृत्तियों (आजीविका) के विभाजन द्वारा एक व्यवस्थित समाज स्थापित करने की योजना थी। इसका उद्देश्य समाज को उच्छृङ्खलता तथा अनावश्यक प्रति-स्पर्धा से बचाना था। धार्मिक कृत्य ब्राह्मणों को, राजनीतिक कार्य क्षत्रियों

को तथा क्षत्रिय वर्ग वैश्य एवं शूद्र वर्णों को नीचतर समाज में क्रमानुसार स्थापित किया गया था । वर्ण-व्यवस्था यद्यपि बाद के युग में भारी आलोचना का विषय बन गई है, परन्तु प्राचीन काल में अधिकांश भारतीय इसे दैवी मानकर इसमें विश्वास रखते थे । भारतीयों का कर्म के सिद्धान्त में अटूट विश्वास था जिसके कारण वे यह समझते थे कि किसी विशेष वर्ण या जाति में जन्म लेना पूर्व-जन्म के कर्मों का ही फल है । ऐसे समाज का ऐसा वर्गीकरण कोई नई बात न थी । प्राचीन काल में कार्यों के आधार पर समाज को चार वर्गों में विभक्त करने की प्रथा ईरान, रोम एवं जापान में भी प्रचलित थी । प्राचीन ईरानी समाज में पुरोहित, योद्धा, कृषक तथा कारीगर ये चार वर्ग थे । दार्शनिक प्लेटो ने भी आदर्श समाज के लिए इसी प्रकार के चार वर्गों की कल्पना की थी ।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति—वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई प्रकार के विचार हैं । कुछ विद्वानों के अनुसार भारत में आने से पूर्व ही आर्यों में वर्ण-व्यवस्था का जन्म हो चुका था । परन्तु दूसरी ओर स्लेटर आदि विद्वानों का मत है कि आर्यों के समाज में शुरू में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी; उनके भारत में आने पर द्रविड़ आदि अनार्य जातियों के प्रभाव से ही उनमें जाति-प्रथा का विकास हुआ । आर्यों में वर्ण-व्यवस्था का जन्म ऋग्वेद काल में हुआ अथवा उसके बाद के काल में, इस विषय पर भी विद्वानों में काफी मतभेद है ।

विराट् पुरुष के अंगों से वर्णों की उत्पत्ति—ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में एक मंत्र है जिसमें चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से बताई गई है—'इस विराट् पुरुष के ब्राह्मण मुखरूप हैं, बाहुओं से क्षत्रियों (राजन्य) की उत्पत्ति हुई, जंघाओं से वैश्यों की उत्पत्ति हुई । शूद्र लोग विराट् पुरुष के चरणों से जन्मे' ।[1] चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के शरीर के उन अङ्गों से बताई गई है जो उनके कर्म तथा गुण के अनुरूप हैं । साथ ही चारों वर्णों की विराट् पुरुष के विभिन्न अंग बतलाकर वर्णों की अभिन्नता तथा एक दूसरे पर निर्भरता पर भी जोर दिया गया है । यह उल्लेखनीय है कि इस मंत्र में समाज की एक जीवित संस्थान या शरीर के रूप में कल्पना की गई है । विराट् पुरुष के शरीर का अंग होने के कारण प्रत्येक वर्ण का समाजरूपी शरीर को जीवित रखने के लिए अपना एक विशिष्ट महत्त्व है । यह महत्त्वपूर्ण बात है कि वैदिक ऋषियों ने श्रम विभाजन के आधार पर समाज का वर्गीकरण करते समय भी सामाजिक एकता का ध्यान रखा ।

१ इसी प्रकार रामायण, महाभारत तथा मनुस्मृति में भी चारों वर्णों की उत्पत्ति भगवान के उपरोक्त अंगों से ही बताई गई है ।

परन्तु उपरोक्त मत्र को अनेक विद्वान् (कोलब्रुक, मैक्समूलर, मगल व शास्त्री) ऋग्वेद-काल के बाद का मानते हैं। पुरुष-सूक्त को छोड़कर ऋग्वेद मे और कही भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र शब्दों का उल्लेख नहीं मिलता। अतः इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद-काल मे ही आर्यों में वर्ण-व्यवस्था का पूरी तरह विकास हो चुका था। वस्तुतः प्रारम्भिक समाज केवल दो वर्गों में ही विभक्त था—१ आर्य तथा २ उनके विरोधी दास या दस्यु। इन दोनो वर्गों मे यह विभाजन केवल रंग एवं संस्कृति के भेद पर आधारित था। आर्य लोग गौर वर्ण थे और अपनी सस्कृति के प्रचारक थे। दूसरी ओर दास या अनार्य काले रंग के थे और उनकी संस्कृति आर्यों की संस्कृति से भिन्न थी। स्वयं आर्यों के बीच अन्य वर्णों की स्थापना न हुई थी।

कार्य-विभाजन के आधार पर वर्ण—परन्तु कालान्तर मे ज्यों-ज्यो आर्य आगे बढे और उनका अनार्यों से संघर्ष हुआ, उन्होंने अपने बीच कार्य-विभाजन की आवश्यकता अनुभव की। समाज को एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता हुई जो युद्धों से दूर रहकर आर्य धर्म तथा संस्कृति की रक्षा कर सके तथा समाज के कल्याण के लिए देवताओं से प्रार्थना कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कालान्तर में ब्राह्मण-वर्ण का जन्म हुआ। इसी प्रकार दास तथा दस्युओं से निरन्तर युद्ध करने के लिए एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता हुई जो युद्ध-विद्या मे निपुणता प्राप्त कर हमेशा समाज की रक्षा के कार्य मे लगा रहे। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए क्षत्रिय वर्ण का जन्म हुआ। इन दोनो वर्णों के अतिरिक्त जो आर्य लोग रहे, वे समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य आदि आर्थिक कार्यों मे लग गये और 'वैश्य' कहलाए।

शूद्रवर्ण का संगठन—समाज मे चौथे वर्ण के रूप मे शूद्र का उदय हुआ। कुछ विद्वानो की यह धारणा है कि पहले के जो दास या दस्यु लोग थे और जिन्हें आर्यों ने हराकर अपने समाज मे सम्मिलित कर लिया था, वे सब के सब शूद्र बन गए। परन्तु यह धारणा पूरी तरह से सत्य नही है। यद्यपि बहुत से दास आर्यों के समाज मे शूद्र-वर्ण के अन्तर्गत सम्मिलित हुए, परन्तु उनमें से कई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णों मे भी शामिल हो सके। अनेक दास या अनार्य वैदिक संस्कृति को अपनाकर आर्यों के क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों में भी दीक्षित हुए।

वर्ण-व्यवस्था का औचित्य—वर्ण-व्यवस्था प्रारम्भ मे आधुनिक जात-पाँत से बिल्कुल भिन्न थी। यह विभिन्न जातियो तथा संस्कृतियों के अनुयायियों को एक सूत्र मे गूंथने का सुन्दर उपाय था। विजेता आर्यों ने आर्येतर जातियों से गन्धर्व, द्रविड आदि लोगो को मिटाया नहीं, वरन् उन्हें अपनी सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित होने का अवसर दिया। आर्यों ने

आगे जाकर व्यवसाय वंशानुगत हो गए। विभिन्न वर्णों में परस्पर होने वाले विवाहों को सूत्रकारों ने अनुलोम तथा प्रतिलोम की संज्ञा दी। पुरुष का अपने से नीचे वर्ण की स्त्री से होने वाला विवाह अनुलोम तथा पुरुष का अपने से उच्च वर्ण की स्त्री से होने वाला विवाह प्रतिलोम कहलाया। उदाहरण के लिए ब्राह्मण पुरुष का क्षत्रिय अथवा वैश्य स्त्री से विवाह और क्षत्रिय पुरुष का वैश्य स्त्री से विवाह अनुलोम कहलायेगा। परन्तु इसके विपरीत क्षत्रिय पुरुष का ब्राह्मण स्त्री से तथा वैश्य पुरुष का क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण स्त्री से होने वाला विवाह प्रतिलोम होगा। अनुलोम विवाह को समाज में मान्यता प्राप्त थी, परन्तु प्रतिलोम विवाह निन्दनीय समझा जाता था।

बौद्ध-युग में वर्ण-व्यवस्था—बौद्ध-युग में बुद्ध तथा महावीर और उनके अनुयायियों ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था तथा ब्राह्मणों की उच्चता का विरोध किया, किन्तु वर्ण-व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी जा चुकी थीं कि वह न हिल सकी।

धर्मशास्त्रों में वर्ण-व्यवस्था—धर्म-सूत्रों के बाद धर्मशास्त्रों का युग आया। धर्मशास्त्रों में सामाजिक आचरण को नियन्त्रित करने के लिए विस्तृत विधि-निषेधों (नियमों) का प्रतिपादन किया गया। धर्मशास्त्रों में मनु-स्मृति सबसे अधिक प्रामाणिक मानी गई है। मनु ने विभिन्न वर्णों के कर्म निश्चित कर दिए और एक वर्ण के व्यक्ति के लिए दूसरे वर्ण का व्यवसाय अपनाने की मनाही कर दी। इस व्यवस्था के फलस्वरूप वर्ण वंशानुगत होने लगे। मनु ने तथा अन्य स्मृतिलेखकों ने वर्ण-संकर अथवा वर्णों के मिश्रण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली विभिन्न जातियों को भी मान्यता प्रदान की।

विदेशियों का वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रहण—यवन (ग्रीक), शक, कुषाण आदि अनेक विदेशी लोगों की भारत में उपस्थिति ने चार वर्णों की व्यवस्था के आधार पर संगठित भारतीय समाज के लिए एक गंभीर चुनौती प्रस्तुत की। समस्या थी—किस प्रकार इन विदेशी लोगों को वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत खपाया जाय। धर्मशास्त्रकारों ने प्रगतिशील विचारों का परिचय दिया। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के नियमों को ढीला कर इन विदेशियों को क्षत्रिय या वर्ण-संकर जाति के अन्तर्गत समाज में ग्रहण किया। मनु ने शकों को क्षत्रिय कहा है जो अपने आचार से भ्रष्ट हो गए थे।

जन्मजात वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की प्रवृत्ति—महाभारत में कई जगह जन्मजात वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म के बदले कर्म या चरित्र को मानने पर जोर दिया गया है। नहुष के प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं—'सत्य, दया, कोमलता, दान, क्षमा, तपस्या आदि गुण जिस व्यक्ति में हों, वही

ब्राह्मण है। शूद्र के गुण-सेवा आदि यदि ब्राह्मण में पाये जायेंगे तो मैं उसे शूद्र ही कहूँगा और ब्राह्मण के गुण शान्ति, तप, इन्द्रिय-दमन आदि यदि शूद्र मे होंगे तो मैं उस शूद्र को ब्राह्मण ही कहूँगा' (वन पर्व, १८०)। महाभारत में दूसरी जगह कहा गया है कि 'कुल, वेदाध्ययन आदि कुछ भी ब्राह्मणत्व का कारण नहीं है। एकमात्र चरित्र द्वारा ही ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है' (वनपर्व, ३१२।१०८)। इन उद्धरणों से विदित होता है कि मनुष्य चाहे किसी भी जाति के माता-पिता के घर जन्म ले, उसके गुण व कर्म के अनुसार ही उसकी जाति या वर्ण निर्धारित हो—यह विचारधारा बलवती हो रही थी। इस विचारधारा का यह प्रभाव हुआ कि शूद्रों के प्रति अधिक उदार एव मानवीय रुख अपनाया जाने लगा।

वर्णों के कर्त्तव्य, विशेषाधिकार तथा अयोग्यताएँ

ब्राह्मण—ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च वर्ण था। धर्मशास्त्रों मे वेदाध्ययन करना, यज्ञ करना एव दान देना ब्राह्मण के आवश्यक कर्त्तव्य माने गये हैं। वेदों के अध्ययन को छोड़ अन्य व्यवसाय ग्रहण करने वाले ब्राह्मण को शूद्र कहा गया है। धर्म-शास्त्रों मे ब्राह्मणों के लिए निर्धनता, सादा जीवन तथा उच्च विचार के आदर्श का विधान है। ब्राह्मणों के लिए यह नियम था कि वे धन-संग्रह से सदा दूर रहें और केवल इतना ही धन प्राप्त करें जिससे उनका तथा उनके कुटुम्ब का भरण-पोषण हो सके। वेदों का अध्यापन, यज्ञ करना तथा दान लेना—ये तीन कर्म ब्राह्मणों के विशेषाधिकार माने गए हैं। यदि कोई ब्राह्मण इन कर्मों द्वारा अपना निर्वाह न कर सके तो वह क्षत्रिय तथा वैश्य की वृत्ति (व्यवसाय) भी कर सकता था। आपद्-काल मे ब्राह्मण वाणिज्य भी कर सकता था, किन्तु वस्तु-विक्रय के सम्बन्ध में बहुत से नियन्त्रण थे। वर्णाश्रम-धर्म पर आततायियों का आक्रमण होने पर, युद्धकाल मे गड़बड़ी होने पर तथा आपत्काल मे गौओं, स्त्रियों तथा ब्राह्मणों की रक्षा के लिए ब्राह्मणों को शस्त्र-ग्रहण करने का भी अधिकार था।

धर्मशास्त्रों मे ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। उन्हें पृथ्वी का देवता बताया गया है। ब्राह्मणों के कुछ विशेषाधिकार भी थे जो अन्य वर्णों को प्राप्त नहीं थे। अधिकांश स्मृतियों के अनुसार श्रोत्रिय अर्थात् वेदों का ज्ञाता ब्राह्मण करों से मुक्त था। कई स्मृतियों में ब्राह्मण को अवध्य (जिसका वध उचित नहीं) तथा अदण्डनीय (जिसे दण्ड देना उचित नहीं) भी माना गया है। मनु ब्राह्मण के लिए हर हालत में प्राण-दण्ड का निषेध करता है। उसके अनुसार गम्भीर अपराध करने पर ब्राह्मण की सारी सम्पत्ति छीनकर उसे देश-निकाला दिया जा सकता है। परन्तु कौटिल्य तथा अन्य कई स्मृतिकार भयकर अपराध के लिए ब्राह्मण को प्राण-दण्ड दिये जाने का समर्थन करते हैं।

परन्तु ये विशेषाधिकार योग्य, विद्वान् तथा सदाचारी ब्राह्मण को ही प्राप्त थे। शास्त्र द्वारा बताए गए कर्म न करने वाला ब्राह्मण इनका अधिकारी न था। ब्राह्मणों की उच्चता तथा महत्ता का एक मात्र कारण उनका ज्ञान एव चरित्र ही था। उनके पास कोई सैनिक या राजनीतिक शक्ति न थी कि वे जो चाहते करते या कराते। आर्य-साहित्य तथा संस्कृति के विकास तथा संरक्षण का भार ब्राह्मण जाति पर ही सदा से रहा था। इसी कारण आर्य जाति ब्राह्मणों का सदा आदर करती रही।

क्षत्रिय—ब्राह्मण के बाद दूसरा महत्वपूर्ण वर्ण क्षत्रियों का था। वेदाध्ययन करना, दान देना तथा यज्ञ करना क्षत्रिय के सामान्य कर्त्तव्य माने गए हैं। युद्ध करना तथा प्रजा-जन की रक्षा करना क्षत्रियों का विशेषाधिकार था। क्षत्रिय के लिए विषय-भोगों में आसक्ति न रखने का विधान था। जीवन निर्वाह में कठिनाई होने पर क्षत्रिय वैश्य-वृत्ति (व्यवसाय) भी कर सकता था। क्षत्रिय के लिए यह विधान था कि वह ब्राह्मण का आदर करे तथा उसके सहयोग से शासन चलाए। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के पारस्परिक सहयोग को समाज के लिए बहुत हितकर बताया गया है और दोनों के विद्वेष को हानिकर।

वैश्य—ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के बाद समाज में वैश्य का स्थान था। वैश्य को भी यज्ञ, दान तथा वेदाध्ययन का अधिकार था। उसके लिए कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य के अर्थकारी व्यवसायों का निर्देश था। यदि वैश्य अपनी वृत्ति से अपना पालन न कर सके, तो वह शूद्र-वृत्ति भी कर सकता था, अर्थात् द्विजातियों की सेवा कर सकता था। गौ, ब्राह्मण तथा वर्ण-व्यवस्था की रक्षा करने के लिए वैश्य शस्त्र भी उठा सकता था।

शूद्र—समाज का सबसे निम्न तथा हीन वर्ण शूद्र था जिसमें अधिकतर विजित अनार्य सम्मिलित थे। गौतम शूद्र को अनार्य कहते हैं। शूद्रों का प्रमुख धर्म (कर्तव्य) था द्विजातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की सेवा करना एव उनसे भरण-पोषण पाना।[1]

किन्तु कालान्तर में शूद्र की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। शूद्र को विभिन्न प्रकार के शिल्प-कर्म करने का अधिकार मिल गया। यदि वह उच्च वर्णों की सेवा से अपना जीवन-निर्वाह न कर सके तो वह बढ़ईगीरी, चित्रकारी, पच्चीकारी, रंगसाजी आदि से अपनी जीविका चला सकता है। महाभारत के अनुसार शूद्र को जीवन-निर्वाह न होने पर वाणिज्य, पशु-पालन तथा शिल्प-कर्म करने का भी अधिकार है। नारद की दृष्टि में शूद्र आपत्काल में क्षत्रियों तथा वैश्यों का कार्य भी कर सकता था।

शूद्रों की अयोग्यताएं—शूद्रों को वेदाध्ययन करना मना था। किन्तु वे महाभारत तथा पुराण सुन सकते थे। शूद्र वैदिक क्रियाएं तथा यज्ञ नहीं कर सकते थे। परन्तु वे पूर्त-धर्म अर्थात् कुएं, तालाब, मन्दिर, बाग आदि का

वर्णों के कर्त्तव्यों पर जोर देता है। परन्तु इसके विपरीत जाति-व्यवस्था जन्म एवं आनुवंशिकता पर आधारित है। जाति का अर्थ है किसी विशेष समुदाय में जन्म तथा उसका निश्चित व्यवसाय। जाति-व्यवस्था कर्त्तव्यों से नहीं, जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों से सम्बन्धित है। जाति-व्यवस्था में ऊँच-नीच, खान-पान तथा छुआछूत का भेद बहुत अधिक है।

जातियों तथा उपजातियों की वृद्धि के कारण – अनेक जातियों तथा उपजातियों का समाज में तेजी से विकास हुआ और मध्य-काल में तो उनकी संख्या ३००० से भी ऊपर पहुँच गई। हम जाति-व्यवस्था के विकास के कारणों का यहाँ हम उल्लेख करेंगे:—

१. अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों के कारण—समाज में प्रचलित अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप अनेक वर्ण-संकर जातियाँ पैदा हुईं, जैसे अम्बष्ठ (क्षत्रिय पुरुष तथा वैश्य स्त्री की सन्तान), उग्र (क्षत्रिय पुरुष तथा शूद्र स्त्री की सन्तान),आयोगव (शूद्र पुरुष तथा वैश्य स्त्री की सन्तान), निषाद (ब्राह्मण पुरुष तथा शूद्र स्त्री की सन्तान) आदि। प्रतिलोम विवाह (नीच वर्ण के पुरुष से उच्च वर्ण की स्त्री का विवाह) से उत्पन्न जातियाँ अधिक नीच समझी गईं। शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न सन्तान को धर्मशास्त्र चाण्डाल कहते हैं और उसे अस्पृश्य मानते हैं। कालान्तर में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न जातियाँ अछूत मानी जाने लगीं।

२. व्यवसायों पर आधारित अनेक जातियाँ—सभ्यता के विकास के साथ साथ नई नई कलाओं तथा शिल्पों का जन्म हुआ। अनेक नये नये उद्योग तथा व्यवसाय स्थापित हुए। अनेक जातियाँ व्यवसायों पर आधारित होने लगीं। जो व्यक्ति जिस व्यवसाय को अपनाते उनकी एक अलग ही जाति बन जाती, जैसे कुम्हार, नाई, लुहार आदि।

३. कायस्थ जाति—गुप्तयुग में लेखक का कार्य करने वाले राज्य कर्मचारियों की एक नई जाति बन गई, जिसे कायस्थ कहा गया। आगे जाकर इस जाति में भी अनेक उपजातियाँ बन गईं।

४. जाति से बहिष्कार के फलस्वरूप नई जातियाँ—कुछ लोगों ने जब अपनी जाति या वर्ण के लिए निर्धारित कर्म छोड़ दिए, तो उनको जाति से बाहर कर दिया गया। ऐसे जाति या वर्ण से बहिष्कृत लोगों की अलग जातियाँ बन गईं।

५. प्रदेश के आधार पर जातियाँ—कई जातियाँ देश-प्रदेश की सूचक हैं, जैसे ब्राह्मणों में गौड़, सारस्वत, औदिच्य आदि जातियाँ।

६. विदेशियों की जातियाँ—विदेशी लोगों को जब यहाँ की सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रहण किया गया तो उनकी ... बन गईं।

७. कई नये धार्मिक सम्प्रदाय भी नई नई जातियों में संगठित हो गये, जैसे दक्षिण भारत के लिंगायत और मध्यकाल के कबीरपंथी, दादूपंथी आदि।

वर्ण-व्यवस्था का वर्तमान जात-पांत का रूप लेना—गुप्त युग तक जाति-व्यवस्था में गतिशीलता और उदार दृष्टिकोण की प्रधानता रही। खान-पान, व्यवसाय तथा विवाह के मामलों में कट्टरता नहीं आई। फलस्वरूप यवन, शक, कुषाण, हूण आदि अनेक विदेशी तत्वों को सरलता से भारतीय समाज में पचाया जा सका। परन्तु पूर्व मध्यकाल में (७०० ई० से १००० ई०) जाति व्यवस्था में जड़ता आने लगी। पुरानी वर्ण व्यवस्था वर्तमान जात-पांत के रूप में बदल गई। पुरानी स्मृतियों पर भाष्य लिखे गये। जाति के बन्धन कड़े कर दिए गए और खान-पान, व्यवसाय तथा विवाह के मामलों में अनेक प्रकार के कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। विवाह अपनी ही जाति तथा उपजाति में होने लगे। अनुलोम विवाह का भी निषेध कर दिया गया। विभिन्न वर्णों के भीतर भी अनेक जातियां तथा उपजातियां बनती गई। गुप्त युग तक ब्राह्मणों में केवल शाखा तथा गोत्र का ही भेद था। परन्तु अब उनमें पेशे तथा प्रदेश के आधार पर अनेक जातियां बन गई, जैसे पाठक, उपाध्याय, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी (व्यवसाय के आधार पर), और सारस्वत, गौड़ आदि (प्रदेश के आधार पर)। राजपूत काल के अभिलेखों तथा साहित्य में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की अनेक जातियों तथा उपजातियों का उल्लेख मिलता है। राजपूतों की जातियां थीं—चौहान, परमार, चन्देल आदि। प्रदेश तथा व्यवसाय के आधार पर वैश्य तथा शूद्रों में भी कई जाति, उपजाति बन गईं। इन जाति-उपजातियों के बन जाने से समाज की पुरानी पाचन-शक्ति लुप्त हो गई और जाति-बन्धन से जर्जरित हिन्दू समाज मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना न कर सका। ग्यारहवीं सदी के मुस्लिम विद्वान् अलबेरुनी ने जाति प्रथा के कट्टर रीति-रिवाजों की इन शब्दों में निन्दा की है—'हिन्दुओं की सारी कट्टरता विदेशियों के प्रति प्रकट होती है। वे उन्हें म्लेच्छ व अपवित्र मानते हैं और उनके साथ किसी प्रकार या भी उठने-बैठने, खान-पान तथा विवाह का सम्बन्ध नहीं रखते। वे समझते हैं कि इससे वे भ्रष्ट हो जायेंगे।'

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की रक्षा की समस्या उपस्थित हुई। मध्ययुग के धर्मनिबन्धकारों ने इस्लाम से हिन्दू समाज की रक्षा करने के उद्देश्य से जाति-व्यवस्था पर और भी कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए। मध्यकाल में कबीर, नानक आदि धर्मसुधारकों ने जाति व्यवस्था का खण्डन कर सब की समानता का नारा लगाया। परन्तु उनको उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। आधुनिक युग में भी अनेक धर्म सुधारक इसके विरुद्ध आवाज उठाते रहे हैं। परन्तु जाति व्यवस्था भारत में अभी भी काफी दृढ़ता से जमी हुई है।

वर्ण–व्यवस्था के गुण–दोषों की समीक्षा—प्रारम्भ में वर्णव्यवस्था विभिन्न सांस्कृतिक स्तर के लोगों के बीच समन्वय स्थापित करने का सुन्दर उपाय था। श्रम–विभाजन के आधार पर वर्णों का संगठन होने के कारण सामाजिक जीवन व्यवस्थित था और उसमें घातक प्रतिस्पर्धा के लिए स्थान न था। परन्तु जब वर्ण–व्यवस्था कर्म के बदले जन्म पर आधारित हो गई, तो वर्णों का परस्पर परिवर्तन रुक गया और व्यवसाय वंशानुगत हो गए। फलस्वरूप वर्ण–व्यवस्था समाज के लिए अभिशाप बन गई।

जाति-प्रथा के गुण :—(१) वर्ण या जाति प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण या जाति के लिए अलग-अलग कर्म या व्यवसाय निर्धारित होते हैं। इसलिए उनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा या टकराव की संभावना नहीं होती। यही नहीं, एक व्यवसाय में लगी एक जाति को दूसरे व्यवसाय में लगी दूसरी जाति के सहयोग की आवश्यकता होती है।

(२) श्रम–विभाजन या कार्य-विभाजन के आधार पर बनी जातियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही व्यवसाय या शिल्प करती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप उस व्यवसाय, शिल्प तथा कला–कौशल में उनको विशेष निपुणता प्राप्त हो जाती है।

(३) जाति–व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण कार्य मध्यकाल में हिन्दू समाज को नष्ट होने से बचाना था। जाति–व्यवस्था ने मुस्लिम आक्रमणों से हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की सफलतापूर्वक रक्षा की। मुस्लिम आक्रमण तथा हस्तक्षेप के विरुद्ध जाति–व्यवस्था ने हिन्दू समाज के लिए सुदृढ़ किलेबन्दी का काम किया। मध्यकाल के हिन्दू आचार्यों ने जाति–बन्धन कठोर कर दिए और उनका उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था की। हिन्दुओं में रूढ़िवादिता, पृथकत्व की भावना तथा आत्माभिमान कूट-कूट कर भर दिया गया। जाति-व्यवस्था के इन कठोर बन्धनों तथा प्रतिबन्धों के कारण हिन्दू बड़े पैमाने पर मुसलमान न बनाए जा सके। जो हिन्दू मुस्लिम–शासन में मुसलमान बने वे अधिकतर नीची जातियों के ऐसे लोग थे, जिन पर जाति-व्यवस्था का अधिक प्रभाव न था।

जाति–व्यवस्था के दोष— (१) जाति के जन्म पर आधारित हो जाने से समाज की सारी गतिशीलता तथा सजीवता लुप्त हो गई। समाज में जड़ता आ गई। समाज में ऊँच–नीच तथा छुआछूत की भावना फैल गई। विवाह अपनी अपनी जाति या उपजाति के संकुचित दायरे में ही होने लगे। जातियों तथा उपजातियों की बढ़ती संख्या ने हिन्दू समाज को बहुत कमजोर बना दिया। हिन्दू समाज लगभग ३००० छोटे छोटे जातियों तथा उप-जातियों के वर्गों में बँट गया जो खान-पान तथा विवाह के मामले में एक दूसरे से

भिन्न थे। फलस्वरूप जाति-व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के
बाधा बन गई। लोगों का दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण
अपनी अपनी जाति के प्रति मिथ्याभिमान पैदा हो गया
तथा उपजातियों की भक्ति पूरे समाज के प्रति न होक
तक ही सीमित थी। जाति-व्यवस्था से जर्जरित हिन्दू-
मण से देश की रक्षा न कर सका, क्योंकि राष्ट्रीय एक

(२) जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था के प्र
अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार व्यवसाय अपनाना
व्यवसाय वंशानुगत हो गए थे और व्यवसाय बदलने की
कारण प्रतिभा का पूरा तथा सही उपयोग नहीं हो सका

(३) जाति-व्यवस्था न्याय के मूलभूत सिद्धान्त
बौद्धिक तथा आर्थिक उन्नति के अवसर एक वर्ग वि
सब को नहीं। नीची जाति के लोग उच्च शिक्षा प्रा
से वंचित थे।

(४) जाति-व्यवस्था की कठोरता के कारण
चमार आदि लोगों की हिन्दू संस्कृति के प्रति कोई आक
समाज का ढाँचा उनके शोषण पर आधारित था और उ
नता के अधिकार से वंचित रखा गया था। अतः अछो
जाति के अनेक हिन्दू मुसलमान बन गए। जाति-व्यवस्
थी कि एक छोटी सी भूल पर भी व्यक्ति को समाज से
जाता था और बहिष्कृत व्यक्ति इस्लाम स्वीकार कर
गौरव प्राप्त कर लेता था। इस प्रकार जाति-व्यवस्था
समाज को क्षीण बनाने का कारण बनी।

(५) जाति-व्यवस्था ने लोगों में मिथ्याभिमान
भावना भर दी। समुद्र-यात्रा तथा विदेशियों के साथ सं
बन्ध लगा दिए गए। इसके फलस्वरूप भारतीयों का दृष्टि
गया और उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध टूट गया।
के देशों में भारतीय संस्कृति तथा धर्म के प्रसार का जो
चलता आ रहा था वह मध्यकाल के आरम्भ होने पर टूट

आश्रम-व्यवस्था

हमारे पूर्वजों ने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के
बनाई, आश्रम-व्यवस्था उसका महत्वपूर्ण सोपान है।
के चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति
इन पुरुषार्थों की सफल साधना ही मानव-जीवन का सः
इन चारों पुरुषार्थों की सभी प्रकार साधना को आ ०

(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ एवं (४) सन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म की साधना की जाती थी। गृहस्थ-आश्रम में अर्थ तथा काम की साधना होती थी। वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों का सम्बन्ध धर्म तथा जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की साधना से था। सैद्धान्तिक दृष्टि से २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य, २५ से ५० वर्ष तक गृहस्थ, ५० से ७५ वर्ष तक वानप्रस्थ तथा ७५ से १०० वर्ष तक सन्यास आश्रम की व्यवस्था की गई थी। यह चार आश्रमों की व्यवस्था केवल द्विजातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों के लिए ही थी। शूद्रों के लिए केवल गृहस्थ-आश्रम का विधान था और अन्य आश्रमों का निषेध था।

१. ब्रह्मचर्याश्रम—उपनयन संस्कार से ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ होता था। ब्रह्मचारी को आचार्य के समीप ले जाया जाता था। ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत, मेखला तथा दण्ड धारण करता था। ब्रह्मचर्य का जीवन अत्यन्त कठिनाई तथा संयम का जीवन था। ब्रह्मचारी भिक्षा से प्राप्त अन्न पर निर्वाह कर गुरु की सेवा करते हुए विद्याध्ययन करता था। ब्रह्मचर्य-आश्रम में विद्या पढ़ने के अतिरिक्त चरित्र-निर्माण और आध्यात्मिक साधना भी की जाती थी। ब्रह्मचर्य-व्रत की साधना आज भी हमारे विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

२. गृहस्थाश्रम — शिक्षा-समाप्ति के बाद ब्रह्मचारी विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। धर्मशास्त्रों में गृहस्थाश्रम की भारी प्रशंसा मिलती है। वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों में केवल धर्म तथा मोक्ष इन दो पुरुषार्थों की ही साधना हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन पुरुषार्थों की साधना सम्भव है। गृहस्थ-आश्रम की प्रधानता का कारण स्पष्ट है। अन्य तीनों आश्रम अपने निर्वाह के लिए गृहस्थों से प्राप्त दान तथा भिक्षा पर निर्भर थे। इसके अलावा यज्ञ आदि धार्मिक कृत्य भी गृहस्थ-आश्रम में ही किए जा सकते थे। इसीलिए मनु महाराज ने गृहस्थ को सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना है। गृहस्थ के लिए प्रतिदिन पंच-महायज्ञ-ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन), देवयज्ञ, पितृ-यज्ञ, मनुष्य-यज्ञ तथा भूत-यज्ञ करने का विधान था। पंच यज्ञों का कुटुम्ब के प्रसंग में पहले वर्णन किया जा चुका है। सोलह संस्कार करना भी गृहस्थ का कर्तव्य था।

३. वानप्रस्थाश्रम—गृहस्थ-आश्रम के उत्तरदायित्वों को पूरा कर व्यक्ति वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम का जीवन बड़ा त्याग और तपस्यामय होता था। वानप्रस्थ व्यक्ति को तप के साथ साथ वेदाध्ययन तथा अग्निहोत्र (यज्ञ) भी करना पड़ता था। गृह त्याग कर वनों में रहते हुए कन्द-मूल-फल से निर्वाह करना पड़ता था। संयम का

अनेक स्त्रियों ने ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना की थी, जैसे घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, सूर्या आदि। स्त्रियों को पति- चुनने की भी काफी स्वतन्त्रता थी। महाकाव्यों में विवाह की स्वयंवर-प्रथा का बहुधा उल्लेख मिलता है। उपनिषदों के समय में भी अनेक स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। गार्गी ने अपने युग के महान् दार्शनिक याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया था।

धर्मशास्त्र-साहित्य में स्त्रियों की स्थिति में ह्रास—वैदिक युग में स्त्री को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। किन्तु धर्मशास्त्रों ने उन्हें शिक्षा-प्राप्ति के अवसर से वंचित कर दिया, जिसके फलस्वरूप स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में निरन्तर गिरावट आती गयी। मनु ने स्त्रियों के उपनयन संस्कार का निषेध कर दिया। इससे शिक्षा का द्वार स्त्रियों के लिये बन्द हो गया। धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों को वेदाध्ययन तथा वैदिक मन्त्रों के साथ संस्कार करने के अधिकार से भी वंचित कर दिया। यही नहीं, धर्मशास्त्रकारों ने कन्या के विवाह की आयु भी घटा दी। याज्ञवल्क्य एवं नारद के अनुसार रजस्वला होने से पूर्व कन्या का विवाह हो जाना चाहिए। इस प्रकार के विधान से समाज में बाल-विवाह प्रचलित हुआ और कन्याओं की शिक्षा की संभावना और भी कम हो गई।

मध्यकाल में स्त्रियों की शोचनीय अवस्था—मध्यकाल के प्रारम्भ से स्त्रियों की दशा में और भी गिरावट आई। उच्च वर्णों में विधवा-पुनर्विवाह का पूरी तरह निषेध हो गया। विधवाओं को अमंगल सूचक माना जाने लगा। मध्यकाल में राजपूत-समाज में सती प्रथा खूब बढ़ गई, यद्यपि इसके लिए शास्त्रों में कोई विधान न था। मुस्लिम सम्पर्क के कारण समाज में पर्दे की प्रथा भी अपने घोर रूप में प्रकट हुई। मुस्लिम आततायियों से कन्याओं की रक्षा करने के उद्देश्य से हिन्दू-समाज में बाल-विवाह तथा पर्दे की प्रथा का भारी प्रचार हुआ। फलस्वरूप मध्यकाल आते-आते स्त्री पूर्णतः पुरुषों पर आश्रित हो गई और उसकी दशा शूद्र के समान हो गयी।

नीचे हम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर धर्मशास्त्रों के आलोक में विचार करेंगे।

बहु-पत्नीत्व—वैदिक काल में सामान्यतः एक-पत्नीकता का ही नियम एवं आदर्श था, परन्तु राजाओं तथा उच्चवर्ग के लोगों में बहु-पत्नीत्व की प्रथा भी प्रचलित थी। धर्मशास्त्र विशेष परिस्थितियों में पुरुष को दूसरा विवाह करने की आज्ञा देते हैं। एक निश्चित समय तक पुत्र-सन्तान उत्पन्न न होने पर पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार था।

पत्नी के कर्त्तव्य तथा आदर्श—गृहस्थ-जीवन में पत्नी का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। धर्मशास्त्रों के अनुसार पत्नी अपने पति को दो ऋणों से मुक्त करती है—(१) पति के साथ यज्ञ में भाग लेकर देव-ऋण

से एवं (२) पुत्र उत्पन्न करके पितृ-ऋण से । नारी का ध्येय है विवाह
करके पुत्र उत्पन्न करना । धर्मशास्त्रों के अनुसार पत्नी का मुख्य कर्तव्य है
पति की आज्ञा मानना तथा उसे देवता की भाँति सम्मान देना । महाभारत
तथा पुराणों में अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिनमें पतिव्रता के आदर्श का
महत्व दिखाया गया है ।

स्त्रियों के अधिकार—नारी को पति के घर में निवास स्थान पाने
का तथा अपने भरण-पोषण का पूरा अधिकार था । निर्दोष पत्नी का
त्याग करने तथा उसका भरण-पोषण न करने पर पति के लिए दण्ड की
व्यवस्था थी । सुयोग्य पत्नी का त्याग करने वाले पति के लिए राज-
दण्ड का विधान भी था । स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कुछ विशेष-अधिकार
भी प्राप्त थे । नारी की हत्या नहीं की जा सकती थी । व्यभिचार का दोषी
पाये जाने पर भी स्त्री को पूरी तरह त्यागा नहीं जा सकता था । पतित व्यक्ति
की कन्या पतित नहीं मानी जाती थी, परन्तु पतित का पुत्र पतित माना जाता
था । स्त्री को पति की अवस्था के अनुसार समाज में आदर मिलता था । एक
ही प्रकार की भूल के लिए पुरुष की अपेक्षा स्त्री को आधा ही प्रायश्चित्त
करना पड़ता था । विद्वान् ब्राह्मणों की तरह सभी वर्णों की स्त्रियाँ भी करों
से मुक्त थीं । स्त्री-धन के उत्तराधिकार में कन्या को पुत्र की अपेक्षा प्रमुखता
दी गयी थी ।

विधवा की दशा— जो विधवा पुनर्विवाह कर लेती थी उसे 'पुनर्भू'
कहा जाता था । वैदिक काल में विधवा का पुनर्विवाह वर्जित नहीं था ।
कौटिल्य (मौर्यकाल) के अनुसार विदेश गये हुए, या संन्यासी, या मरे हुए
पति की पत्नी, पति के भाई से या भाई के न होने पर, अपने पति के किसी
सम्बन्धी से विवाह कर सकती है । परन्तु मनु ने विधवा-विवाह का विरोध
किया है । उसने कहा है—'सदाचारी नारियों के लिए दूसरे पति की घोषणा
कहीं नहीं हुई ।' इस बारे में स्मृतिकार नारद के विचार बड़े उदार हैं ।
उनका कथन है कि यदि पति विदेश गया हो तो पत्नी ८ या ४ वर्ष
प्रतीक्षा करने के बाद दूसरा विवाह कर सकती है । पूर्व मध्य-काल से उच्च-
वर्णों में विधवा-विवाह होना लगभग बन्द-सा हो गया । परन्तु शूद्रों तथा अन्य
नीची जातियों में विधवा-पुनर्विवाह सदा से परम्परागत और मान्य रहा है ।
कुछ जातियों में ऐसे विवाह पंचायत से तय होते हैं ।

हिन्दू-विधवा की स्थिति शोचनीय थी । उसे अमंगल का सूचक मान
जाता था और वह किसी भी विवाहादि उत्सव में भाग नहीं ले सकती थी
उसे संयम पूर्वक सन्यासी की तरह रहना पड़ता था और कम भोजन त
कम वस्त्र धारण करने पड़ते थे । उसके सम्पत्ति-अधिकार भी बहुत सीमित

विधवा के सम्पत्ति-अधिकार—प्राचीन काल में विधवा को दाय या वसीयत में अधिकार प्राप्त न था। परन्तु धर्मशास्त्र-काल में उत्तराधिकार के संबन्ध में स्त्री की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। विधवा का संयुक्त-परिवार में भरण-पोषण का अधिकार मान्य हुआ। मनु ने तो पुत्र-हीन पुरुष की विधवा को उत्तराधिकारी नहीं मानता परन्तु गौतम, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकार पुत्रहीन विधवा के उत्तराधिकार के दावे को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सम्पत्ति के मामले में प्रारंभिक सूत्रकाल की अपेक्षा मध्य-काल में विधवा के अधिकार अधिक सुरक्षित थे। किन्तु अन्य बातों में उनकी स्थिति अत्यन्त सोचनीय होती गई और वे शूद्र के समान समझी जाने लगी।

स्त्रियों की स्थिति में गिरावट के कारण—स्त्रियों की स्थिति में निरन्तर गिरावट आई। इसके प्रो० कार्णे के अनुसार कई कारण थे—(१) पुत्रों की अत्यधिक आध्यात्मिक महत्ता, (२) बाल-विवाह एवं उसके फलस्वरूप (३) स्त्रियों की अशिक्षा, (४) स्त्रियों को अपवित्र मानने की प्रथा का क्रमशः विकास एवं (५) उन्हें शूद्रों के समान मानना तथा (६) स्त्रियों की पुरुषों पर पूर्ण आश्रितता।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. प्राचीन भारत की संयुक्त कुटुम्ब व्यवस्था के बारे में आप क्या जानते हैं ?

२. प्रमुख संस्कारों का उल्लेख कीजिए और उनका महत्त्व भी बतलाइए।

३. वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति तथा विकास का वर्णन कीजिए और यह भी बताइए कि वर्ण और जाति में क्या अन्तर है।

४. विभिन्न वर्णों के कर्तव्य, विशेषाधिकार तथा अयोग्यताओं का उल्लेख कीजिए।

५. प्राचीन भारत की आश्रम-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

६. प्राचीन भारतीय समाज में नारी का क्या स्थान था ?

4

भारतीय साहित्यिक परम्परा

साहित्य में संस्कृति का दर्शन—भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के सच्चे स्वरूप की झाँकी हमें यहाँ के साहित्य मे ही मिलती है। हमारे देश का साहित्य अत्यन्त विशाल एवं समृद्ध है। इसमें हमारी जाति की सांस्कृतिक चेतना तथा जीवन-मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। देश के सांस्कृतिक विकास के विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों को भली प्रकार समझने के लिए अब हम उन युगों के प्रतिनिधि महाकवियों की रचनाओं का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन करेंगे।

महाकाव्य रामायण तथा महाभारत

रामायण तथा महाभारत भारतवर्ष के अत्यन्त प्राचीन महाकाव्य हैं। ये भारत के जातीय इतिहास हैं जिनमे प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति का सम्यक्‌रूप संकलित है। गत दो हजार से भी अधिक वर्षों से ये दोनों महाकाव्य भारतीय जीवन के प्रकाश-स्तम्भ बने हुए हैं। विश्व इतिहास में शायद ही कोई ऐसे लौकिक ग्रन्थ हों, जिनका किसी जाति के जीवन और विचारों पर ऐसा प्रभाव पड़ा हो जैसा रामायण और महाभारत का भारतीय जीवन पर।

लौकिक साहित्य तथा संस्कृति के प्रतिनिधि ग्रन्थ—रामायण तथा महाभारत की रचना वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के सन्धि-काल में हुई। भारतीय साहित्य की परम्परा में वैदिक युग के बाद जो नया मोड़ आया, उसके प्रतीक ये दोनों महाकाव्य ही हैं। भारत के सारे लौकिक साहित्य का उद्‌गम ये महाकाव्य ही हैं। वाल्मीकि (रामायण के रचयिता) और व्यास (महाभारतकार) लौकिक संस्कृति के आदि कवि हैं और उनके ये दो महाकाव्य भारत की साहित्य-साधना के दो प्रतिनिधि-ग्रन्थ हैं। रामायण तथा महाभारत की कथा उन वीर गीतों तथा आख्यानों पर आधारित है जो उत्तर वैदिक काल में प्रचलित थे। इन्हीं आख्यानों तथा गीतों को काव्य का रूप देने पर इन महाकाव्यों का जन्म हुआ।

(१) आदिकाव्य रामायण— रामायण आदिकाव्य है, जिसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की। रामायण का उदय करुणा में हुआ। कथा प्रसिद्ध है कि जब वाल्मीकि ने एक शिकारी को काम से काममोहित क्रौञ्च पक्षियों की जोड़ी में से एक को मारते देखा, तो उनका कोमल हृदय करुणा से द्रवित

हो उठा और उनके मुंह से सहसा ये शब्द निकल पड़े–'हे निषाद ! तुमने काम से मोहित इस क्रौञ्च पक्षियों के जोड़े मे से एक को मारा है, अतः तुम अनन्तकाल तक प्रतिष्ठा न पाओगे।' महर्षि के ये शब्द सुन ब्रह्मा स्वयं उपस्थित हुए और उन्होंने वाल्मीकि को रामचरित लिखने का आदेश दिया। रामायण की रचना इस प्रेरणा के फलस्वरूप हुई।

रामायण का वर्तमान रूप—रामायण के वर्तमान रूप में २४,००० श्लोक तथा सात काण्ड हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड। पाठ की दृष्टि से रामायण के मुख्यतः तीन संस्करण उपलब्ध हैं—(१) दाक्षिणात्य संस्करण जो मद्रास तथा बम्बई से प्रकाशित है; (२) बंगीय या गौड़ीय संस्करण जो कलकत्ता से प्रकाशित है एवं (३) पश्चिमोत्तरीय संस्करण।

प्रक्षिप्त अंश—अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि मूल रामायण में अयोध्याकाण्ड से लेकर लंकाकाण्ड तक केवल पांच काण्ड ही थे। बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड उसमें बाद में जोड़े गए। बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड की रचना-शैली अन्य काण्डों से भिन्न है तथा इन काण्डों के बहुत से कथन अन्य पांच काण्डों से मेल भी नहीं खाते। अयोध्याकाण्ड से लेकर लंका-काण्ड तक पांच काण्डों में राम को एक आदर्श मानव एवं महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में कई स्थलों पर राम का विष्णु के अवतार के रूप में वर्णन है। इस आधार पर याकोबी आदि विद्वान् बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड को रामायण का प्रक्षिप्त (बाद में जोड़ा हुआ) अंश मानते हैं।

रचना काल—रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि माने जाते हैं। मूल रामायण में (जिसमें प्रक्षिप्त अंश नहीं हैं) बौद्ध धर्म की ओर कोई संकेत नहीं मिलता। अतः उसकी रचना संभवतः महात्मा बुद्ध के काल से पूर्व छठी शताब्दी ईसवी पूर्व तक हो चुकी थी। वर्तमान रूप में रामायण की रचना महाभारत से पूर्व की है। महाभारत में रामायण एवं वाल्मीकि का उल्लेख मिलता है, रामायण की संक्षिप्त कथा 'रामोपाख्यान' भी मिलती है। परन्तु दूसरी ओर रामायण में महाभारत के किसी पात्र या कथानक का उल्लेख नहीं मिलता। इससे रामायण वर्तमान महाभारत से पहले की रचना सिद्ध होती है। प्रो० विन्टरनित्ज के अनुसार रामायण का वर्तमान रूप, जिसमें प्रक्षिप्त अंश भी शामिल हैं, २०० ईसवी तक तैयार हो चुका था।

रामायण काव्य के रूप में—रामायण एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। संभवतः रामायण को ही आदर्श मानकर आचार्यों ने महाकाव्य की परिभाषा बनाई। रामायण में भाषा की परिपक्वता तथा सौन्दर्य, छन्दों का विलक्षण प्रयोग, अलंकारों का चमत्कारपूर्ण विन्यास तथा रसों का पूर्ण परिपाक मिलता है।

शृंगार, वीर तथा करुण इन तीन प्रधान रसों का इस महाकाव्य में पूर्ण विकास है। इसमें प्रकृति-वर्णन एवं चरित्र-चित्रण आकर्षक तथा स्वाभाविक हैं। रामायण का काव्यरूप महाभारत से तुलना करने पर और अधिक स्पष्ट हो जाता है। रामायण अपने वर्तमान रूप में भी वीर-काव्य है, किन्तु महाभारत का काव्यरूप बहुत कुछ लुप्त हो चुका है। महाभारत की अपेक्षा रामायण में सौन्दर्य-चेतना तथा चरित्र-चित्रण अधिक चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक हैं।

रामायण में सौन्दर्यबोध या चेतना—महाभारत के रचयिता की अपेक्षा वाल्मीकि की दृष्टि सौन्दर्य की ओर अधिक उन्मुख है। रामायण के बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड में राम के जीवन के चित्रण में सौन्दर्य साधना मिलती है। किन्तु सीताहरण के बाद राम के सरस तथा आनन्दमय जीवन में व्याघात उपस्थित हो जाने के कारण सौन्दर्य-साधना का क्रम टूट जाता है। तथापि महाकवि ने इस व्याघात से उत्पन्न राम तथा सीता की मनोदशा का बहुत ही मार्मिक ढंग से वर्णन किया है। राम तथा सीता के वियोगजन्य दुःख का चित्रण बहुत ही करुणरसपूर्ण है। रामायण का सबसे रसात्मक भाग अयोध्या काण्ड है जहाँ नायक राम के भाग्य-विपर्यय का बहुत ही मार्मिक चित्रण हुआ है। राम को राजतिलक मिलकर वनवास मिलता है, किन्तु फिर भी उनके मन में किसी प्रकार का दुःख या शोक नहीं उत्पन्न होता। वे सुख तथा दुःख दोनों अवस्थाओं में एक से रहते हैं। राम के भाग्य का यह विपर्यय तथा उसमें निहित आदर्शवाद कवि की रुचि का मुख्य विषय है। डा० देवराज के अनुसार इस दृष्टि से अयोध्याकाण्ड विश्व-इतिहास में बेजोड़ है। इसी प्रकार अयोध्याकाण्ड में राम के वियोग से उत्पन्न दशरथ तथा कौशल्या के कष्ट का भी बहुत मार्मिक वर्णन हुआ है।

रामायण में प्रकृति वर्णन बहुत सुन्दर है। अयोध्याकाण्ड में गंगाजी का बड़ा आकर्षक वर्णन है। किष्किन्धाकाण्ड में पंपा सरोवर, पंचवटी वन, दण्डक वन के मनोरम दृश्य तथा शरद् और वर्षा ऋतुओं का बहुत ही मनोहर वर्णन मिलता है। रामायण में कवि की सौन्दर्य चेतना नारी-सौन्दर्य वर्णन में भी प्रकट हुई है। सबसे आकर्षक नारी-सौन्दर्य का वर्णन सुन्दरकाण्ड में है। लंका में सीता को खोजते हुए जब हनुमान रावण के अन्तःपुर में पहुंचते हैं, तो वहाँ वे अनेक सुन्दर स्त्रियों को अनेक प्रकार से सोती हुई देखते हैं। इन स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा चेष्टाओं का कवि ने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। रामायण में बाह्य प्राकृतिक दृश्यों तथा नारी-सौन्दर्य का सजीव और यथार्थ चित्रण हुआ है। यही नहीं, महाकवि ने मानव की अन्तः प्रकृति तथा मनोवृत्तियों का भी बहुत ही स्वाभाविक और सुन्दर चित्रण किया है। इस प्रकार रामायण सब दृष्टियों से काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण है। इसे

युगों से हमारा देश आदर्श काव्य-ग्रन्थ मानता आया है। भारतीय साहित्य-कारों के लिए यह हमेशा प्रेरणा का स्रोत रहा है। भारत के विविध साहित्य पर इस महाकाव्य का व्यापक प्रभाव पड़ा है। संस्कृत के महाकवि तथा नाटककार कालिदास, भास तथा भवभूति की रचनाएं रामायण के कथानक से प्रेरित हैं। गोस्वामी तुलसीदास के लोक-साहित्य पर ही क्या, समस्त भारतीय लोक-जीवन पर रामायण का प्रबल व व्यापक रूप से पड़ा है।

रामायण का स्वरूप—रामायण एक काव्य ही नहीं, इतिहास एवं आख्यान (कथा) भी है। इसमें कोशल के इक्ष्वाकुवंशीय राजा राम के लंका पर अभियान और राक्षस राजा रावण पर विजय-प्राप्ति का इतिहास वर्णित है। रामायण में धर्म, अर्थ और काम विषयक सामग्री भी पर्याप्त रूप में मिलती है। राजनीति, कूटनीति तथा युद्ध आदि विषयों का भी रामायण में समावेश है। रामायण में नीति तथा धर्म का भी सुन्दर प्रतिपादन है।

रामायण-आर्य संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ—महर्षि वाल्मीकि आर्य संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। रामायण में दो भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष का चित्रण है। संघर्ष का केन्द्र अयोध्या नहीं, लंका है। संघर्ष दो भिन्न संस्कृतियों-आर्य तथा अनार्य के बीच होता है। आर्य संस्कृति के प्रतिनिधि राम हैं तो अनार्य संस्कृति का रावण। ये दोनों संस्कृतियां भिन्न जीवन-मूल्यों का समर्थन करती हैं। आर्य संस्कृति के प्रतिनिधि राम सत् या भलाई के पक्षपाती हैं। वे उच्चकोटि के आदर्शवाद तथा मर्यादावाद के प्रतीक हैं। दूसरी ओर अनार्य संस्कृति का प्रतिनिधि रावण असत् या बुराई का प्रतीक है। सत् तथा असत् के इस संघर्ष में कवि ने सत् की विजय का चित्रण किया है। आर्य-जीवन के आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए ही कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है।

रामचरित द्वारा कवि ने आर्य पारिवारिक जीवन के उच्चतम आदर्शों का निरूपण किया है। राम आर्य जीवन के उच्च आदर्श के प्रतीक हैं। उन्होंने सीता के अतिरिक्त किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया। उस समय में राम का एक-पत्नी-व्रत एक असाधारण बात थी। कवि ने राम में एक कर्त्तव्यपालक एवं पितृभक्त पुत्र, वात्सल्यपूर्ण भ्राता, प्रेमी पति, दृढ़प्रतिज्ञ वीर तथा एक आदर्श राजा का चित्रण किया है। मर्यादापुरुषोत्तम राम के उदात्त चरित्र द्वारा कवि ने यह सिखलाया है कि विकट परिस्थितियों में रहकर भी व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य को किस प्रकार रक्षा कर सकता है। राम के चरित्र की उच्चता के बारे में कवि की उक्ति है—'वे सत्य के प्रति इतने निष्ठावान् हैं कि प्राणों का संकट उपस्थित होने पर भी वे सदाचार के नियमों का उल्लंघन नहीं करते।' सीता का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्शों का प्रतीक है। वह रामायण में एक पति-परायणा, कर्त्तव्य-

पालक तथा विकट परिस्थितियों में भी पूर्णतः पातिव्रत्य धर्म का पालन करने वाली नारी का आदर्श प्रस्तुत करती है। सीता और राम का पारस्परिक प्रेम तथा त्याग भारतीय गार्हस्थ्य जीवन के लिए एक ज्वलन्त आदर्श प्रस्तुत करता है। कवि टैगोर ने ठीक ही कहा है—'रामायण की महिमा राम-रावण युद्ध से नहीं है, यह युद्ध-घटना तो राम और सीता की दाम्पत्य प्रीति को उज्ज्वल बनाने के लिए उपलक्ष्य मात्र है।' रामायण में दशरथ एक आदर्श पिता का, कौशल्या और सुमित्रा एक आदर्श माता का, भरत तथा लक्ष्मण एक आदर्श भ्राता का, सुग्रीव एवं विभीषण आदर्श मित्र का और हनुमान आदर्श सेवक का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

महाभारत

दूसरा विशाल महाकाव्य महाभारत है। विषय-वस्तु की विविधता तथा आकार की विशालता में यह संसार का अद्वितीय ग्रन्थ है। महाभारत का वर्तमान आकार यूनानी महाकाव्य ईलियड तथा आडेसी के सम्मिलित रूप का भी आठ गुना है।

रचना—भारतीय परम्परा महाभारत का रचयिता कृष्ण द्वैपायन व्यास को मानती है। व्यास शब्द का अर्थ संकलनकर्ता है। आकार की विशालता तथा विषय की विविधता को देख कर महाभारत किसी एक व्यक्ति अथवा काल की रचना नहीं प्रतीत होती। वस्तुतः महाभारत एकाकी रचना नहीं, वरन् पूरा साहित्य है। महाभारत में इस ग्रन्थ के विकास के सम्बन्ध में तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है—जय, भारत तथा महाभारत। कौरव तथा पाण्डवों के बीच हुए युद्ध के मूल कथानक का नाम 'जय' था। कौरव-पाण्डव युद्ध का समय अधिकांश इतिहासकार १४००–१००० ईसवी पूर्व के बीच का मानते हैं। इस युद्ध से सम्बन्धित वीर-गीतों का संकलन करने पर महाभारत का मूल कथानक बना। जय नामक इस मूल कथानक में जब भरत-वंश से सम्बन्धित इतिहास जोड़ दिया गया तो २४,००० श्लोक का 'भारत' बन गया। उसमें भी अनेक आख्यान तथा नीतिपरक अंश जुड़ जाने पर यह एक लाख श्लोक का 'महाभारत' हो गया। महाभारत के आदिपर्व में भी इसके तीन संस्करणों का उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में व्यासजी ने इस महाकाव्य की कथा वैशम्पायन ऋषि को सुनाई। वैशम्पायन ने इस की कथा राजा जनमेजय को सुनाई। सूत उग्रश्रवा ने इस कथा को वहाँ सुना और फिर उन्होंने इसे नैमिषारण्य में शौनक ऋषि के यज्ञ के अवसर पर ऋषियों को विस्तार से सुनाया।

रचना-काल—वर्तमान रूप में महाभारत एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ माना जाता है। इसमें १८ पर्व हैं। महाभारत का वर्तमान रूप कई शताब्दियों के विकास का फल है। इसका प्राचीनतम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता

है, जिसे छठी शताब्दी ईसवी पूर्व की रचना कहा जा सकता है। पाणिनि भी 'महाभारत' शब्द का उल्लेख करते हैं। परन्तु महाभारत में देर तक प्रक्षेप अंश जोड़े जाते रहे। महाभारत के अनेक स्थलों पर यवन (यूनानी) और शकों का उल्लेख मिलता है, जो दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व से पहले भारत में नहीं आए थे। दूसरी ओर ४४२ ई० के एक गुप्तकालीन अभिलेख में महाभारत का एक लाख श्लोकों के एक प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख हुआ है। पाँचवीं शताब्दी ईसवी से बाद के कई लेखक भी महाभारत के वर्तमान रूप से परिचित हैं। ऐसी स्थिति में महाभारत के रचना-काल के विषय में प्रो० विन्टरनित्स का यह मत ही ठीक प्रतीत होता है कि 'महाभारत को उसका वर्तमान रूप ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से चौथी शताब्दी ईसवी के बीच किसी समय प्राप्त हुआ।'

महाभारत का वर्तमान रूप में विकास ब्राह्मण-संस्कृति के नव-जागरण-आन्दोलन का फल था। बौद्ध धर्म के विरुद्ध नये हिन्दू धर्म को शक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से ब्राह्मण पंडितों ने, विशेष रूप से भृगुवंशी आचार्यों ने, महाभारत में अनेक प्रकार की धार्मिक कथाएं तथा शिक्षाएं जोड़ दीं।

संस्करण—महाभारत के दो संस्करण मिलते हैं—उत्तरी तथा दक्षिणी। परन्तु इनमें परस्पर काफी अन्तर है। महाभारत के प्रकाशित तथा पूर्ण संस्करणों में कलकत्ता, बम्बई तथा कुम्भकोनम् के संस्करण महत्वपूर्ण रहे हैं। परन्तु अब पूना भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की ओर से प्रकाशित महाभारत का संस्करण सबसे अधिक प्रामाणिक है।

महाभारत काव्य के रूप में—महाभारत में सौन्दर्य दृष्टि की प्रधानता न होकर कर्म व संघर्ष की प्रधानता है, इसलिए उसे विशुद्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध काव्य में सौन्दर्य-दृष्टि की प्रधानता होती है। महाभारत के रचयिता का मन सौन्दर्य चर्चा में उतना नहीं रमता, जितना नीतिबोध तथा धर्म-चर्चा में। महाभारत में मूल कथानक युद्ध का है, अतः उसके नायकों के जीवन पर संघर्ष की घनी छाया है। इस स्थिति का कवि की दृष्टि पर भी प्रभाव पड़ा है। कवि का उद्देश्य महाभारत युद्ध के नायकों की वीरता तथा जय-पराजय का चित्रण करना है। महाभारत में शुद्ध सौन्दर्य-वर्णन व प्रकृति-वर्णन विरले ही हैं। केवल द्रोणपर्व में चन्द्र के उदय का वर्णन सौन्दर्य-दृष्टि से उल्लेखनीय है। परन्तु ऐसे पद्य बहुत ही कम हैं। महाभारत में नारी-सौन्दर्य का वर्णन भी कम है। महाभारत की सबसे महत्त्वपूर्ण नारी द्रौपदी है, किन्तु उसके सौन्दर्य के वर्णन में कवि की विशेष रुचि कहीं नहीं दिखायी देती।

महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोष—वर्तमान रूप में महाभारत धार्मिक एवं लौकिक भारतीय ज्ञान का विश्वकोष है। इस ग्रन्थ की समग्रता के

सम्बन्ध मे कवि ने कहा है—'इस ग्रन्थ मे जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमे नही है वह अन्यत्र कही भी नही है।' महाभारत केवल प्राचीन भारतीय सभ्यता का इतिहास ही नहीं, वह भारतीयों का श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ भी है। इसे पंचम वेद कहा गया है। आदिपर्व मे महाभारत को केवल इतिहास ही नही, बल्कि धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा मोक्ष-शास्त्र भी कहा गया है। कौरव और पाण्डवो के बीच युद्ध के मूलकथानक के अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे अनेक प्राचीन आख्यान (इतिहास गाथाएं)—शकुन्तला उपाख्यान, मत्स्योपाख्यान (मत्स्यावतार की कथा), रामोपाख्यान (रामकथा), शिवि-उपाख्यान, सावित्री—उपाख्यान, (सावित्री एवं सत्यवान की कथा) नलोपाख्यान (नल और दमयन्ती की कथा) जुड़े हुए हैं। इन आख्यानों के अतिरिक्त बहुत सी नीति-विषयक सामग्री महाभारत के विभिन्न पर्वों में, विशेषरूप से वन पर्व, शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व मे, संकलित है। यह सामग्री, धर्म, कर्म, नीतिशास्त्र, राजनीति, कूटनीति, तत्त्वज्ञान, दर्शन आदि विविध विषयो से सम्बन्धित है। महाभारत एक श्रेष्ठ धर्मशास्त्र भी है, जिसमें पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के विधि—निषेधों (नियमों) तथा धर्म की विस्तृत व्याख्या दी गई है। शान्ति पर्व मे राजधर्म, आपद्धर्म तथा मोक्षधर्म का विवेचन है। अनुशासन पर्व मे दान-धर्म का प्रतिपादन है। अध्यात्म शास्त्र का भी महाभारत अनुपम ग्रन्थ है। इसमें श्रीमद्भगवद्गीता, सनत्सुजातीय, अनुगीता, पाराशरगीता, मोक्षधर्म आदि महत्त्वपूर्ण अंश संकलित हैं। महाभारत नीतिशास्त्र का भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। लोकशिक्षा के लिए इसमें अनेक शिक्षाप्रद कथाओं तथा नीति-सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। शुक्रनीति, विदुरनीति, भीष्मनीति आदि का महाभारत मे समावेश है। इस विषय—विविधता को देखते हुए हम महाभारत को ऋग्वेद के बाद संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कह सकते हैं।

नीतिबोध—महाभारत मे जगह-जगह नीति का उपदेश है। भीष्म का राजनीति तथा धर्म के विभिन्न पक्षों पर शान्तिपर्व में लम्बा प्रवचन है। सभा पर्व में नारद का राजनीति विषय पर प्रवचन है। नीतिकारो मे विदुर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विदुर-नीति महाभारत का महत्त्वपूर्ण अंग है।

जीवन के मूल्यों या पुरुषार्थों के सम्बन्ध में महाभारत का दृष्टिकोण—वैदिक काल में आर्य सांसारिक सुख तथा भोगों को अधिक महत्त्व देते थे। उपनिषदों में इसके विरुद्ध विद्रोह हुआ और मोक्ष के आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। परन्तु महाभारत में सांसारिक सुख तथा मोक्ष के आदर्शों के बीच समन्वय किया गया और चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की मानव-जीवन के ध्येय के रूप में प्रतिष्ठा हुई। परन्तु धर्म को नियामक तत्त्व का प्रधान पुरुषार्थ माना गया। महाभारत के अनुसार धर्म के दायरे में रहकर ही अर्थात् धर्म का

उल्लंघन किए बिना अर्थ तथा काम का सेवन करना चाहिए। इस विषय में महाभारतकार की यह घोषणा उल्लेखनीय है—"मैं बाँह उठाकर उच्च स्वर से कह रहा हूँ, किन्तु कोई सुनता नहीं। धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, उस धर्म का सेवन क्यों नहीं करते ?" महाभारत के रचयिता में जीवन सबन्धी यथार्थ दृष्टि की कमी नहीं है। महाभारत के आदर्श पात्र युधिष्ठिर कृष्ण, अर्जुन, भीम, द्रौपदी आदि जीवन के स्वाभाविक मूल्य काम एवं अर्थ के महत्त्व से भली प्रकार परिचित हैं। तथापि महाभारत का कवि धर्म की सर्वोच्चता का आदर्श प्रस्तुत करता है। महाभारतकार अर्थ तथा काम की स्वाभाविक इच्छाओं को तब तक बुरा नहीं मानता जब तक वे धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन न करें।

जीवन-विवेक—महाभारत में धर्म सबन्धी चेतना बड़ी तीव्र है। शान्ति पर्व के मोक्षधर्म पर्व तथा वन पर्व में जगह जगह धर्म तत्त्व का विवेचन मिलता है। प्रवृत्ति,निवृत्ति, कर्म और सन्यास के विचारों का सुन्दर ढग से प्रतिपादन किया गया गया है। स्वधर्म अर्थात् अपने कर्त्तव्य के पालन पर अत्यधिक जोर दिया गया है। महाभारत के शान्ति पर्व तथा गीता में जीवन-विवेक का प्रतिपादन है। महाभारत की शिक्षा का सार यह है कि मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर लोक कल्याण के लिए धर्मसम्मत कर्त्तव्य का पालन करता रहे।

महाभारत में वर्णित समाज—महाभारत मे चित्रित समाज अत्यन्त जटिल एवं संघर्षपूर्ण है। महाभारत में जिस युग तथा जीवन का चित्रण है वह विभिन्न प्रकार के अन्तर्विरोधों तथा बाहरी-भीतरी संघर्षों से पूर्ण है। उसमें रामायण की तरह दो सस्कृतियो का सघर्ष नहीं, बल्कि दो जीवन आदर्शों का सघर्ष दिखाया गया है। यह सघर्ष आर्यों के दो भिन्न जीवन आदर्शों के बीच था। युधिष्ठिर तथा दुर्योधन इन दो भिन्न आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

रामायण तथा महाभारत का तुलनात्मक अध्ययन

रामायण मे आर्यों की गतिविधि का प्रमुख केन्द्र अयोध्या तथा लंका है। दूसरी ओर महाभारत मे आर्य सस्कृति का प्रमुख केन्द्र गगा-यमुना नदियो की घाटी है, जिसमें कुरु, पाचाल आदि राज्य स्थित थे। महाभारत की भौगोलिक सीमाएँ रामायण की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं। महाभारत सुदूर दक्षिण के आन्ध्र, चोल तथा सुदूर पूर्व के मगध, वग तथा आसाम से सुपरिचित है। रामायण में आदर्शवाद तथा उच्च नैतिक मानदण्ड की प्रतिष्ठा है। परन्तु महाभारत मे यथार्थवाद तथा जीवन की व्यावहारिकता का अधिक चित्रण है। रामायण आर्य पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के उच्च आदर्श प्रस्तुत करती है। रामायण मे वर्णित समाज का प्राण धर्म है।

रामायण के नायक राम धर्म अर्थात् कर्तव्य का पालन करने के लिए ही राज्य छोड़ कर वन में जाते हैं और अनेक प्रकार के कष्ट झेलते हैं। वे सीता तक को राज-धर्म के पालन के लिए त्याग देते हैं। परन्तु दूसरी ओर महाभारत में कर्म तथा संघर्ष की प्रधानता है। जीवन के कटु यथार्थवाद का चित्रण है। महाभारत के पात्रों में राम, भरत या लक्ष्मण जैसा त्याग देखने को नहीं मिलता। राम के पावन तथा आदर्श चरित्र की तुलना में महाभारत के नायक युधिष्ठिर का बार-बार जुए में प्रवृत्त होना हेय लगता है। रामायण में जहाँ राम, भरत तथा लक्ष्मण भ्रातृ-स्नेह का उच्च आदर्श रखते हैं, महाभारत कौरवों तथा पाण्डवों के भ्रातृ-द्रोह की कहानी है। राम तथा भरत की राज्य के प्रति अनिच्छा की तुलना में दुर्योधन की राज्य-लिप्सा निन्दनीय है। रामायण में राम का एक-पत्नी-व्रत तथा सीता का पातिव्रत्य प्रशंसनीय है। किन्तु महाभारत में सत्यवती तथा कुन्ती की कुमारावस्था में ही सन्तानोत्पत्ति, पाण्डवों के बहु-विवाह तथा द्रौपदी के पाँच पाण्डव पतियों की कथा नैतिक दृष्टि से हेय लगती है। रामायण के समय नैतिक नियम अधिक कठोर थे। रावण-वध के बाद सीता को अपनी पवित्रता का प्रमाण देने के लिए अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है। किन्तु दूसरी ओर महाभारत में जयद्रथ द्वारा बलात् द्रौपदी का अपहरण कर लिए जाने पर भी पाण्डव द्रौपदी के चरित्र के बारे में किसी प्रकार का संदेह नहीं करते।

युद्ध-नैतिकता का स्तर भी रामायण में ऊँचा है। रामायण में घायल योद्धा का वध धर्मविरुद्ध माना जाता है, पर महाभारत में भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा रथ से उतरते हुए कर्ण का वध जिस प्रकार किया गया, वह सर्वथा निन्दनीय है। सोते हुए धृष्टद्युम्न तथा पाँच पाण्डवपुत्रों का वध नैतिक दृष्टि से अपराध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण सुख, शान्ति, समृद्धि, व्यवस्था तथा मर्यादा के युग का चित्र प्रस्तुत करती है। परन्तु इसके विपरीत महाभारत अशान्ति, संघर्ष, अव्यवस्था तथा कटु यथार्थवाद के युग का प्रतिनिधित्व करता है। रामायण में वर्णित संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक शिष्ट, सुसंस्कृत तथा आदर्श है।

कालिदास

कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। महाकाव्य, नाटक तथा गीति-काव्य सभी क्षेत्रों में उनकी रचनाएँ अनुपम हैं। कालिदास भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष-काल के प्रतिनिधि कवि हैं। तत्कालीन समाज के सच्चे रूप तथा सांस्कृतिक चेतना की झाँकी हमें उनकी रचनाओं में मिलती है। महाकवि के जन्म स्थान के बारे में निश्चित ज्ञान नहीं है। कवि ने मेघदूत में उज्जयिनी के वर्णन में विशेष

तथा बौद्ध कवि अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ईसवी) की रचनाओं में कई जगह उल्लेखनीय समता है, जैसे रघुवंश ७-५ और अश्वघोषकृत बुद्धचरित ३-११। दोनों रचनाओं में कालिदास की रचना निःसन्देह अधिक श्रेष्ठ है। अतः यह मालूम पड़ता है कि अश्वघोष पहले हुआ और कालिदास ने उसका अनुकरण कर अपनी शैली का परिष्कार व सुधार किया। चूंकि अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी ईसवी है, अतः कालिदास उससे पहले नहीं, उसके बाद गुप्त काल में ही हुआ। इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त के मन्दसोर अभिलेख में, जो ४७३ ई० का है, कालिदास की रचनाओं की स्पष्ट छाप मिलती है। अतः कालिदास का काल इस अभिलेख से पहले का अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का होना चाहिए। इस मत के पक्ष में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि कालिदास के ग्रन्थों में जो सुख, शान्ति, समृद्धि तथा उल्लास का वातावरण वर्णित है, वह गुप्त युग में ही संभव था, अन्य किसी युग में नहीं। इस प्रकार अधिकांश इतिहासकार कालिदास को गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन मानते हैं।

कालिदास की रचनाएं–

(१) ऋतु संहार– ऋतु-संहार एक गीति काव्य है। यह रचना की दृष्टि से कालिदास की प्रथम कृति मालूम पड़ती है। इस काव्य में छः सर्ग हैं जिनमें ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ कर बसन्त ऋतु तक छहों ऋतुओं का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है।

(२) कुमार-संभव– यह एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसके १७ सर्ग हैं, जिनमें शिव-पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा उसके द्वारा तारकासुर के वध की कथा का वर्णन है। कुछ विद्वान् इसके प्रारम्भ के आठ सर्ग ही कालिदास की रचना मानते हैं। कुमार-संभव कालिदास की काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण है। यह काव्य महाकवि की कोमल तथा उदात्त कल्पना और सुन्दर भाव-व्यंजना के कारण विशेष आकर्षक है। बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य का इसमें सुन्दर चित्रण है। प्रथम सर्ग में पर्वतराज हिमालय के सौन्दर्य का हृदयग्राही वर्णन तथा दूसरे सर्ग में बसन्त ऋतु का तथा उससे उत्पन्न वन की शोभा का मनोरम वर्णन है। तीसरे सर्ग में शिव की समाधि का वर्णन, चौथे सर्ग में शिव द्वारा कामदेव का दहन तथा रति का करुण विलाप, पाँचवें सर्ग में बटुवेशधारी शिव तथा पार्वती में संवाद और पार्वती की कठोर तपस्या का वर्णन काव्यकला की दृष्टि से बहुत चमत्कारपूर्ण तथा ओजपूर्ण है।

(३) रघुवंश—यह सारे संस्कृत साहित्य में एक उत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। इसके १९ सर्ग हैं, जिनमें सूर्यवंशी राजा–दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम तथा राम के वंशज राजाओं का चरित वर्णन है। १० वें सर्ग से १५ वें सर्ग तक राम-चरित का विस्तार से वर्णन है। महाराज

दिलीप नन्दिनी नामक गौ की सेवा कर 'रघु' नामक प्रतापी पुत्र प्राप्त करते हैं। चौथे सर्ग में रघु अपने पराक्रम से समस्त भारत की दिग्विजय करते हैं। पाँचवें सर्ग में रघु के विश्वजित् यज्ञ तथा अपूर्व दान का उल्लेख है। रघुवंश इन्दुमती का स्वयंवर, रघु के पुत्र अज का इन्दुमती से विवाह, कोमल माला के गिरने से इन्दुमती की मृत्यु और अज का करुण विलाप, पुष्पक विमान पर चढ़ कर राम तथा सीता द्वारा भारतवर्ष के रमणीय स्थलों का निरीक्षण, और निर्वासित होने पर सीता का लक्ष्मण के जरिए राजा राम को संदेश भेजना—ये अत्यन्त मनोरम तथा आकर्षक वर्णन हैं। इनका पाठक के मन पर अमिट प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। रघुवंश में सभी प्रधान रसों का परिपाक हुआ है—वसिष्ठ तथा वाल्मीकि ऋषियों के आश्रमों के वर्णन में शान्त रस का, रघु, अज तथा राम के युद्धों के वर्णन में वीर रस का, राजा अग्निवर्ण के विलास-वर्णन में शृंगार रस का। महाकवि ने रघुवंशी राजाओं के उदात्त चरित्र का चित्रण कर यह शिक्षा दी है कि प्रजा का रंजन करना राजा का परम कर्त्तव्य है।

(४) मेघदूत—यह गीति काव्य का अनुपम उदाहरण है। इसमें कुबेर के शाप से रामगिरि में निर्वासित एक यक्ष वर्षा ऋतु आने पर मेघ के द्वारा अपनी अलका-निवासिनी प्रिया को सन्देश भेजता है। मेघदूत के दो खण्ड हैं— पूर्व मेघ तथा उत्तर मेघ।

महाकवि कालिदास एक महान् नाटककार भी हैं। उनके द्वारा रचित निम्न तीन नाटक प्रसिद्ध हैं:—

(५) मालविकाग्निमित्र—यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें पाँच अङ्क हैं। इसका विषय शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेम कथा है। महारानी की परिचारिका मालविका अपने अनुपम सौन्दर्य से अग्निमित्र के मन को मोह लेती है और अन्त में उसका विवाह अग्निमित्र से हो जाता है। मालविकाग्नि मित्र नाट्य-कला की दृष्टि से सुन्दर रचना है। इसके संवाद बहुत आकर्षक हैं।

(६) विक्रमोर्वशीय—इस नाटक में राजा पुरूरवा तथा उर्वशी अप्सरा की प्रेम कथा का वर्णन है। इसमें कवि ने पुरूरवा तथा उर्वशी के उद्दाम प्रेम का चित्रण बड़ी मार्मिकता से किया है।

(७) अभिज्ञानशाकुन्तलम्—यह समस्त संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसके सात अङ्क हैं, जिनमें हस्तिनापुर के महाराज दुष्यन्त तथा शकुन्तला के प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा का वर्णन है। राजा दुष्यन्त शिकार खेलते हुए कण्व ऋषि के आश्रम में पहुंच जाते हैं। कण्व के आश्रम का दृश्य मनोरम है। शकुन्तला तथा उसकी दो सखियों-प्रियंवदा और अनुसूया का आमोद प्रमोद सुन्दर है। शकुन्तला को देख

दुष्यन्त के हृदय में उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाता है। शकुन्तला को भी दुष्यन्त से प्रेम हो जाता है। तीसरे अंक में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का समागम होता है और दोनों गान्धर्व विवाह कर लेते हैं। चतुर्थ अंक में ऋषि कण्व शकुन्तला को पति गृह के लिए विदा करते हैं। पंचम अंक में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुंचती है, किन्तु दुर्वासा ऋषि के शाप के कारण दुष्यन्त उसे नहीं पहचानता। तब एक दिव्य ज्योति शकुन्तला को उठा ले जाती है और वह मारीच ऋषि के आश्रम में अपनी माता मेनका के साथ रहने लगती है। छठे अंक में अंगूठी मिलने पर दुष्यन्त को शकुन्तला की याद आती है और वह दुःखी होता है। सप्तम अंक में स्वर्ग से लौटते समय दुष्यन्त का मारीच आश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन तथा शकुन्तला से मिलन होता है और मारीच ऋषि के आशीर्वाद के साथ नाटक का सुखद अन्त होता है।

शाकुन्तल का नाट्य-कौशल—शाकुन्तल कालिदास के नाट्य-कौशल का सुन्दर उदाहरण है। नाटक के संवाद रोचक तथा चमत्कारपूर्ण हैं तथा उनकी भाषा पात्रों के अनुरूप है। घटनाओं तथा दृश्यों का वर्णन सजीव तथा स्वाभाविक है। चरित्र-चित्रण भावोत्कृष्ट होते हुए भी सजीव तथा स्वाभाविक है। दुष्यन्त धीरोदात्त नायक है। वे कोरे कामुक ही नहीं हैं, वरन् प्रेमी, प्रजा-वत्सल, विचारक तथा कर्त्तव्यपरायण राजा हैं। शकुन्तला ऋषिकन्या होकर भी एक नारी है, प्रेमिका है। वह प्रेम, मैत्री, लज्जा, करुणा तथा तेज की मूर्ति है। शकुन्तला के हृदय में दुष्यन्त के प्रति प्रेम की उत्पत्ति का वर्णन बड़ा ही मार्मिक है। नाटक में शृंगार तथा करुण रसों का सुन्दर परिपाक है। नाटक का चतुर्थ अंक सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसमें करुण रस का अपूर्व प्रदर्शन है। शकुन्तला की विदाई के अवसर पर ऋषि कण्व का हृदय व्यथा से भरा है तथा आंसुओं के कारण उनका कण्ठ अवरुद्ध है। आश्रमवासियों के साथ-साथ प्रकृति भी दुःखी है। वृक्ष रेशमी वस्त्र, लाक्षारस तथा आभूषण देकर शकुन्तला के साथ अपना प्रेम प्रकट करते हैं और कोयल की ध्वनि द्वारा उसे विदाई की स्वीकृति देते हैं। आश्रम के पशु-पक्षी भी शकुन्तला के संभावित वियोग से दुःखी हैं। मृगियों ने तृण खाना छोड़ दिया है, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताएँ पत्तों के रूप में आंसू बहा रही हैं। शकुन्तला अपनी प्रियलता वनज्योत्स्ना से विदा लेती है। उसके द्वारा पाला हुआ मृग-शावक उससे लिपट जाता है। शकुन्तला उसे सान्त्वना देती हुई आगे बढ़ती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने प्रकृति को सजीव तथा मानवीय भावनाओं से युक्त चित्रित किया है। मानव की तरह प्रकृति भी शकुन्तला की विदाई के अवसर पर दुःख का अनुभव करती है। पाँचवें अंक में राजा द्वारा अपमान करने पर रोती हुई शकुन्तला के गमन का दृश्य भी बड़ा करुणाजनक है।

कवि की शैली—कालिदास की शैली सरल, सरस, स्वाभाविक तथा प्रसादगुण युक्त है। वे वैदर्भी रीति के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी शैली में प्रसाद, माधुर्य तथा ओज–इन तीन गुणों की प्रधानता है। सभी प्रकार के अलंकारों तथा छन्दों का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है। उपमा अलंकार के प्रयोग में तो कालिदास अद्वितीय हैं। कवि में प्रकृति एवं जीवन के निरीक्षण की अद्भुत योग्यता है।

सौन्दर्य-बोध—कालिदास सौन्दर्य के महान् कवि हैं। प्रकृति तथा नारी दोनों के ही सौन्दर्य का कवि ने हृदयग्राही वर्णन किया है। कुमार सम्भव में हिमालय पर्वत की शोभा का वर्णन अनुपम है। रघुवंश के प्रथम सर्ग में वशिष्ठ के तपोवन का तथा तेरहवें सर्ग में त्रिवेणी के सौन्दर्य का वर्णन बहुत ही रोचक है। ऋतु-संहार में सारी ऋतुओं की शोभा का वर्णन बहुत ही आकर्षक है।

मानव तथा प्रकृति में आत्मीय संबंध—कभी-कभी कवि प्रकृति तथा मानव के बीच परस्पर गहरी मित्रता तथा सहज प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करता है। वन्य प्रकृति और पशु-पक्षी सभी मानव के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। रघुवंश में कवि कहता है–'मृग सीता के दुःख में मुँह से घास गिरा-[illegible] हैं, मोर नाचना छोड़ देते हैं, वृक्षों के द्वारा–रूप पुष्प गिर पड़ते हैं। सीता के रोने पर सारा वन ही रो रहा है (रघुवंश, १४. ६९)'। शकुन्तला नाटक की नायिका शकुन्तला तपोवन की गोद में पली है। उसका वन्य प्रकृति से, वृक्ष–लताओं तथा पशु–पक्षियों से आत्मीय संबंध हो गया है। पतिगृह को जाने के लिए उद्यत शकुन्तला के लिए वृक्षों ने अनेक प्रकार के उपहार प्रदान किए हैं। शकुन्तला के सम्भावित वियोग से सारी प्रकृति दुःखी है। मेघदूत में कवि ने मनुष्य तथा प्रकृति के बीच घनिष्ठ एकता दिखाई है। प्रिया [illegible] वियोग से पीड़ित यक्ष प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर अपने संतप्त हृदय को शान्त करता है। उत्तरमेघ में वह प्रकृति के साहचर्य में अपनी प्रियतमा से मिलन का सुख–स्वप्न देखता है।

नारी-सौन्दर्य—कालिदास शृंगार और प्रेम के भावुक कवि हैं। नारी–सौन्दर्य के वर्णन में उनकी विशेष रुचि है। कालिदास के अनुसार सौन्दर्य बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं करता। सुन्दर आकृति वाले सभी अवस्थाओं में सुन्दर लगते हैं। सहज या अकृत्रिम (बनावट [illegible] रहित) सौन्दर्य ही सच्चा सौन्दर्य है। शकुन्तला का सौन्दर्य अव्याज (निष्कपट) मनोहर है। वल्कल वस्त्र पहने हुए होने पर भी उसकी शोभा अनुपम है। उसकी सुन्दरता निर्दोष है। कवि ने उसके सौन्दर्य की पुष्पित लता से तुलना की है–'शकुन्तला का अधर नये पल्लव की लालिमा लिए है; उसकी भुजाएँ कोमल शाखाओं का अनुकरण करते हुए झुकी हैं। विकसित फूल के समान सुहावना यौवन अङ्गों

में प्रस्फुटित हो रहा है। सौन्दर्य चेतना की दृष्टि से महाकाव्यों में कुमार-संभव का विशेष स्थान है। कवि ने पार्वती के सौन्दर्य का नखशिख तक वर्णन किया है। मेघदूत मे भी यक्ष मेघ से अपनी पत्नी के सौन्दर्य का वर्णन करता है।

सौन्दर्य पापकर्म के लिए नहीं—कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य पाप-वृत्ति का साधन नही है। कोरा शारीरिक सौन्दर्य ही कवि की दृष्टि में सच्चा सौन्दर्य नही है। स्त्री का सच्चा सौन्दर्य चरित्र है। कुमारसंभव मे उल्लेख है-'जब शरीर-सौन्दर्य से पार्वती शिव को आकृष्ट न कर सकी तो उसने मन ही मन अपने रूप की निन्दा की और फिर अपने रूप को तपस्या द्वारा सफल बनाने का प्रयास किया। महाकवि नारी को केवल भोग की वस्तु नहीं मानता, बल्कि उसे गृहिणी, सचिव तथा सखा के रूप में देखता है। कवि के अनुसार सौन्दर्य का फल प्रेम और सौभाग्य है।

कवि का प्रेम के प्रति दृष्टिकोण-कालिदास सौन्दर्य की पूर्णता प्रेम मे मानते हैं। कवि के अनुसार प्रिय का वियोग दुर्भाग्यपूर्ण होता है। विरह से पीड़ित व्यक्ति के लिए शीतल चन्द्रमा आग का गोला तथा उसकी किरणें वज्र के बाण बन जाते हैं। कालिदास प्रेम का मूल कारण पूर्वजन्म के संस्कारों को मानते हैं (भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि)। शकुन्तला में कवि ने कहा है- 'सुन्दर वस्तुओं को देख कर तथा मधुर शब्दों को सुन कर सुखी मनुष्य भी व्यग्र हो जाता है। इसका कारण यही है कि वह किसी पूर्वजन्म में होने वाली मैत्री को अनजाने में ही स्मरण करने लगता है'। (अंक पंचम,२) कालिदास के अनुसार प्रेम-सबन्ध इसी जन्म मे समाप्त नहीं होता; जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। रघुवंश मे परित्यक्ता सीता कामना करती है कि दूसरे जन्म मे भी राम उसके पति हों, उनसे उसका वियोग न हो।

कालिदास विषयवासना से युक्त प्रेम को सच्चा प्रेम नही मानते। वियोग की आग मे वासना के जल जाने पर ही सच्चा प्रेम निखरता है। मेघदूत में यक्ष की काम-वासना उसके कर्त्तव्य-पालन मे बाधक बन गई थी, इसलिए उसे पत्नी से वियोग का दण्ड झेलना पड़ा। शकुन्तला मे कवि प्रेम का उच्च आदर्श प्रस्तुत करता है। नाटक के आरम्भ में वासना से अभिभूत शकुन्तला तथा दुष्यन्त का पृथ्वी पर मिलन होता है। परन्तु यह मिलन स्थायी नहीं होता, क्योंकि यह शुद्ध प्रेम का मिलन नहीं था। जब विरह और परिताप की अग्नि में दोनों की वासना जल चुकती है, तब दोनों का पृथ्वी लोक से ऊपर मारीच-आश्रम मे स्थायी मिलन होता है। इस सबन्ध में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है-'शकुन्तला के आरम्भ के सौन्दर्य ने मंगलमय परिणति मे सफलता प्राप्त कर मर्त्य को अमृत के साथ सम्मिलित करा दिया है।'

कालिदास भ्रमर-वृत्ति अथवा स्वच्छन्द प्रेम का समर्थन नहीं करते। उनकी दृष्टि में दाम्पत्य प्रेम ही उचित प्रेम है। शकुन्तला में उन्होंने दुष्यन्त के मुँह से कहलवाया है कि 'संयमी पुरुषों का मन पर-स्त्री के प्रेम से सर्वथा दूर रहता है।' कुमारसंभव में भी कवि ने संयम की प्रशंसा की है।

कालिदासकालीन समाज—कालिदास भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष काल के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन का सच्चा चित्र मिलता है। सामाजिक जीवन वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित था। सब वर्ण अपने अपने निर्धारित कर्मों में संलग्न थे। परम्परागत कर्म को निन्दित होने पर भी छोड़ना उचित न था। आश्रम-व्यवस्था भी समाज में प्रचलित थी।

राजनीतिक आदर्शवाद—कालिदास की रचनाओं में विशेषतः रघुवंश में राजनीतिक आदर्शवाद का चित्रण है। प्रत्येक रघुवंशी राजा—दिलीप, रघु, दशरथ, राम-पुत्र के युवा होने पर उसे राज्य सौंप कर स्वयं संन्यास ग्रहण करते थे। भय से पीड़ित मनुष्यों की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य था। राजा पुत्रवत् प्रजा का पालन करते थे। राजा सदैव प्रजाहित में तत्पर रहते थे। दुष्यन्त के राज्य में निम्न वर्ण के लोग भी कुमार्ग पर नहीं चलते थे। जिस प्रकार वृक्ष धूप सह कर भी आश्रितों को छाया देते हैं, वैसे ही राजा स्वयं कष्ट सहकर प्रजा का हित-साधन करता था।

नारी का स्थान—राजाओं तथा उच्च वर्ग में बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी। पुत्र का न होना दुर्भाग्य माना जाता था। नारी को समाज में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। स्त्रियाँ शिक्षित होती थीं। शकुन्तला तथा उसकी सखियाँ प्रियंवदा और अनुसूया शिक्षिता थीं। स्त्रियाँ संगीत, चित्रकला तथा गृहकार्य में दक्ष होती थीं। वयस्क होने पर कन्या का विवाह होता था। गान्धर्व विवाह भी समाज में मान्य था। उच्चकुल की स्त्रियाँ जन-समूह में पर्दा किया करती थीं। शकुन्तला दुष्यन्त के दरबार में अवगुण्ठनवती होकर उपस्थित हुई थी।

आश्रमों की प्रतिष्ठा—राष्ट्रीय जीवन में आश्रमों का गौरवपूर्ण स्थान था। आश्रम शिक्षा तथा आध्यात्मिक साधना के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। उनकी रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य था। वहाँ बालक-बालिकाओं की शिक्षा [illegible] शान्त, पावन तथा [illegible] भी अधिक शान्तिप्रद [illegible]

धर्म—समाज में वैदिक धर्म तथा संस्कृति की परम्परा का प्रचलन था। संभवतः इस युग में शैवों तथा वैष्णवों के बीच भेद पैदा हो गए थे।

उत्कर्ष काल है, प्रतिनिधि हैं। भक्तिमार्ग की राममक्ति शाखा के वे मुख्य कवि हैं। उन्होंने हिन्दी में प्रचलित सभी शैलियों में रचना की है। उन्होंने 'प्रबन्ध' और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ की हैं। उनके द्वारा रचित साहित्य विशाल है। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, गीतावली, दोहावली, कवितावली, बरवैरामायण, पार्वती-मङ्गल, जानकी-मङ्गल, कृष्ण-गीतावली, रामसतसई, वैराग्यसंदीपनी, हनुमान-बाहुक, रामशलाका आदि।

काव्यगत विशेषताएँ—रामचरितमानस तुलसीदासजी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। भाषा, भाव, प्रबन्ध-कौशल, छन्द, अलंकार-योजना, रचना-कौशल तथा सहृदयता की दृष्टि से रामचरितमानस हिन्दी साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ है। यही नहीं, इस महाकाव्य की संसार की किसी भी भाषा के श्रेष्ठ काव्य के साथ तुलना की जा सकती है। रामचरितमानस हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों का आदर्श बना हुआ है। महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का इसमें भली प्रकार निर्वाह हुआ है। इस महाकाव्य में कवि ने चार वर्ग-धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि का लक्ष्य रखा है। इसमें जनकपुरी, लंका तथा अयोध्या पुरियों के सौन्दर्य तथा चित्रकूट, पंचवटी आदि वनों की शोभा का आकर्षक वर्णन है। वर्षा तथा शरद् ऋतुओं की शोभा का तथा उनके वियोगी राम पर प्रभाव का बड़े मार्मिक ढंग से चित्रण हुआ है। इसमें महाकाव्य के उपयुक्त तीनों प्रधान रस-शृंगार, वीर और शान्त का भली प्रकार परिपाक हुआ है, परन्तु शान्त (भक्ति) रस की प्रधानता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी तुलसी ने महान् कौशल प्रदर्शित किया है। प्रत्येक पात्र के स्वभाव तथा चरित्र का बहुत ही सजीव तथा स्वाभाविक चित्रण हुआ है। राम इस महाकाव्य के धीरोदात्त नायक हैं। कवि ने उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम तथा लोकरक्षक के रूप में चित्रित किया है। उनके चरित्र में शक्ति, शील और सौन्दर्य का अपूर्व मिश्रण है। उनके चरित्र में नर तथा नारायण के रूप का अपूर्व समन्वय कर कवि ने हिन्दू समाज के समक्ष शक्ति का आधार प्रस्तुत किया है। सीता का आदर्श पतिव्रता पत्नी के रूप में, भरत तथा लक्ष्मण का आदर्श भ्राता के रूप में और हनुमान का आदर्श सेवक के रूप में सुन्दर चित्रण हुआ है। इस महाकाव्य में जैसा आदर्श और उदात्त चरित्र-चित्रण हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। रामचरितमानस में तुलसी ने अनेक स्थलों पर मानव-भावनाओं का मार्मिक चित्रण किया है। रामचरितमानस संगीतमय महाकाव्य है, इसके पद बरबस श्रोताओं का मन मुग्ध कर लेते हैं। तुलसी जितने भावुक थे, उतने ही कला-मर्मज्ञ भी थे। उनकी रचना में भाव तथा कला दोनों

पक्षों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। भावपक्ष जितना मार्मिक है, कला-पक्ष उतना ही चमत्कारपूर्ण। तुलसी ने रामचरितमानस की रचना का उद्देश्य 'स्वान्तः सुखाय' अर्थात् 'अपने अन्त:करण का सुख' बतलाया है, किन्तु उनकी यह रचना लोक-संग्रह की उत्कट भावना से ओत-प्रोत है और लोक-जीवन को समग्ररूप में ग्रहण किए हुए है। कवि ने मर्यादा को अधिक महत्त्व दिया है और राम के लोकरक्षक तथा लोकरंजक रूप का अंकन किया है। कवि ने इस महाकाव्य में आदर्शोन्मुख जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की है, जिससे यथार्थवाद का पूर्णतः सही चित्रण सम्भव न हो सका है।

तुलसी के मुक्तक काव्य—तुलसी को काव्य की विविध शैलियों पर पूर्ण अधिकार था। वे प्रबन्ध काव्य के तो महाकवि हैं ही, गीतिकाव्य में भी उनका काव्य-कौशल असाधारण है। 'विनय पत्रिका' उनका उत्कृष्ट गीति-काव्य है। राम-भक्ति इस ग्रन्थ का आदर्श है। भक्ति-रस की यह उत्कृष्ट कृति है। इसके गीतों में दैन्य, शान्तरस तथा कहीं-कहीं ओज की प्रधानता है। इसमें भक्त के आत्म-निवेदन तथा आराध्यदेव राम से उद्धार की कामना का मार्मिक चित्रण हुआ है। इसमें ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति सम्बन्धी विचारों का भी सुन्दर वर्णन है। इसके गीत संवेदनापूर्ण तथा संगीत प्रधान हैं।

गीतावली—कवि का दूसरा सुन्दर गीति-काव्य है। इसके गीतों में रामचरित का सुन्दर वर्णन है। यह एक सरस तथा लीला-प्रधान रचना है। इसमें वात्सल्य रस का वर्णन बड़ा सजीव एवं हृदयग्राही है। कवितावली के मुक्तक छन्दों में कवि ने अपने इष्ट देवता राम का मार्मिक ढंग से स्तुति-गान किया है। इसमें वीर, बीभत्स तथा भयानक रसों का सुन्दर परिपाक है। इसमें केवट-प्रसंग तथा पथिक राम का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। इसमें लंकादहन तथा हनुमानजी के युद्ध-कौशल का तो बहुत ही सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। कृष्ण-गीतावली भी एक बहुत आकर्षक है।

भाषा एवं छन्द—भाषा की दृष्टि से तुलसीदास की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नहीं हो सकती। उनका ब्रज, अवधी तथा संस्कृत, तीनों भाषाओं पर असाधारण अधिकार था। रामचरितमानस की भाषा अवधी है और कवितावली, गीतावली एवं विनयपत्रिका की भाषा संस्कृत-प्रधान ब्रजभाषा। भाषा के क्षेत्र में भी तुलसी ने समन्वय का प्रयत्न किया है। उनकी भाषा जितनी लौकिक है, उतनी ही शास्त्रीय। उन्होंने सर्वत्र साधु, परिमार्जित और प्रसादगुण युक्त भाषा का प्रयोग किया है। उनकी कृति 'विनय पत्रिका' में भाषा का अनुपम प्रवाह है। उन्होंने सर्वत्र विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है।

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में अनेक प्रकार के छन्दों का चमत्कार-पूर्ण ढंग से प्रयोग किया है। रामचरितमानस में दोहा और चौपाई की प्रधानता है, किन्तु उनकी अन्य रचनाओं में कवित्त, सवैया, छप्पय, पद, गीत आदि का भी बड़ी कुशलता से प्रयोग हुआ है।

लोककवि—तुलसीदास सम्भवतः प्रथम महत्वपूर्ण कवि थे, जिन्होंने संस्कृत का मोह छोड़कर लोक-भाषा में काव्य रचना की। उन्होंने अपनी सारी रचनाएँ जनता की बोलचाल की हिन्दी भाषा में लिखीं, इसलिए उन्हें सच्चे अर्थों में लोककवि कहा जा सकता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में जनभाषा, अवधी तथा ब्रज को अपनाया, जिससे उनकी अनुभूतियाँ जनता के निकट आ सकीं। तुलसी की अनुभूतियों तथा संवेदना में हमें भारतीय जन-मानस का आवेग तथा संगीत मिलता है।

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि—तुलसीदास भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता एवं प्रतिनिधि कवि हैं। देश की संस्कृति के कण-कण को उन्होंने अपने भीतर पचा लिया था। उनका व्यक्तित्व हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के साथ एकाकार हो गया था। उनकी कृति रामचरितमानस हिन्दू संस्कृति का प्रमाण-ग्रन्थ है। वैदिक युग से लेकर मध्यकाल तक हिन्दू समाज में जो भी चिन्तन हुआ, उसका समावेश इस महाकाव्य में है। भारतीय संस्कृति के समग्र रूप का अंकन रामचरितमानस में हुआ है। इसमें भारतीय संस्कृति के जीवन-मूल्यों तथा आदर्शों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इसे हम सच्चे अर्थों में भारत की सांस्कृतिक रचना कह सकते हैं। चारों वेदों तथा शास्त्रों के सार को तुलसी ने अपने ग्रन्थ में जन साधारण की बोलचाल की भाषा में प्रस्तुत किया है। जिससे जनता अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सके। इसीलिए रामचरितमानस को निगमागम सम्मत कहा गया है।

महाकवि तुलसीदास की काव्य-प्रतिभा अनुपम है। वे हिन्दी साहित्य-गगन के सूर्य हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार भारत-हृदय, भक्त-शिरोमणि तुलसीदास जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाले हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं।

लोकनायक—डा० ग्रियर्सन के अनुसार महात्मा बुद्ध के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास हुए। कृष्ण एवं बुद्ध की तरह उन्होंने धर्म का परिष्कार कर सामाजिक मर्यादा की स्थापना की। उनके द्वारा स्थापित लोक धर्म आज भी हिन्दू धर्म का अधिकृत रूप माना जाता है। उनके द्वारा रचित रामचरितमानस हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का प्रमाण-ग्रन्थ

रामचरित की रचना कर तुलसीदास ने निराश तथा पददलित हिन्दू समाज

का मार्ग-दर्शन किया और हिन्दुत्व की रक्षा की । तुलसीदास की
लता का यही ऐतिहासिक महत्त्व तथा रहस्य है ।

तुलसीदास सचमुच लोकनायक थे, इस बात की समीक्षा के
उनके युग पर दृष्टिपात करना होगा । मध्य काल में जब तुलसी
हिन्दू स्वतन्त्रता का दीपक बुझ चुका था । शताब्दियों के मुस्लिम
हिन्दुओं के चरित्र तथा मनोबल को नष्ट कर डाला था । हिन्दू-समाज
त्रस्त और निर्जीव-सा हो गया था । समाज में विशृंखलता तथा
व्याप्त थी । समाज के सामने कोई निश्चित आदर्श या लक्ष्य न था ।
के लोग विलास में मग्न थे और नीची जातियों के अधिकांश स्त्री-पुरु
अशिक्षित तथा रोगग्रस्त थे । सामान्य व्यक्ति में जीवन के प्र
आकर्षण न रहा था । संसार त्याग कर संन्यासी हो जाना साधारण
हो गई थी । हिन्दू धर्म की उदात्त भावना तथा लोकहित का आदर्श
लुप्त हो गया था । देश की धार्मिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी । धा
आडम्बर व पाखण्ड फैले हुए थे । देश में विविध सम्प्रदायों के सा
बोल-बाला था । चारों ओर 'अलख' की आवाज गूंजती थी । स
साधक गुह्य सिद्धियों की साधना में लगे थे । वज्रयानी सिद्ध तथा न
योगी हिन्दू जनता को परम्परागत धर्म के मार्ग से विमुख कर रहे थे ।
जाति में उत्पन्न कई सन्त जन वेद, पुराण आदि की निन्दा कर सामाजि
धार्मिक मर्यादाओं पर कुठाराघात कर रहे थे । इन पन्थों एवं सम्प्र
प्रभाव में आकर लोग मूर्तिपूजा तथा पौराणिक धर्म का परम्परागत
छोड़ देते थे, परन्तु वे निराकार ईश्वर के स्वरूप को नहीं समझ पा
भाव तथा गोरखपंथी योग का तत्व समझ पाना भी सामान्य व्यक्ति क
से परे था । परिणाम यह होता था कि लोग धर्म से विमुख होने लगे थे,
हिन्दू धार्मिक परम्परा कमजोर पड़ रही थी । ऐसे हिन्दू दृढ़ निष्ठा के अभ
आसानी से इस्लाम धर्म में दीक्षित किए जा सकते थे । पंडितों तथा
जीवियों का समाज के साथ सम्पर्क टूट गया था । अतः हिन्दू सम
विशृंखलित होने का संकट उपस्थित था । ऐसे समय एक ऐसे महापुर
आवश्यकता थी जो उस संकट काल में निराशा तथा हीनता से ग्रसित
अपने परम्परागत आदर्शों से भ्रष्ट हुए हिन्दू समाज का मार्ग-दर्शन कर
तुलसीदास ने युग की इस माँग को पूरा किया । उन्होंने भय तथा हीन
ग्रस्त हिन्दू जनता के सामने भगवान् राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य सम
लोकरक्षक तथा मर्यादापुरुषोत्तम रूप की प्रतिष्ठा की । तुलसी की ये
दीन-प्रतिपालक, सर्वशक्तिमान्, लोकरंजक तथा लोकरक्षक थे । उनका

हिन्दू जनता ने राम के इस लोकरक्षक रूप में दर्शन कर अपने को सुखी एवं आश्वस्त अनुभव किया। डूबते हुए हिन्दुत्व को राम का दृढ़ आलम्बन मिल गया।

हिन्दू-समाज के उद्धारक एवं स्रष्टा— तुलसीदास का उद्देश्य काव्य रचना द्वारा समाज का उद्धार करना था। उन्होंने केवल सीता के लिए रामचरित का वर्णन नहीं किया। विविध पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा उन्होंने या तो भारतीय संस्कृति के किसी आदर्श का निरूपण किया है या किसी सामाजिक बुराई की आलोचना की है। तुलसीदास ने समाज की बुराइयों तथा दुर्बलताओं का उद्घाटन कर लोगों का मानस-परिष्कार किया। उन्होंने रामचरित-मानस में जो कलियुग का वर्णन किया है, वह परम्परागत होते हुए भी तत्कालीन समाज की शोचनीय अवस्था का सूचक है। कलियुग के वर्णन में उन्होंने समाज के नैतिक अधःपतन और पारिवारिक तथा सामाजिक विशृंखलता का सजीव चित्र खींचा है। अव्यवस्थित समाज के लिए उन्होंने मर्यादापालन की आवश्यकता अनुभव की। भगवान् राम के चरित्र का वर्णन कर उन्होंने समाज के सामने मर्यादा का आदर्श रखा। 'उनके नायक राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। परम्परा से प्रचलित धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था को निर्दोष रूप में जीवित रखना ही उनका उद्देश्य था। अतः उन्होंने समाज की मर्यादा अर्थात् वर्णाश्रम-पालन पर सर्वाधिक बल दिया। उनकी रचना रामचरितमानस में कहीं मर्यादा का थोड़ा भी उल्लंघन नहीं है। वस्तुतः रामचरितमानस मर्यादा के धरातल पर रचित भक्ति तथा साहित्य की महान् कृति है। तुलसी ने मर्यादापुरुषोत्तम राम के रूप में अपनी संस्कृति के समस्त आदर्शों का मूर्त रूप प्रस्तुत किया है। इसलिए राम तथा उनकी कथा हिन्दूजन-मानस में अमर हो गई है। रामचरितमानस में पारिवारिक जीवन के लिए कवि ने लक्ष्मण तथा भरत के भ्रातृ-प्रेम का तथा सीता के पातिव्रत्य धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया है। तुलसी का मर्यादावाद लौकिक है, साम्प्रदायिक नहीं।

तुलसीदास, कबीर, दादू आदि भक्तों की तरह हठधर्मी नहीं, बल्कि सहिष्णु एवं समन्वयवादी थे। कबीर व दादू की तरह उन्होंने परम्परागत सामाजिक व्यवस्था नष्ट करना नहीं चाहा। उन्होंने समाज की अव्यवस्था एवं बुराइयों पर प्रहार किया। तुलसीदास परम्परागत वर्णाश्रम-व्यवस्था में विश्वास रखते थे, किन्तु फिर भी उन्होंने भक्ति के आधार पर सामाजिक समानता का प्रतिपादन किया है। रामचरितमानस में निषादराज गुह तथा शबरी की कथा द्वारा उन्होंने यह दिखाया है कि भगवान् का भक्त नीच जाति का होने पर भी प्रशंसनीय है और उसके साथ खान-पान किया जा सकता है। तुलसी की दृष्टि में भक्ति के धरातल पर जाति-पाँति के सब लौकिक भेद लुप्त हो

जाते हैं। नीची जाति का व्यक्ति भक्त हो तो पल भर में ऊँची जाति के भक्तों से भी ऊपर उठ जाता है और भगवान् के लिए 'भरत सम भाई' हो जाता है। तुलसी के राम अधम और पतित के उद्धारक हैं।

समन्वयकारी— तुलसीदास लोकनायक थे और लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" वाल्मीकि की तुलना में तुलसीदास का कार्य अधिक कठिन था। वाल्मीकि ने तो केवल आर्यसंस्कृति का ही आदर्श प्रस्तुत किया था, किन्तु तुलसी को अपने युग में प्रचलित विभिन्न परस्पर विरोधी सम्प्रदायों तथा विचार-पद्धतियों में समन्वय स्थापित करना था। तुलसीदास समन्वय के इस महान् कार्य के सर्वथा उपयुक्त थे। उन्होंने समाज के विविध स्तरों का जीवन अनुभव प्राप्त किया था। उन्हें समस्त शास्त्रों तथा लोक-जीवन का अगाध ज्ञान था और इसी कारण उनका काव्य बहुत व्यापक बन गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में तुलसी का काव्य 'समन्वय की विराट् चेष्टा है'। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय— 'रामचरितमानस' शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है। तुलसीदास ने इस समन्वय का आधार रामचरित को चुना है। क्योंकि राम का नाम पहले से ही समाज में प्रचलित था। लोकगृहीत राम के इस नाम का मर्यादापुरुषोत्तम के चरित से समन्वय कर तुलसी ने राम के लोक-संग्रही रूप को प्रतिष्ठित किया। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय कर तुलसी ने विषमता का निराकरण किया और एक नवीन प्रेरणा दायक आदर्श प्रस्तुत किया।

शैव व वैष्णवों में समन्वय—तुलसी के युग में वैष्णव तथा शैव मतावलम्बियों में घोर विद्वेष की भावना थी। उन्होंने शिव और राम की एकता स्थापित कर इस विरोध को मिटाने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में रामचरितमानस की निम्न उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं— 'राम भक्त होने के लिए शिव की भक्ति अनिवार्य है।' 'शिवद्रोही कभी भी राम का प्रिय नहीं बन सकता'। 'शिव से बढ़कर राम का भक्त कोई नहीं है'। रामचरितमानस में शिव और राम की भक्ति को एक दूसरे पर आश्रित बतलाया गया है। तुलसी शाक्तों की रीति-नीति को समाज के लिए घातक समझते थे, किन्तु उन्होंने 'सीता' में आदि-शक्ति का रूप प्रतिष्ठित कर शाक्त मत से भी . की चेष्टा की है। उन्होंने शिव के परिवार के अन्य सदस्य गणपति गौरी की पूजा का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार तुलसी ने तत्कालीन

शीतल उपदेश से शान्त कर हिन्दू समाज की महान् सेवा की। उन्होंने सनातन धर्म के बाहरी रूप तथा अन्तरात्मा के बीच भी समन्वय स्थापित किया। कबीर तथा दादू की तरह उन्होंने धर्म के बाह्य रूप पर कोई आघात नहीं किया, वरन्, व्रत, उपवास, यज्ञ, तीर्थ, तिलक, पूजा पाठ, मुद्रा आदि धार्मिक आचारों में अपना पूर्ण विश्वास प्रकट किया। इस समन्वय के फलस्वरूप हिन्दू-समाज में एकता तथा प्रेम का भाव उत्पन्न हो सका जो उसे मुस्लिम शासन-काल में जीवित रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक था।

धर्म के उद्धारक— तुलसीदास हिन्दू धर्म के प्रवक्ता ही नहीं, उसके संशोधक और उद्धारक भी हैं। उन्होंने धर्म में आडम्बर तथा पाखण्ड का खण्डन किया और धर्म की व्यापकता पर जोर दिया। उन्होंने अहिंसा, परोपकार, दया आदि नैतिक गुणों को धर्म का आधार बताया और हिंसा आदि दुर्गुणों की तीव्र भर्त्सना की। देखिए— 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई।' तुलसी ने निराकार-उपासना की विचारधारा का, जो उनके समय में बहुत प्रचलित थी, खण्डन किया। उन्होंने वामपंथी व गोरखपंथी साधुओं की भी आलोचना की, क्योंकि वे वेद तथा शास्त्रों का खण्डन कर समाज में अव्यवस्था उत्पन्न कर रहे थे। धार्मिक क्षेत्र में तुलसी ने ज्ञान तथा भक्ति का समन्वय किया, पर भक्ति को सर्वोपरि माना। उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम की भक्ति का आदर्श रखा। उन्होंने दास्यभाव की भक्ति को श्रेष्ठ बतलाया। विभीषण, भरत, हनुमान आदि सेवक भक्तों का आदर्श उपस्थित कर उन्होंने 'आत्म-निवेदन' भक्ति पर जोर दिया। ममता तथा अहंकार से रहित हो, तन-मन-धन से स्वयं को तथा समस्त कर्मों को श्रद्धा पूर्वक भगवान् राम के समर्पण कर देना ही आत्म-निवेदन भक्ति है। वे अपने आराध्य-देव राम की शरणागत-वत्सलता का भी बार बार उल्लेख करते हैं। रामचरितमानस में तुलसी के आराध्य देव राम का पूर्णतः मानवीकरण हो गया है। तुलसी के अनुसार भक्ति का लक्ष्य केवल मोक्ष प्राप्त करना ही नहीं है। तुलसी का भक्त मोक्ष की अपेक्षा अपने इष्टदेव राम के समीप रहने की कामना करता है। तुलसी ने अपने सभी पात्रों द्वारा भक्ति के आदर्श की प्रतिष्ठा और प्रचार करने का प्रयत्न किया है।

तुलसी हिन्दुत्व के परम रक्षक थे। मुस्लिम शासन-काल में जब हिन्दू मन्दिर निरापद नहीं थे और हिन्दुओं की मूर्तिपूजा आलोचना का विषय बनी हुई थी, तुलसीदास ने वीरतापूर्वक राम की साकार-उपासना का प्रवर्तन किया। प्रसंग आते ही तुलसी राम के सगुण रूप पर जोर देते हैं। रामायण में बहुधा भक्त भगवान् से यही वरदान मांगते हैं कि 'राम का सगुण रूप ही उनके मन में बसे'।

साम्प्रदायिक नहीं — हिन्दू धर्म के रक्षक तथा उद्धारक होते हुए भी तुलसी साम्प्रदायिकता से कोसों दूर थे। उनकी रचनाओं में कहीं भी इस्लाम धर्म या मुसलमानों के प्रति क्रोध या निन्दा का भाव नहीं मिलता। उनकी भाषा में भी साम्प्रदायिकता की गन्ध नहीं मिलती। उन्होंने उदारतापूर्वक प्रचलित अरबी व फारसी शब्दों को अपनी रचना में स्थान दिया है, जैसे, गरीब, साहिब, बाग, लायक, जमात, फौज, बजाज आदि।

यद्यपि तुलसी ने बुद्ध, कबीर आदि की भाँति कोई नया मत या सम्प्रदाय नहीं चलाया, हिन्दू धर्म में आज उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। वे हिन्दू संस्कृति के प्रतिनिधि ही नहीं, उसके संशोधक तथा उद्धारक भी हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पंडित-सुधारक थे, लोकनायक और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में इनका कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता (balance) की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की, जो अब तक उत्तर भारत का मार्गदर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन नवीन भारत का जन्म हो गया होगा।'

रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर भारतीय साहित्य की लगभग पूरी एक शताब्दी का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपनी विविध रचनाओं में कवि ने अपने युग की सारी प्रवृत्तियों तथा शैलियों का समावेश कर दिया है। साहित्य का शायद ही कोई ऐसा अंग हो जिसपर उनकी बहुमुखी प्रतिभा की छाप न लगी हो। उनकी महान् साहित्य-रचना के फलस्वरूप बंगला जैसी प्रान्तीय भाषा का साहित्य विश्व-साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सका। आज भी रवीन्द्रनाथ की विश्व-कवि के रूप में प्रतिष्ठा है। १९१२ में उनकी गीतांजलि नामक कविताओं के संग्रह के अंग्रेजी अनुवाद पर संसार-प्रसिद्ध नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ। डा० श्रीकुमार बैनर्जी के अनुसार भारतीय इतिहास में उनका एक विशेष महत्त्व इस बात में है कि वे 'कवि के रूप में भारतीय संस्कृति के शायद अन्तिम प्रतिनिधि हैं'। भारतीय संस्कृति के विविध-पक्ष तथा जीवन-मूल्य टैगोर की रचनाओं में सुन्दर ढंग से प्रकट हुए हैं।

टैगोर का जीवन-वृत्त (१८६१–१९४१ ई०)—रवीन्द्रनाथ का जन्म १८६१ ई० में बंगाल के एक संभ्रान्त परिवार में हुआ। उनके पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर ब्रह्म-समाज के नेता थे। बाल्यकाल से ही रवीन्द्रनाथ ने बंगाली भाषा में कविताएँ रचना प्रारम्भ कर दिया। उनको उपनिषद्, संस्कृत काव्य-साहित्य तथा प्राचीन एवं मध्यकालीन बंगला साहित्य के वैष्णव गीतों से कविता के लिए विशेष प्रेरणा मिली। उनकी कविताओं पर हिन्दी के सन्त

प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य परिचित थे। इन विविध त समृद्ध और अनुपम बन तथा गीत रचे। उन्होंने अनेक नाटक, उपन्यास, कहानियाँ तथा निबन्ध लिखे। वे ८० वर्ष की आयु में मरते दम तक कविताएँ लिखते रहे। वह केवल एक कवि ही नहीं, महान् देशभक्त और सुधारक भी थे। उन्होंने कलकत्ता के पास बोलपुर में शान्ति-निकेतन नामक विश्वविद्यालय की स्थापना की। वे देश भर में गुरुदेव के नाम से प्रसिद्ध थे। वे संसार के अनेक देशों में गए और वहाँ उन्होंने अपने भाषणों में भारतीय संस्कृति के आदर्शों की व्याख्या की। १९४१ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

बंगला-साहित्य के युग-निर्माता—रवीन्द्रनाथ बंगला साहित्य में केवल एक व्यक्तित्व ही नहीं, वरन् एक युग हैं। उनकी आजीवन साहित्य-साधना के फलस्वरूप बंगला साहित्य अपनी कीर्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। रवीन्द्रनाथ बंगला के केवल कवि ही नहीं, नाटककार, उपन्यासकार, कहानी लेखक, समालोचक, राष्ट्रीय-लेखक और अभिनेता सभी हैं। उन्होंने बंगला की साधु भाषा को छोड़कर साधारण लोगों के बोलचाल की भाषा को अपनाया और उसमें अद्भुत सौन्दर्य तथा नमनीयता भरदी। उन्होंने भाषा को संगीतमय बना डाला। नमनीय तथा संगीतमय हो जाने के कारण इस भाषा में कविता का स्वाभाविक पुट आ गया है। यदि इसमें आज वैज्ञानिक भी लिखता है तो उसकी भाषा में कविता का पुट होता है। बंगला भाषा को रवीन्द्रनाथ ने जो सौन्दर्य, रूप तथा नमनीयता दी है, उसके फलस्वरूप यह भाषा आधुनिक विश्व की सर्वाधिक सुन्दर और विकसित भाषाओं में गिनी जाती है।

रवीन्द्रनाथ कवि के रूप में—यद्यपि साहित्य के सभी अंगों पर रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा की छाप पड़ी है, उनका कविरूप प्रमुख तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके काव्य में प्रकृति, प्रेम तथा आध्यात्मिकता इन तीन विषयों का प्रमुख रूप से वर्णन है। इसी तरह श्री हंसकुमार तिवारी ने इनके काव्य की तीन प्रवृत्तियाँ बतलाई हैं—अन्तर्मुखी, बहिर्मुखी और ऊर्ध्व-मुखी। उनकी पहली कविता 'वनफूल' से लेकर 'छवि ओ गान' तक की रचनाएँ अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की प्रतीक हैं। इनमें कवि के भाव तथा आवेग जो प्रकाशित होने को आतुर थे, अस्पष्ट ही रह गए हैं। 'कड़िओ कोमल' से 'खेया' तक की रचनाओं में बहिर्मुखी प्रवृत्ति दिखाई देती है। 'खेया' के बाद से लिखी गई रचनाओं में कवि की प्रवृत्ति ऊर्ध्वमुखी हो गई है और उसमें आध्यात्मिकता की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है।

जगत् और जीवन में आस्था—आध्यात्मिकता की ओर झुकाव होने पर भी कवि की जगत् और जीवन में आस्था है। कवि के जीवन-दर्शन की यह विशेषता है कि वे आध्यात्मिकता का अर्थ जीवन और जगत् की उपेक्षा नहीं मानते। रवीन्द्रनाथ देवता तथा स्वर्ग की तुलना में मनुष्य और जगत् को कभी भी छोटा नहीं देखते। उनके साहित्य में मानव को एक गौरव मिला है जो प्राचीन साहित्य में कहीं नहीं था। वस्तुतः कवि ने अपनी रचनाओं में *जगत् और मानव के गौरव का गान किया है।* उन्होंने अपनी रचनाओं में देवता के माध्यम से मनुष्य को नहीं देखा; वरन् मनुष्य के माध्यम से देवता को देखा है। मनुष्य का गौरव-गान करते हुए कवि कहते हैं—'सबार उपरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाई'। अर्थात् सबसे बढ़कर सत्य मनुष्य है, उसके ऊपर कुछ नहीं है। कवि की यह विचारधारा उनकी 'स्वर्ग से विदाई' नामक कविता में सुन्दर ढंग से प्रकट हुई है। मनुष्य स्वर्ग से कहता है—'हे स्वर्ग! तुम हममुख रहो, हे देवताओ! अमृतपान करो। स्वर्ग तुम लोगों के सुख का स्थान है, हम तो यहाँ प्रवासीमात्र हैं। मर्त्यभूमि स्वर्ग तो नहीं है, किन्तु मातृभूमि है, तभी तो उसकी आँखों में अश्रुजल की धारा बहती है।' कवि की मानवीय अभिरुचि को उनकी आध्यात्मिकता कहीं भी दबा नहीं पायी। कवि अपने बालगीतों तथा प्रेमगीतों में बालक तथा स्त्री की आत्मा के साथ अपनी एकरूपता प्रदर्शित करते हैं।

रोमाण्टिक कवि—रवीन्द्रनाथ एक रोमाण्टिक कवि हैं। बँगला साहित्य में रोमाण्टिक कविता का जो युग बिहारीलाल चक्रवर्ती से प्रारम्भ हुआ, वह रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में अपनी पूर्णता को पहुँच गया। प्रत्येक प्रकार के सौन्दर्य में एक अजाने विस्मय का जो भाव जुड़ा होता है, उसी का नाम रोमाण्टिकता है। रोमाण्टिक काव्य के तीन प्रमुख लक्षण होते हैं—अतीन्द्रियता, सौन्दर्योपलब्धि और आनन्दोपभोग। रवीन्द्रनाथ के काव्य में ये सारे लक्षण हैं। उन्होंने मानव-मन पर प्रकृति के प्रभाव का सुन्दर और मार्मिक चित्रण किया है।

रहस्यवादी कवि—रवीन्द्रनाथ के अनेक काव्यों में उच्चकोटि की रहस्यवादी कल्पना है। 'गीतांजलि' कवि के रहस्यवाद का सुन्दर उदाहरण है। रहस्यवाद से तात्पर्य है—अस्पष्ट अनन्त जीवन से सीमित मानव-जीवन के अस्पष्ट सम्बन्ध का संकेत। कवि की रहस्यवादी कल्पना पर उपनिषदों तथा सूफी काव्य का प्रभाव प्रतीत होता है।

भारतीय साहित्य-साधना के सत्य, शिव तथा सुन्दर इन तीन आदर्शों में से कवि की सुन्दर की ओर विशेष रुचि है। सत्, चित् तथा आनन्द में कवि आनन्द के उपासक हैं। अतएव रवीन्द्रनाथ के काव्य में चित्र, संगीत और

भाव की समानरूप से प्रधानता मिलती है। 'सोनार तरी', 'कथाम्रो काहिनी', 'बलाका', 'उर्वशी', 'गीतांजलि' आदि उनकी उत्कृष्ट काव्य-रचनाएँ हैं।

ससीम और असीम का मेल—ससीम (सीमित) में असीम (अनन्त) की लीला का साक्षात्कार करना ही रवीन्द्रनाथ के कवि जीवन की साधना रही है। 'जीवन-स्मृति' में कवि ने स्वयं कहा है कि मेरी काव्य-रचना की मुख्यरूप से एक ही दिशा है और उसका नाम दिया जा सकता है, ससीम में असीम के मिलन की साधना। इस विचार को कवि ने गद्य में, पद्य में, हजारों बार अनेक प्रकार से प्रकट भी किया है। गीतांजलि में एक जगह वे कहते हैं—

'सीमार माझे असीम तुमि बजाओ आपन सुर;
आमार मध्ये तोमार लीला ताइ एतो मधुर।

'हे असीम, तुम सीमा में अपना सुर छेड़ा करते हो। इसीलिए मुझमें तुम्हारी लीला इतनी मधुर लगती है। उनकी दूसरी प्रसिद्ध कविता रूप और भाव की एकात्मकता में इसी ससीम और असीम के मिलन की बात कही गई है। 'धूप अपने को गन्ध में बिखेरने को लालायित है और गन्ध धूप में घुल-मिल जाना चाहती है। सुर छन्द में बंधने को आकुल है और छन्द सुर में बिखर-निखर जाने को। भाव रूप में स्वरूप पाना चाहता है। असीम ससीम के निविड़ संग का इच्छुक है और ससीम असीम में खो जाना चाहता है'।

गीतमय काव्य—रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रतिभा मुख्यतः गीतमय (Lyrical) है। गीतिमत्ता उनके काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। केवल गीत के लिए भी कवि ने गीत लिखे और काव्य में भी उन्होंने संगीत योजना की। उनकी संगीत योजना का रूप-माधुर्य तथा स्वर-सौन्दर्य अनुपम है। कवि की 'वीथिका', 'गीतिमाल्य', 'गीतवितान', 'ऋतुरंग', 'वर्षामंगल' आदि कविताओं में संगीत का एक मादक आकर्षण है, जिससे बचा नहीं जा सकता।

रवीन्द्रनाथ के गीतों में अनेक प्रकार के छन्दों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग है। उन्होंने पुराने छन्दों में एक नया आकर्षण भर दिया है। उनकी बाद की कविताओं में मुक्तछन्द तथा गद्यानुप्रास का खूब प्रयोग हुआ है। कवि की अनेक कविताएँ गद्यकाव्य की शैली में भी लिखी गई हैं।

रवीन्द्रनाथ का काव्य साहित्य अपार है। उन्होंने अगणित प्रेम-गीत तथा कविताएँ लिखी हैं। बंगला भाषा में देशप्रेमपूर्ण कविताएँ तो उन जितनी शायद ही किसी कवि ने लिखी हों। उन्होंने बहुत सी प्रकृति-कविताएँ भी लिखीं। उन्होंने नीति तथा आध्यात्मिक विषयों पर भी कविताएँ रचीं। 'बलाका' नामक आध्यात्मिक कविता इसका सुन्दर उदाहरण है। यही नहीं, उन्होंने कविता में कहानियाँ भी लिखीं।

नाटक—नाटिकाएँ—रवीन्द्रनाथ ने अनेक नाटिकाएँ तथा प्रहसन भी लिखे हैं। उनके अधिकांश नाटकों का रूप कविता का है, इसलिए उन्हें नाट्य-कविता कहा जा सकता है। उनके गद्य-नाटकों में भी संगीत की धारा बहती है। उनके नाटक एक गीत—संवादमय सरस काव्य बन गए हैं। 'चाडालिका', 'चित्रांगदा', 'नटीरपूजा', 'विसर्जन आदि नाटक संवादमय काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। किसी—किसी नाटक में तो कविता में ही संवाद भी है, जैसे 'कर्ण-कुन्ती' व 'गांधारी'। कवि ने अनेक प्रतीकात्मक नाटकों की भी रचना की है। उनमें 'डाकघर', 'राजा' तथा 'रक्त—करबी विशेष प्रसिद्ध हैं। कुछ नाटकों में हमारे सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की रूढ़िवादिता पर व्यङ्ग्य है। रवीन्द्र-नाथ के नाटकों में गीतों की प्रधानता देखने योग्य है। कवि का 'चित्रा' नामक नाटक उल्लेखनीय है। उसका कथानक महाभारत से लिया गया है, पर उसमें स्त्री—जीवन की समस्याओं का सुन्दर विश्लेषण है। विवाह का दो सच्चे हृदयों के मिलन के रूप में चित्रण हुआ है। सौन्दर्यबोध की दृष्टि से चित्रा तथा उर्वशी कवि की अनुपम कृतियाँ हैं।

उपन्यास तथा कहानी—साहित्य—रवीन्द्रनाथ एक महान् उपन्यासकार भी हैं। उनके आरम्भिक दो उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास हैं। बाकी अनेक सामाजिक हैं। कुछ उपन्यासों में राजनीति का भी समावेश है। सामाजिक उपन्यासों में अधिकतर मनोवैज्ञानिक हैं। इनमें स्त्री—पुरुषों के मानसिक द्वन्द्वों का मार्मिक चित्रण है। रवीन्द्रनाथ के मुख्य उपन्यास हैं—'करुणा', 'बहू ठकु-रानी का हाट,' 'राजर्षि,' 'चार अध्याय,' 'आँख की किरकिरी, नौका डूबी, 'गोरा', 'घरे बाइरे' आदि। डा० श्रीकुमार बैनर्जी के अनुसार बंगला में और शायद सारे भारतीय साहित्य में 'गोरा' ही एक महा उपन्यास है। इसके साहसी पात्र राष्ट्रीय जीवन के विशाल पट पर उभर उभर कर पाठक के सामने आते हैं। शैली भी अत्यन्त हृदयग्राही तथा विषय के अनुरूप है। 'घरे बाइरे' नामक उपन्यास में मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सूक्ष्म तथा मार्मिक अध्ययन है। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों के पात्र मुख्यरूप से बंगाल के उच्च मध्यवर्गीय जीवन से लिए गए हैं, जिससे कवि सुपरिचित थे। उपन्यास से अधिक कौशल रवीन्द्रनाथ ने छोटी कहानियों में दिखाया है। इस क्षेत्र में उन्होंने एक नई धारा चलाई। बंगला में वे छोटी कहानियों की धारा के प्रथम प्रवर्तक हैं। अपने उपन्यास तथा कहानियों में रवीन्द्रनाथ ने भारतीय जीवन का मार्मिक चित्रण किया है। उनकी रचनाओं में उनकी भारतीयता बोलती है। इसके अतिरिक्त भी रवीन्द्रनाथ ने अनेक निबन्ध,प्रबन्ध,आत्म-जीवनी संस्मरण,साहित्य की आलोचना पर निबन्ध और लेख, यूरोप, अमरीका, एशिया के विभिन्न देशों के भ्रमण की डायरी, असंख्य साहित्यिक पत्र तथा बालोप-योगी पाठ्यपुस्तकें लिखी हैं। उनका साहित्य और व्यक्तित्व दोनों ही विराट्

है। उन्होंने अंग्रेजी भाषा में भी अनेक अनुवाद किए हैं और मौलिक रचनाएँ लिखी हैं।'

'रवीन्द्रनाथ की साहित्य-साधना पर भारतीय साहित्य तथा संस्कृति का भारी प्रभाव है। उनका रहस्यवाद उपनिषदों से प्रभावित है। उनके गीतों में भारतीय आत्मा बोलती है। दर्शन तथा धर्म आदि पर दिए गए उनके भाषणों में भारत का प्राचीन ज्ञान व्यक्त हुआ है। उनके उपन्यास तथा कहानियों में भारतीय जीवन का चित्रण हुआ है। 'घरे बाइरे' नामक उपन्यास में तथा राष्ट्रवाद (Nationalism) पर दिए गए भाषणों में उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। परन्तु रवीन्द्रनाथ संकीर्ण राष्ट्रीयता के उपासक नहीं थे। उनकी दृष्टि में मानवता राष्ट्र से ऊपर है। उन्होंने अपनी रचनाओं में समस्त मानवता के भावों को स्वर प्रदान किया है।

पूर्व तथा पश्चिम के बीच समन्वय—रवीन्द्रनाथ ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य के बीच समन्वय किया है। उन्होंने पूर्व की भाव-परायणता का पश्चिम की रूप-व्याकुलता के साथ समन्वय कर एक नये युग की सृष्टि की है। भारतीय भाव-साधना का पाश्चात्य रूप-साधना के साथ समन्वय हो जाने के कारण भारतीय रहस्यवाद उनकी रचनाओं में एक नये रूप में प्रकट हुआ है। महाकवि अपनी कविताओं में भाव से रूप में तथा रूप से भाव में निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं। यह रूप तथा भाव का समन्वय उनके रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता है। उनकी रचनाओं में भारतीय अध्यात्मवाद तथा पाश्चात्य भोगवाद के बीच सन्तुलित समन्वय दीख पड़ता है। रवीन्द्रनाथ में प्राचीन भारतीय ज्ञान तथा आधुनिक प्रगतिवादी विचारों का सुन्दर समन्वय है। वे प्राचीन भारतीय आदर्शों को जीवित करने के इच्छुक थे। परन्तु इसके साथ साथ वे आधुनिक प्रगतिवाद को भी ग्रहण करना चाहते थे। Creative Uuity (सृजनात्मक एकता) नामक अपने ग्रन्थ में महाकवि ने पूर्व और पश्चिम के परस्पर सम्बन्धों के बारे में अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी मान्यता है कि यूरोप ने पूर्वी देशों को सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का विचार दिया है—नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, विचार-स्वतन्त्रता, साहित्य तथा कला को परम्परागत बंधनों से स्वतन्त्रता। परन्तु पश्चिमी देशों में जो भोगवाद, शक्ति-पूजा तथा लोलुपता छाई हुई है, वह महाकवि की दृष्टि में एक भयंकर विष है जिससे पूर्वी देशों को बचना है। टैगोर पश्चिम से प्राप्त स्वतन्त्रता की भावना का महत्त्व स्वीकार करते हैं, परन्तु वे देश के राष्ट्रीय चरित्र की निजी विशेषताओं को भी बनाए रखना चाहते हैं। राष्ट्रीय भावना का समर्थक होते हुए भी वे राष्ट्रीय अहंकार तथा गर्व के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार मानवता राष्ट्र से ऊपर है।

कवि रवीन्द्रनाथ महान् विचारक भी थे। उन्होंने आधुनिक युग की समस्याओं पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। 'बलिदान' नामक नाटक में

उन्होंने युद्ध की समस्या का तथा 'मालिनी' नामक नाटक में धर्म की समस्या का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। टैगोर की गणना भारत की उन महान् विभूतियों में से है जिन्होंने देश के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जागरण में महान् योग दिया है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. साहित्यिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि रामायण का महत्त्व बतलाइए।
२. 'महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोष है'। इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।
३. महाकवि कालिदास की रचनाओं का संक्षेप में परिचय दीजिए और उनकी काव्यगत विशेषताएँ भी बतलाइए।
४. 'कालिदास प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं'। इस कथन की व्याख्या कीजिए।
५. महाकाव्य के रूप में तुलसीदास के रामचरितमानस की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। यह भी बताइए कि इसे भारत की सांस्कृतिक रचना क्यों कहा जाता है।
६. 'तुलसीदास एक लोकनायक थे'। इस कथन की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
७. महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के काव्य की विशेषताएँ बतलाइए।
८. टैगोर की बंगला-साहित्य को क्या देन है ?

5

भारतीय समाज एवं संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव

इस्लाम धर्म का परिचय—इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब थे, जिनका जन्म अरब देश के मक्का शहर मे सन् ५७० ईसवी मे हुआ था। मोहम्मद साहब को आखिरी पैगम्बर माना जाता है। पैगम्बर का अर्थ है पैगाम यानी संदेश लेजाने वाला। हजरत मोहम्मद के जरिए भगवान् का संदेश पृथ्वी पर आया, इसलिए उन्हें 'पैगम्बर' कहा जाता है। मोहम्मद साहब को 'रसूल' भी कहते है क्योंकि उन्होंने परमात्मा और मनुष्यों के बीच धर्मदूत का काम किया है। इस्लाम का मूलमन्त्र है,"ला इलाह इल्लिलाह मुहम्मदुर्रसूल लिल्लाह" इसका अर्थ है "अल्लाह के सिवा और कोई पूजनीय नहीं है तथा मोहम्मद उसके रसूल (दूत) है।" इस्लाम धर्म के मूल ग्रन्थ है—कुरान और हदीस। जो ज्ञान ईश्वर ने अपने दूत मोहम्मद द्वारा प्रदान किया, उसका संग्रह कुरान है। मोहम्मद साहब द्वारा स्वयं दिये गये उपदेशो का संग्रह 'हदीस' है। कुरान हर मुसलमान के लिए पाँच धार्मिक कृत्य करने का आदेश देती है—१. कलमा पढ़ना—'ईश्वर एक है और मोहम्मद उसके दूत है' इस अर्थ वाले 'ला इलाह' आदि मंत्र को बार-बार जपना। २. प्रति दिन पाँच बार नमाज पढ़ना। ३. रोजा रखना—रमजान महिने भर केवल सूर्यास्त के बाद भोजन करना। ४. जकात—अपनी वार्षिक आमदनी का चालीसवाँ भाग यानी $2\frac{1}{2}\%$ दान मे देना। ५. हज—मक्का और मदीना की तीर्थ-यात्रा करना।

कुरान की शिक्षा मे सबसे अधिक जोर एकेश्वरवाद अर्थात् 'ईश्वर एक है', इस बात पर दिया गया है। इस्लाम पुनर्जन्म मे विश्वास नहीं करती। इस्लाम की मान्यता के अनुसार कयामत के दिन सब आत्माएं कब्र मे उठ कर परमात्मा के सामने जाती हैं, जहां उनका न्याय होता है और उन्हें स्वर्ग या नरक मिलता है।

मुहम्मद की मृत्यु के बाद इस्लाम का नेतृत्व खलीफाओं के हाथ में आया। अबू बक्र, उमर, उस्मान आदि प्रसिद्ध खलीफा हुए। उनकी सेनाओं ने इस्लाम का द्रुत गति से एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के अनेक देशों मे प्रसार किया।

इस्लाम का भारत में प्रवेश—सबसे पहले इस्लाम सातवीं शताब्दी के अन्त मे अरब व्यापारियों के साथ पश्चिमी भारत के मलाबार समुद्र तट पर

आया, पर इन अरब व्यापारियों द्वारा इस्लाम का प्रसार नहीं हुआ। ७११ ई० में अरबों ने सिन्ध पर विजय प्राप्त की, पर इस्लाम का प्रभाव सिन्ध तक ही सीमित रहा। महमूद गजनवी की तुर्की सेनाओं ने १००२–२६ ई० के बीच भारत पर १७ बार आक्रमण किए और नगरकोट, थानेश्वर, मथुरा, वृन्दावन, कन्नौज, सोमनाथ आदि के प्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरों को लूटा तथा नष्ट किया। इसके बाद ११९२ ई० में मोहम्मद गोरी नामक तुर्क ने दिल्ली और अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज को हरा कर दिल्ली पर इस्लाम का झण्डा फहराया। तेरहवीं शताब्दी में लगभग सारे उत्तरी भारत पर तुर्कों का शासन स्थापित हो गया और इस्लाम राजधर्म बन गया। दिल्ली पर क्रमशः गुलाम खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी और मुगल वंशों ने शासन किया। भारत में इस्लाम का सितारा १७०७ ई० तक अर्थात् औरंगजेब की मृत्यु तक बुलन्द रहा। मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद तेरहवीं शताब्दी से इस्लाम का भारतीय जीवन पर वास्तविक प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ।

इस्लाम एवं हिन्दुत्व का संघर्ष एक अभूतपूर्व घटना—विश्व की दो महान संस्कृतियों-हिन्दुत्व एवं इस्लाम का यह पारस्परिक मिलन विश्व-इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। इस्लाम से पूर्व यवन, शक, कुषाण, हूण आदि जो भी विदेशी जातियाँ भारत में आई थी, उन्हें हिन्दू संस्कृति ने पूर्णतः आत्मसात् कर लिया था। किन्तु यह मुसलमानों को अपने भीतर न पचा सकी। दूसरी ओर इस्लाम संसार के जिन-जिन देशों में (ईरान, मिस्र, ईराक आदि) गया, वहाँ उसने उन देशों की पूरी जनता को मुस्लिम बना डाला। परन्तु कई शताब्दियों के मुस्लिम शासन के बावजूद भी समस्त भारत को इस्लाम का अनुयायी न बनाया जा सका। दोनों महान संस्कृतियों के अद्भुत मिलन के सम्बन्ध में सर जान मार्शल ने ठीक ही कहा है – "मानव जाति के इतिहास में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा गया, जब इतनी विशाल, इतनी सुविकसित तथा साथ ही मौलिक रूप से इतनी विभिन्न सभ्यताओं का सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ हो। इन सभ्यताओं के और धर्मों के विस्तृत विभेद ने इनके सम्पर्क के इतिहास को विशेष रुचिकर तथा शिक्षाप्रद बना दिया है।"

हिन्दू-मुस्लिम एकीकरण में बाधाएँ—हिन्दुत्व भारत में आये मुसलमानों को अपने भीतर न पचा सका, क्योंकि उसकी पाचनशक्ति क्षीण हो चुकी थी। जाति-व्यवस्था की जटिलता के कारण हिन्दू समाज में संकीर्णता आ गई थी। उसकी पुरानी गतिशीलता तथा सजीवता लुप्त हो चुकी थी। अरबों की सिन्ध-विजय के समय देवल-स्मृति में बलात् मुसलमान बने हिन्दुओं की शुद्धि का विधान किया गया था, परन्तु दुर्भाग्य से बाद के आचार्यों ने इस शुद्धि के विचार को मान्यता न दी। यद्यपि मध्यकाल में

हिन्दू संस्कृति मुसलमानों को पूर्णतः अपने मे पचाने में असमर्थ थी, फिर भी उसमे समन्वय की प्रवृत्ति सक्रिय थी। हिन्दुओ ने 'अल्लोपनिषद्' की रचना की। वे तुर्कों के अल्लाह को विष्णु का रूप तथा मुहम्मद को बुद्ध की तरह अवतार मानने को तत्पर थे, किन्तु इस्लाम का अल्लाह 'लाशरीक' था और शिरकत को मुसलमान कुफ्र समझते थे। इसलिए इस्लाम की इस कट्टरता के कारण दोनो धर्मों के बीच अधिक समन्वय न हो सका।

इस्लाम का भिन्न दृष्टिकोण—इस्लाम का दृष्टिकोण हिन्दू धर्म से बिल्कुल विपरीत था। इस्लाम की दृष्टि में ईश्वर और उसके दूत मुहम्मद में विश्वास न करना कुफ्र है और कुफ्र करने वाला काफिर है। कुरान के अनुसार जिहाद करना हर मुसलमान का पवित्र कर्त्तव्य है। जिहाद का अर्थ है गैर मुस्लिमो को इस्लाम का अनुयायी बनाने के लिए किया गया पवित्र युद्ध। इस्लाम की मान्यता थी कि जो धर्म मूर्तिपूजा में विश्वास करता है उसे नष्ट कर देना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है। मुसलमान गोभक्षक भी थे। मुस्लिम शासकों का यह प्रयत्न था कि हिन्दू धर्म से मित्रता न करके उसे अपने भीतर पचा लिया जावे। इस्लाम कट्टरता से उसी रूप को पकड़े था जो मोहम्मद ने चलाया था और वह उसमें किसी प्रकार के संशोधन या सुधार के लिए तैयार न था। उसका उद्देश्य सारे विश्व को मुहम्मद का अनुयायी बनाना अर्थात् दार-अल-इस्लाम (मुसलमानों की भूमि) मे परिवर्तित करना था। इस्लाम में सब बराबर थे बशर्ते कि वे इस्लाम स्वीकार कर लें। मुसलमान बन जाने पर ऊँच-नीच व छुआछूत का भेद नहीं रहता था। जाति व्यवस्था पर आधारित हिन्दू समाज के लिए यह बात बड़ी विचित्र थी।

साम्प्रदायिक राज्य—भारत का मुस्लिम राज्य एक साम्प्रदायिक राज्य था और उसमे गैर-मुसलमान यानी हिन्दू नागरिक 'जिम्मी' कहलाते थे। इन 'जिम्मी' लोगों को मुसलमानों के समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त नहीं थे। सुरक्षा के लिए उन्हें राज्य को एक कर देना पड़ता था जो 'जजिया

[illegible]

सबसे बड़ी हानि यह पहुचायी कि उन्होंने हिन्दुओं के हृदय मे साम्प्रदायिकता की आग पैदा करदी। इससे पूर्व धार्मिक द्वेष भारत मे नहीं था।

मुस्लिम शासन का विदेशी रूप—भारत मे बसकर भी मुसलमानों ने दूसरे पश्चिम एशिया के मुस्लिम देश अरब, ईराक, फारस आदि से राजनयिक

तथा सामाजिक संबन्ध कायम करें। उनके लिए प्रेरणा का स्रोत अरब तथा ईरानियों का इतिहास था न कि भारतीय परम्परा। मुस्लिम शासकों ने शासन में विदेशी फारसी भाषा तथा लिपि का प्रयोग किया। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का भेदभाव तथा पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण हिन्दुत्व तथा इस्लाम के बीच समन्वय के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं बना सकता था। हिन्दू और मुसलमान दोनों नदी के दो किनारों की तरह थे जो सर्वदा अलग थे। दोनों के बीच सम्पर्क के लिए पुल कौन बनाए? कट्टरपंथी मुसलमानों तथा हिन्दुओं द्वारा यह सम्भव न था। अतः दोनों सम्प्रदायों के मानवतावादी, स्वतन्त्र विचारक, हिन्दू सन्त तथा सूफी सन्त इस पुल-निर्माण के महान् कार्य में लगे।

दोनों संस्कृतियों के बीच समन्वय की प्रवृत्ति—मुसलमान जब भारत के सन्त, योगी, विद्वान्, आचार्य तथा शिल्पियों के सम्पर्क में आए तो उनसे प्रभावित हुए बिना न रहे। सहिष्णुता-प्रधान हिन्दू संस्कृति के सम्पर्क के फलस्वरूप इस्लाम की कट्टरता कुछ कम हुई और उसमें कुछ कोमलता एवं सरसता आयी। हिन्दू तत्वज्ञान से इस्लाम का सूफी सम्प्रदाय बहुत प्रभावित हुआ। वेदान्त दर्शन तथा योग का सूफी विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अकबर जैसा उदार सम्राट् हिन्दू तत्वज्ञान तथा दर्शन से प्रभावित हुआ। अकबर के समकालीन शेख मुबारक, फैजी तथा अबुल-फजल आदि बहुतेरे मुस्लिम विद्वानों ने हिन्दू धर्म तथा वेदान्त दर्शन की प्रशंसा की। शाहजहां का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह तो वेदान्त दर्शन का भक्त था। वह वेदान्त के एकेश्वरवाद को तौहीद (एकेश्वरवाद) का सर्वोत्तम रूप मानता था। उसकी प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से लगभग ५० उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद हुआ। दोनों सम्प्रदायों के बीच एकता स्थापित करने के उद्देश्य से उसने 'अल्लोपनिषद्' की भी रचना करवाई, जिसमें इस्लाम तथा हिन्दुत्व ज्ञान का मिश्रण है। दाराशिकोह शुद्ध सूफी था। उसके दरबार में हिन्दू सन्त तथा पण्डित भरे रहते थे। उन्होंने योगवशिष्ठ, भगवद्गीता आदि संस्कृत ग्रन्थों का भी फारसी में अनुवाद कराया। उसने 'मजमुअल बहरेन, (सागर-संगम) नामक पुस्तक लिखी जिसमें हिन्दू धर्म तथा सूफी मत के बीच पूर्ण समन्वय का प्रतिपादन किया। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के बीच जो समन्वय की प्रवृत्ति बढ़ रही थी उसे दाराशिकोह की हत्या तथा औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति से गहरा धक्का लगा। सूफी सन्तों ने दोनों सम्प्रदायों के बीच प्रेम स्थापित करने की निरन्तर चेष्टा की। इस दृष्टि से ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अजमेर में रहते थे। वहां उनकी समाधि ख्वाजा साहब की दरगाह के नाम से प्रसिद्ध है। वहां उनका मेला हरवर्ष लगता रहा है, जिसमें मुसलमानों के साथ साथ बहुत से हिन्दू भी शरीक होते हैं। सूफी सन्तों की तरह ही

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के कबीर, नानक आदि सन्तों ने भी हिन्दू तथा मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच एकता तथा प्रेम पैदा करने का निरन्तर प्रयत्न किया। उनके इन प्रयत्नों का उल्लेख हम अगले अध्याय में करेंगे। इस्लाम व हिन्दुत्व का सम्पर्क होने से कुछ ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हुआ जो हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को मान्य थे, जैसे सत्यपीर, सतनामी, नारायणी आदि। १५ वीं शताब्दी में सत्यपीर सम्प्रदाय का संस्थापक बंगाल का सुल्तान हुसैनशाह था। इस सम्प्रदाय में हिन्दू तथा मुसलमान–दोनों के एक उभयनिष्ठ देवता की 'सत्यपीर' नाम से प्रतिष्ठा की गई। इसके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। आगे चलकर मुगलकाल में सतनामी और नारायणी सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिनके हिन्दू और मुस्लिम समान रूप से अनुयायी थे।

उदाहरणार्थ हिन्दुओं ने मुस्लिम पीरों तथा मजारों की पूजा शुरू की। उन्होंने दरगाहों पर तथा पीरों की समाधि पर मिठाई चढ़ाना तथा कुरान का पाठ सुनना प्रारम्भ किया। वे मुस्लिम त्योहारों में भी उत्साह पूर्वक भाग लेने लगे।

मध्यकाल में हिन्दू तथा इस्लामिक संस्कृतियों में पूरा समन्वय तो न हो सका, किन्तु दोनों संस्कृतियों ने एक दूसरे को प्रभावित जरूर किया। इस सम्पर्क का फल धर्म, भाषा, साहित्य तथा कला के क्षेत्र में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

इस्लाम के प्रभाव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन—कुछ विद्वानों ने हिन्दू समाज पर इस्लाम के प्रभाव को बहुत ही बढ़ा चढ़ा कर बताया है। इस प्रकार के विद्वानों में डा० ताराचन्द प्रमुख हैं। उनका कथन है कि "वस्तुतः न केवल हिन्दू धर्म, कला, साहित्य एवं विज्ञान ने मुस्लिम तत्वों को ग्रहण किया, बल्कि हिन्दू संस्कृति की आत्मा और हिन्दू विचार-धारा भी बदल गई।" डा० ताराचन्द तथा हुमायूं कबीर के अनुसार शंकर का अद्वैतवाद तथा हिन्दुओं का मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन दोनों ही इस्लाम की देन हैं। एक अन्य मुस्लिम लेखक डा० आबिद हुसेन ने भी अपनी पुस्तक 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति' में यह मत व्यक्त किया है कि 'भारत के जीवन के प्रत्येक अंग पर मुस्लिम संस्कृति का सीधा और गहरा प्रभाव पड़ा है।' निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो इस्लाम के प्रभाव के सम्बन्ध में उपरोक्त मत सत्य से बहुत दूर है। वास्तविकता यह है कि इस्लाम शताब्दियों के राजनीतिक प्रभुत्व के बावजूद भी हिन्दूधर्म व संस्कृति के मूलरूप में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं ला सका। इस्लाम का हिन्दू समाज पर जो भी प्रभाव पड़ा, वह केवल ऊपरी सतह तक ही सीमित रहा। मुस्लिम विजय के समय हिन्दू भारत

शक्तिहीन तथा विभाजित होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से दुर्जेय था। प्रो० एम० आर० शर्मा के शब्दों में 'राजनीतिक दृष्टि से उसे सरलता से *पराभूत किया जा सकता था, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वह अपराजेय था'।*

इस्लाम के आगमन के समय भारत की धार्मिक अवस्था—

बारहवीं शताब्दी के अन्त में जब मुस्लिम राज्य की भारत में स्थापना हुई, हिन्दू धर्म की आध्यात्मिक शक्ति तथा गतिशीलता बहुत कुछ क्षीण हो चुकी थी। बौद्ध धर्म में 'वज्रयान' सम्प्रदाय का विकास हो चुका था, जिसके अनुयायी धर्म के मूल सिद्धान्तों को छोड़कर रहस्यमयी क्रियाओं तथा गुह्य सिद्धियों की साधना में लगे थे। हिन्दू शाक्तों (शक्ति या देवी के उपासक) में भी वाममार्ग का जन्म हो गया था। वाममार्गी भी वज्रयानियों की तरह गुह्य तान्त्रिक साधनाओं में विश्वास करते थे। सुरा और सुन्दरी उनकी साधना का अंग बन गई थी। हिन्दुओं के शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी गोरखनाथ के नाथयोगी सम्प्रदाय का जन्म हो चुका था, जो हठयोग की साधना पर विशेष बल देता था। ये वज्रयानी सिद्ध तथा नाथपन्थी योगी परम्परागत धार्मिक मान्यताओं का खन्डन कर हिन्दू समाज में एक प्रकार की धार्मिक रिक्तता उत्पन्न कर रहे थे। मीमांसक कुमारिल भट्ट ने आठवीं सदी में वैदिक यज्ञों के कर्मकाण्ड को पुनः जीवित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उनका यज्ञ-प्रधान धर्म व्ययसाध्य तथा कर्मकाण्डयुक्त होने के कारण सर्वसाधारण में लोक प्रिय नहीं हो सका था। इन सभी सम्प्रदायों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इन में मानव-प्रेम तथा लोक कल्याण की भावना की उपेक्षा की गई थी। आठवीं शताब्दी ईसवी में लोगों को वाममार्ग तथा वज्रयानी सिद्धों के प्रभाव से मुक्त करने के उद्देश्य से शंकराचार्य ने 'अद्वैत-वाद' के ज्ञानमार्ग का प्रवर्तन किया था। अद्वैतवाद के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है। माया के प्रभाव में पड़कर जीव भूल से अपने को ब्रह्म से पृथक् मानता है। परन्तु शंकर का यह अद्वैत का ज्ञान साधारण लोगों की बुद्धि से परे की बात थी। अतः यह भी भारत में लोकप्रिय न हो सका।

इसी समय जब उत्तरी भारत में वज्रयान, वाममार्ग तथा नाथपन्थ का बोलबाला था, दक्षिण भारत में अनेक सन्त और आचार्य भक्तिमार्ग का प्रतिपादन कर रहे थे। ये सन्त 'आलवार' नाम से प्रसिद्ध थे और ये विष्णु भगवान की भक्ति को मोक्ष का एकमात्र साधन मानते थे। इन्होंने भक्ति का साधारण में प्रचार किया था। इन आलवार सन्तों [illegible] बाद दक्षिण में *रामानुज, माध्व, वल्लभ आदि अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने भक्ति मार्ग को* दार्शनिक आधार प्रदान कर पुष्ट बनाया।

इस्लाम की विशेषता—देश की धार्मिक दशा का यह रूप था जब इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया। इस्लाम एकेश्वरवाद में कट्टरता से विश्वास करता था। मूर्तिपूजा तथा ऊँच-नीच की भेद-भावना का वह घोर विरोधी था। मानव-समानता का उसका आदर्श बहुत ही आकर्षक था। मुस्लिम शासक भारत को इस्लाम का अनुयायी बनाने के लिए कृत-संकल्प थे। उन्होंने मूर्तिपूजा की निन्दा करना और हिन्दू मन्दिर तथा मूर्तियों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था।

इस्लाम की भारत में उपस्थिति का प्रभाव—कट्टर इस्लाम की भारत में उपस्थिति तथा आक्रामक रुख ने हिन्दू सन्त तथा आचार्यों को अधिक तत्परता तथा लगन के साथ अपने धर्म के सत्य को ढूंढने को बाध्य किया। हिन्दू दर्शन एकेश्वरवाद के सिद्धान्त तक, जो इस्लाम का मुख्य आधार है, बहुत प्राचीन समय में ही पहुंच गया था। ऋग्वेद में कहा गया था 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अर्थात् 'एक ही सत् को विद्वान भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं।' उपनिषदों में भी जगत् की एकमात्र सत्ता ब्रह्म की प्रतिष्ठा की गई थी। शंकर ने भी आठवीं शताब्दी में अद्वैत का अर्थात् 'एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है' का नारा उठाया था। परन्तु ब्राह्मण धर्म में एकेश्वरवाद पर इतना बल नहीं दिया गया था, जितना कि इस्लाम में। अब उत्तरी भारत के कई सन्तों ने भी इस्लाम की तरह एकेश्वरवाद पर अधिक जोर देना प्रारम्भ किया। दक्षिण भारत में आलवार सन्तों तथा रामानुज आदि आचार्यों के नेतृत्व में जो भक्ति की परम्परा चल रही थी, सन्त रामानन्द ने उसे उत्तर भारत में लाकर लोकप्रिय बनाया। सूफियों के प्रेम मार्ग से उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के विकास को बल मिला। भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने ईश्वर भक्ति का उपदेश दिया। जात-पांत के भेदभाव की निन्दा की। उन्होंने घोषणा की कि भगवान की दृष्टि में सब बराबर हैं। भक्ति आन्दोलन ने हिन्दुओं में एक नई जागृति उत्पन्न की जिससे हिन्दुत्व की इस्लाम के आक्रमण से रक्षा हो सकी। इस महत्त्वपूर्ण आन्दोलन के विषय में हम अगले अध्याय में विस्तार से बतायेंगे।

कबीर पर इस्लाम का प्रभाव—भक्ति आन्दोलन के सन्त कबीर के विचारों पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा। कबीर ने जात-पांत तथा ऊँच-नीच के भेदभाव का खण्डन कर मनुष्य की समानता पर विशेष जोर दिया। उन्होंने निर्गुण ईश्वर की आराधना पर बल दिया। उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दू धर्म तथा इस्लाम का समन्वय करना था। उन्होंने दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बर तथा कर्मकाण्ड का खण्डन कर उनकी मौलिक एकता पर बल दिया। कबीर मुख्यतः हिन्दू वेदान्त से प्रभावित थे। परन्तु उनके पदों में भगवान् के विरह

की पीड़ा की जो झलक मिलती है उस पर सूफियों के प्रेममार्ग का प्रभाव है। उन्होंने समाज सुधार के लिए जो कुछ कहा उसके पीछे इस्लाम के आगमन से उत्पन्न स्थिति का प्रभाव दीख पड़ता है।

गुरु नानक का सिक्ख संप्रदाय—सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु नानक के विचारों पर भी इस्लाम के आगमन से उत्पन्न स्थिति का प्रभाव पड़ा। उन्होंने इस्लाम की तरह निराकार ईश्वर की उपासना पर जोर दिया। एकेश्वरवाद उनका मुख्य सिद्धान्त था। कबीर की तरह उन्होंने भी जात-पांत तथा ऊँच नीच के भेद की निन्दा की। वे भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। दोनों धर्मों के पाखण्डों का खण्डन कर उन्होंने दोनों की आधार भूत एकता पर बल दिया। कुछ विद्वान उनके द्वारा स्थापित सिक्ख धर्म को 'सनातन धर्म की सच्ची टीका' कहते हैं।

शंकर के अद्वैतवाद व भक्ति आन्दोलन पर इस्लाम के प्रभाव की समीक्षा—जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, कुछ विद्वान शंकर के अद्वैतवाद तथा भक्ति के सिद्धान्त को इस्लाम की देन बतलाते हैं। परन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। शंकर का अद्वैतवाद तथा भक्ति का विचार—दोनों ही स्वदेशी हैं। शंकराचार्य का जन्म आठवीं शताब्दी में हुआ था और भक्ति आन्दोलन का आरम्भ उनसे भी काफी पहले दक्षिण के आलवार सन्तों की परम्परा में हो चुका था। यह सच है कि इस्लाम का दक्षिण भारत में आगमन अरब व्यापारियों के साथ सातवीं सदी में हो चुका था, परन्तु इस्लाम का भारतीय जीवन पर किसी भी प्रकार का प्रभाव पड़ना दिल्ली में मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद १३ वीं शताब्दी से ही शुरू हुआ, इससे पूर्व नहीं। अत. शंकर के अद्वैतवाद पर तथा भक्ति आन्दोलन पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त शंकर जिस एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं वह उपनिषदों के अद्वैतवाद का विकसित रूप है। उसकी इस्लाम के एकेश्वरवाद से कोई समता नहीं है। इस्लाम एक ईश्वर को अवश्य मानता है, किन्तु वह अद्वैतवादी नहीं है। शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है। जीव माया के वश होकर अपने को ब्रह्म से पृथक् मानता है। इस्लाम एकेश्वरवाद में विश्वास अवश्य करता है, किन्तु वह कभी भी यह मानने को तैयार नहीं है कि बन्दा और खुदा दोनों एक ही हैं। भक्ति के मूल आधार भी, जैसा कि हम अगले अध्याय में बतायेंगे, इस्लाम के जन्म के बहुत पहले से ही भारत में विद्यमान थे। उन्हें इस्लाम की देन कहना सर्वथा अनुचित है। हां, अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि मध्यकाल में भक्ति-आन्दोलन के विकास पर इस्लाम के आगमन का परोक्ष प्रभाव पड़ा। सूफियों के सम्पर्क से भक्ति के प्रवाह में तीव्रता अवश्य आई।

लिंगायत संप्रदाय—दक्षिण भारत के लिंगायत संप्रदाय पर भी इस्लाम का प्रभाव बताया जाता है। लिंगायत सम्प्रदाय में परशिव को ईश्वर और अल्लम प्रभु को उनका अवतार माना जाता है। इस सम्प्रदाय के लोग जाति-व्यवस्था का विरोध करते हैं और हिन्दू धर्म के बाह्याचार-यज्ञ, व्रत उपवास, तीर्थ आदि को भी नहीं मानते। वे पुनर्जन्म मे भी विश्वास नहीं करते। वे अपने मृतकों के शवो को भी जलाते नही, बल्कि गाडते हैं। परन्तु लिंगायत सम्प्रदाय की इन मान्यताओं के पीछे इस्लाम का प्रभाव नही मालूम पड़ता। इन सब आचरणो का हिन्दू धर्म में सन्यासियों के लिए विधान है। लिंगायत सम्प्रदाय के संत साहित्य की परम्परा कन्नड भाषा मे ११ वी शताब्दी तक जाती है। परन्तु इस्लाम का भारतीय जीवन पर प्रभाव १२-१३ वीं शताब्दी से पड़ना प्रारम्भ हुआ, इससे पूर्व नहीं। श्री रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार लिंगायत सम्प्रदाय के लोग स्वय को वीर मानते थे और इसलिए वे उन सभी प्रकार के आचरणों का पालन करना चाहते थे जो हिन्दू धर्म में सन्यासियों के लिए निर्धारित हैं।

मुसलमानो की धार्मिक मान्यताओं का कुछ प्रभाव सामान्य हिन्दू जनता पर अवश्य पड़ा। अनिष्ट के निवारण के लिए हिन्दू लोग पीरों की मजार तथा मुस्लिम सन्तो की दरगाहों की पूजा करने लगे। कई हिन्दुओ ने कब्रों पर चादर और शीरनी चढ़ाना, मदार की सांकल छूना और मदार में चोटी मुड़वाना भी प्रारम्भ किया।

इस्लाम पर हिन्दू धर्म का प्रभावः—भारत मे आकर इस्लाम का मूल-रूप बहुत कुछ बदल गया। हिन्दुओ के धार्मिक विचारों के सपर्क के फलस्वरूप इस्लाम में अनेक ऐसी बातें जुड़ गयीं जो मुहम्मद के उपदेशो के विपरीत थीं। इस्लाम मूर्ति-भजक था, पर भारत में उसके अनुयायी हिन्दुओं की देखा-देखी धार्मिक आचार तथा अनुष्ठानों मे रुचि लेने लगे। वे मुस्लिम सन्तों तथा उनके मकबरों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने लगे। उन्होने पीरों की मजारों तथा दरगाहों को पूजना शुरू कर दिया। कई हिन्दू त्योहार भी अपना लिए गए। मुसलमानों का शबे-बरात त्योहार, जिसमे रात्रि में जागरण तथा आतिश बाजी की जाती है, संभवतः हिन्दुओं के शिवरात्रि त्योहार की नकल है।

हिन्दू साधुओ तथा संन्यासियों में जो मठ तथा गद्दी स्थापित करने की परम्परा थी, मुस्लिम पीर तथा शेखों ने भी उसे अपना लिया। हिन्दू सन्यासियो की कई मान्यताओं का भी वे पालन करने लगे।

भारत में जिन हिन्दुओं ने इस्लाम ग्रहण किया, वे अपने परम्परागत विश्वास तथा धार्मिक मान्यताओं को पूरी तरह नहीं छोड सके, जिससे

भारतीय इस्लाम का रंग ही बदल गया। बंगाल में झुण्ड के झुण्ड हिन्
मान बने थे। इस्लाम स्वीकार कर लेने के बाद भी ये पहले की त
शीतला, काली, धर्मराज आदि हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते
यही नहीं, उन्होंने देवी के भक्त-रक्षक जिन्दा गाजी आदि नये देवता
निकाले।

इस्लाम के सूफी संप्रदाय पर हिन्दुत्व का प्रभाव—इस्लाम के
संप्रदाय पर हिन्दू वेदान्त दर्शन तथा वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग का
प्रभाव पड़ा। ब्रह्म की सर्वव्यापकता, ब्रह्म में तल्लीनता, भक्ति, तप, तथा
इन हिन्दू धर्म के विचारों का सूफी मत में समावेश हो गया। वैष्
तथा सूफी मत में काफी समानता है। सूफी सन्तों में भी वैष्णव भ
की भगवान के प्रति भक्ति, प्रेम, तल्लीनता तथा आत्मसमर्पण का भ
सूफियों के प्रेममार्ग में तथा कबीर की निर्गुण भक्ति में बहुत समान
सूफी मत के अनुसार ईश्वर साकार सौन्दर्य है तथा साधक साकार
सौन्दर्य से प्रेम तथा प्रेम से मुक्ति, यह सूफियों का विश्वास था। उनक
ईश्वर से एक होना था। भगवान् की कल्पना सूफी लोग दुलहिन या प्र
के रूप में करते थे। प्रेम के इस सूफी विचार से कबीर का भेद केवल
बात में था कि कबीर स्वयं को भगवान् की बहुरिया अर्थात् दुलहिन या प्र
मानते थे। सूफी लोग संगीत तथा नृत्य द्वारा ईश्वर के प्रति अपनी
तथा प्रेम प्रकट करते थे। सूफी मत में गुरु की बहुत ही महिमा है।
सन्तों ने ईश्वर की भक्ति पर अनेक कविताएँ रचीं। सूफी पीरों ने अन
अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिए भारत में प्रचलित
कथाओं का आश्रय लिया। यही कारण है कि हिन्दू जनता को सूफ
व सन्त विदेशी नहीं प्रतीत हुए। भारत में सूफी सम्प्रदाय पर भारतीय
का भी प्रभाव पड़ा। सूफी सन्त योग के आसन, षट् चक्र, कमलवेध
की भी साधना करते थे। भारत के सूफी पीरों में सबसे प्रसिद्ध शेख मुइ
चिश्ती (१३ वीं शताब्दी ईसवी) हुए। उनकी दरगाह अजमेर में है
प्रतिवर्ष मेला लगता है। भारत के अन्य प्रसिद्ध सूफी सन्तों में निजा
औलिया, मलिक मुहम्मद जायसी और शेख सलीम चिश्ती के नाम
उल्लेखनीय हैं। इन सूफी सन्तों को हिन्दुओं का भी आदर तथा श्रद्धा
थी। इस्लाम के विरुद्ध हिन्दुओं के हृदय में जो घृणा भरी थी, वह
सन्तों की उदारता के कारण कुछ कम हुई। परन्तु सूफी मत विद्वानों
ही सीमित था, इसका सर्व-साधारण में विशेष प्रचार न हो सका।

हिन्दू धर्म के प्रभाव से मुस्लिम समाज में कई नये सम्प्रदायों का
हुआ, जैसे इस्माइलिया, अली-इलाहिया। इस्माइलिया सम्प्रदाय के अनु
खोजा लोग हैं। इनकी धार्मिक मान्यताओं पर हिन्दुओं के वैष्णव मत

भाव है। खोजा लोगों की मान्यता है कि हजरत अली विष्णु के दसवें अवतार थे। इन खोजा लोगों की मस्जिदें भी अन्य मुसलमानों से अलग होती हैं। इसी प्रकार अली-इलाहिया सम्प्रदाय के अनुयायी मुसलमान हिन्दुओं की भाँति आत्मा के आवागमन में विश्वास करते हैं।

हिन्दुओं के बहुदेववाद तथा मूर्ति-पूजा का भी मुसलमानों पर प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं के अनुकरण पर भारतीय मुसलमानों ने भी गाजी मियाँ, पाँचपीर, पीरबदर, ख्वाजा खिजिर आदि पीरों की ग्राम देवता के रूप में कल्पना करली और उनकी पूजा करने लगे। उनकी दरगाह पूजा-स्थल बन गया। भारतीय मुसलमान बड़ी धूम-धाम से ताजिये निकालते हैं। ताजिये का रिवाज भारत छोड़कर और किसी देश में नहीं है। संभवत हिन्दुओं के दशहरा तथा रथयात्रा-उत्सव की नकल पर यहाँ के मुसलमानों में मुहर्रम पर ताजिये निकालने की प्रथा प्रारम्भ हुई। शाकाहार तथा अहिंसा का पालन हिन्दुओं की एक विशेषता है। इस अहिंसा का भारत में सूफी सन्तों पर भी प्रभाव पड़ा। मुसलमान सन्त और फकीर मांसाहार का त्याग कर शाकाहार की ओर मुड़ने लगे। इस अहिंसा का प्रभाव मुगल सम्राट् हुमायूं तथा अकबर पर भी पड़ा। अकबर कुछ निश्चित दिनों पर—शुक्रवार, रविवार तथा प्रतिपदा तिथि-मांस बिल्कुल भी नहीं खाता था।

— हिन्दू समाज पर इस्लाम का प्रभाव —इस्लाम सामाजिक समानता तथा भ्रातृत्व पर बल देता है। परन्तु शताब्दियों के मुस्लिम प्रभुत्व के बाद भी हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था का आधार जाति-प्रथा ज्यों की त्यों बनी रही। खान-पान तथा विवाह आदि में जाति-भेद का पालन पहले की तरह ही होता रहा। हिन्दू समाज के अन्त्यज व अछूत आदि ऐसे वर्गों ने ही अधिकतर इस्लाम ग्रहण किया, जिनपर वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रभाव बहुत कम पड़ा था। नामकरण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कार तथा श्राद्ध आदि क्रियाएँ भी हिन्दू समाज में पूर्ववत् चलती रहीं। वस्तुतः हिन्दुओं के परम्परागत सामाजिक जीवन पर इस्लाम का प्रभाव बहुत थोड़ा ही पड़ा। यह सच है कि भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने जात-पाँत के भेद-भाव का विरोध किया और सामाजिक समानता का नारा लगाया। किन्तु, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, उनकी विचारधारा के पीछे इस्लाम का प्रभाव न था। इस्लाम के भारत में आने से बहुत पहले ही वज्रयानी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय के योगी जात-पाँत के भेद-भाव के विरुद्ध विद्रोह कर चुके थे।

देश की सामाजिक एकता का भंग होना:—इस्लाम के आगमन के फलस्वरूप भारतीय समाज की एकता भंग हो गयी। इस्लाम ने जातिगत एवं धार्मिक तत्त्व का ऐसा प्रवेश भारत में किया है जिसे भारत अब तक भी

नहीं पचा सका है। सारा भारतीय समाज सम्बन्ध में ऊपर से नीचे तक हिन्दू और मुसलमान दो समानान्तर वर्गों में बँट गया। एक ही देश में अब हिन्दू तथा मुस्लिम दो समाज होगए, जो जीवन में एक दूसरे से भिन्न थे तथा जिनमें परस्पर घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्ध का अभाव था। इस्लाम के आने से पूर्व भारतीय समाज का ऐसा स्थायी विभाजन पहले कभी नहीं हुआ था। भारत की पराधीनता तथा हीन अवस्था का बहुत कुछ कारण उसकी एकता का नष्ट हो जाना है।

जाति व्यवस्था की कठोरता:—इस्लाम के आक्रमण से अपनी रक्षा के प्रयास में हिन्दुत्व सिकुड़ कर अपनी खोलों में ही छिपने लगा। वह पुराने सिद्धान्तों से ऐसे चिपट गया मानो वे ही जीवन के एक मात्र सार थे। हिन्दू आचार्यों ने यह अनुभव किया कि इस्लाम की कट्टरता का जवाब हिन्दू समाज में भी वैसी ही कट्टरता उत्पन्न करके दिया जा सकता है। अतः हिन्दू आचार्यों ने जाति-व्यवस्था के नियमों को अत्यन्त कठोर बनाकर हिन्दू समाज को एक सुदृढ़ दुर्ग बनाने का प्रयास किया, जिसमें आक्रामक इस्लाम भेदन न कर सके। पुराने खान-पान एवं छुआछूत के नियम कड़े कर दिए गए। समुद्र-यात्रा का भी निषेध कर दिया गया। अन्तर्जातीय अनुलोम विवाह भी मिट गए। हिन्दुओं के लिए अनेक प्रकार के अनुष्ठानों की व्यवस्था की गई। इस उद्देश्य से प्राचीन स्मृतियों पर टीकाएँ लिखी गईं तथा धर्म-निबन्ध लिखे गये। १४ वीं शताब्दी में कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति पर प्रसिद्ध टीका लिखी और विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा नामक प्रसिद्ध टीका लिखी। माधवाचार्य ने पराशर-स्मृति की टीका लिखी। अनेक धर्म-निबन्धों के लेखक कमलाकर तथा 'मदन पारिजात' के रचयिता विश्वेश्वर भट्ट भी इसी काल में हुए। बंगाल के रघुनन्दन तथा मिथिला के वाचस्पति मिश्र व चण्डेश्वर ने भी धर्मनिबन्ध लिखे। [illegible], नीलकण्ठ, हेमाद्रि (दक्षिण) तथा कमलाकर भट्ट, अन्य धर्मशास्त्र [illegible] था। इन लेखकों ने धर्मशास्त्रों की नई व्याख्या करके और सामाजिक नियमों में परिवर्तन कर हिन्दू समाज-व्यवस्था को इस्लाम के आक्रमण से सुरक्षित बनाने की चेष्टा की। उन्होंने ऐसे नियम बनाए कि हिन्दू के लिए अपने धर्म तथा जाति को त्यागना कठिन हो जाए। कुछ नियमों का पालन न करने वालों के लिए उन्होंने कठोर दण्ड की भी व्यवस्था की। यह हिन्दू समाज की संकुचित मनोवृत्ति का परिचायक था।

इस नई व्यवस्था के परिणामस्वरूप हिन्दू समाज और भी संकीर्ण तथा कठोर बन गया। छुआछूत की भावना अत्यन्त बढ़ी और इसका [illegible] मुसलमानों के विरुद्ध [illegible] हुआ। हिन्दू [illegible] कि मुसलमानों का छुआ हुआ पानी पीने से भी हिन्दू धर्म नष्ट हो जाता है। पुरोहित वर्ग का [illegible] और [illegible] भारतीय जीवन को संकुचित

बनाने वाली शक्तियाँ प्रबल हो उठीं। इससे हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की रक्षा तो हो सकी, किन्तु हिन्दू समाज की गतिशीलता एव उदारता धीरे-धीरे लुप्त होती गयी।

मुस्लिम समाज मे दास प्रथा का प्रचलन था। उनकी देखा देखी हिन्दू राजा तथा सामन्त भी दास दासियाँ रखने लगे। विवाह के समय दहेज मे भी दास-दासियाँ दी जाने लगी।

हिन्दू स्त्रियों की स्थिति में गिरावट—भारत मे मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद तेरहवी सदी मे हिन्दू स्त्रियों की स्थिति मे अधिक गिरावट आने लगी। मुस्लिम समाज मे पर्दा-प्रथा घोर रूप मे प्रचलित थी। हिंदुओ ने भी उनकी नकल की और उत्तरी भारत में उनके मध्यम तथा उच्चवर्ग मे पर्दा प्रथा अभिशाप के रूप मे चल पड़ी। पर्दा-प्रथा पहले भी भारत मे थी, किन्तु उसका रूप वैसा भयकर न था, जैसा हम मध्यकाल मे देखते हैं। सुन्दर हिन्दू स्त्रियो को उद्दण्ड मुस्लिम सैनिकों से रक्षा करने के उद्देश्य से हिन्दुओ ने पर्दे पर विशेष जोर दिया। अब स्त्रियों को घूमने फिरने की स्वतन्त्रता कम हो गई और उनका जीवन घर की चहार दीवारी मे सीमित होगया। मुस्लिम सम्पर्क का दूसरा बुरा प्रभाव बाल विवाह का प्रचलन था। मुस्लिम सैनिक तथा राजकर्मचारी सुन्दर हिन्दू लड़कियों को बलात् उठा ले जाते थे। अत. उनके भय से हिन्दू लोग बचपन मे ही अपनी कन्याओ का विवाह करने लगे। बाल-विवाह तथा पर्दा-प्रथा के प्रचलन से स्त्री-शिक्षा को गहरा धक्का लगा।

हिन्दू वेशभूषा तथा खानपान पर भी इस्लाम का कुछ प्रभाव पड़ा। हिन्दू लोग भी मुसलमानो के पायजामा, शेरवानी तथा अचकन आदि पहनने लगे। हिन्दुओं के विवाह जैसे पवित्र सस्कार मे भी सेहरा व जामा का प्रयोग होने लगा। मुगल दरबारियों की पोशाक एक सी होती थी। दरबार से सम्बन्धित हिन्दू अधिकारी, राजा तथा सरदार लोग भी उसे पहनने लगे। मुसलमानों के साथ कई प्रकार की मिठाइयाँ भी भारत मे आई। बालूशाही, बरफी, कलाकन्द, शकरपारा, गुलाबजामुन, ये सब विदेशी नाम हैं। यदि ये मिठाइयाँ भारत मे पहले से थी तो इनके देशी नाम ज्ञात नहीं हैं। मुस्लिम पाक-विधि की बहुत सी बातें भी भारत मे अपनायी गयीं। आमोद प्रमोद के कई तरीके भी हिन्दुओ ने मुसलमानों से सीखे, जैसे बाज द्वारा पक्षियों का शिकार, बटेर लड़ाना, ताश खेलना आदि। इस्लाम के सम्पर्क के फलस्वरूप भारत मे हिकमत व यूनानी चिकित्सा पद्धति का भी प्रचलन हुआ।

मुगल दरबार मे शिष्टाचार तथा अदब की जो प्रणाली विकसित हुई, उसे हिन्दू राजाओं तथा सामन्तों ने भी अपनाया। मुगलो की देखा-देखी

हिन्दू राजाओं में भी विलासिता की भावना तथा ललित कलाओं के प्रति अभिरुचि पैदा हुई ।

मुस्लिम समाज पर हिन्दुत्व का प्रभाव—यद्यपि इस्लाम सामाजिक समानता तथा समकक्षता का समर्थक था, पर भारतीय मुसलमानों पर हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था का प्रभाव पड़े बिना न रहा । मुस्लिम समाज में जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था का विकास तो न हुआ, पर सम्पत्ति तथा पद के आधार पर वर्गभेद की भावना पैदा हो गई । जो मुस्लिम ऊँची स्थिति में थे, उनमें उच्चवर्ग का अभिमान पैदा हो गया, जैसे शेख व सैयद आदि । सैयद शेख की बेटी से विवाह कर सकता था पर शेख सैयद की बेटी से नहीं । मुस्लिम समाज में एक पृथक् पुरोहित वर्ग का जन्म हो गया, जिसकी मूल इस्लाम में आज्ञा न थी । सम्पत्ति, व्यवसाय तथा सामाजिक स्थिति के आधार पर अनेक जातियाँ बन गईं, जैसे जुलाहा, बुनकर, नीलगर, धोबी आदि । धर्म बदलकर जो भारतीय मुसलमान बने थे, वे विदेशी मुसलमान के समान सामाजिक प्रतिष्ठा न प्राप्त कर सके और गरीब होने के कारण उनका एक अलग ही वर्ग बन गया । ये धर्मबदल लोग अपने जाति सम्बन्धी विचार भी इस्लाम में ले गए । भारत के मुस्लिम समाज में धीरे धीरे सामन्तवाद का विकास हुआ, यद्यपि यह इस्लाम की भावना के विपरीत था ।

कई मुस्लिम शासकों तथा सामन्तों ने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किए और ये स्त्रियाँ अपने साथ कई हिन्दू प्रथाएँ तथा रीति-रिवाज भी मुस्लिम समाज में ले गईं । मुस्लिम घरों में उपस्थित हिन्दू स्त्रियों की उदारता तथा ममता ने तुर्क तथा मुगलों की बर्बरता तथा क्रूरता को कम किया । मुस्लिम नैतिकता पर भी हिन्दुत्व का प्रभाव पड़े बिना न रहा । हिन्दू-परिवार का आदर्श एक-पत्नी-व्रत था । मुसलमानों ने भी इसे व्याव-हारिक रूप में अपनाया, यद्यपि उनके लिए कुरान बहु-विवाह की अनुमति देती थी । हिन्दुओं के देखा-देखी मुसलमानों में तलाक प्रथा का प्रचलन कम हुआ और विधवा-विवाह विरल हो गया । हिन्दुओं की तरह मुसलमानों ने भी प्रतिदिन स्नान करने तथा नमाज पढ़ने से पूर्व शरीर शुद्ध करने का नियम बनाया । विवाह में भी मुसलमानों ने कई हिन्दू रीति रिवाजों को ग्रहण किया । हिन्दुओं की देखा-देखी भारतीय मुसलमानों में भी मृतक भोज और खैरात की प्रथा चल पड़ी ।

हिन्दुओं के बहुत से रिवाज मुसलमानों में चल निकले । नजर लगने से बचने के लिए उतारा उतारने की प्रथा बादशाह तथा उच्चवर्ग के मुसल-मानों के घरों में भी प्रचलित हो गयी । हिन्दुओं की तरह मुसलमान भी हाथ पर मंत्रयुक्त यंत्र बाँधने लगे । राजपूतों के अनुकरण पर कुछ मुसलमानों ने जौहर प्रथा

को भी अपनाया। भटनेर के सूबेदार कमालउद्दीन ने तैमूर से लड़ने के पहले जौहर किया था। जहाँगीर ने लिखा है कि उसने कश्मीर में कई ऐसे मुस्लिम राजा देखे थे जो हिन्दुओं के साथ विवाह-सम्बन्ध करते थे और जो सती-प्रथा को भी मानते थे।

भारतीय मुसलमानों के खान-पान पर भी हिन्दुओं का प्रभाव पड़ा। पान खाने की आदत मुसलमानों ने हिन्दुओं से ही सीखी। फलों से आचार तैयार करने की विधि भी मुसलमानों ने हिन्दुओं से ही सीखी। भारतीय मुसलमानों के कोरमा तथा पुलाव पर हिन्दुओं के मोहनभोग का प्रभाव पड़ा।

मुस्लिम वेशभूषा पर भी हिन्दू वेशभूषा का प्रभाव पड़ा। चीरा और पगड़ी मुसलमानों ने हिन्दुओं से ग्रहण की। इस्लाम की परम्परा सादगी तथा मितव्ययिता की थी। परन्तु भारत में आकर वे भी यहाँ के हिन्दुओं की तरह मलमल व रेशम के बने वस्त्र तथा कीमती आभूषण पहनने लगे। सुहागिन मुस्लिम स्त्रियाँ, हिन्दू नारी की तरह, माँग में सिन्दूर लगाने लगीं तथा नाक में नथ और हाथों में शंख की चूड़ियाँ पहनने लगीं।

भाषा एवं साहित्य पर प्रभाव—मुस्लिम शासन में राजभाषा होने के कारण फारसी भाषा का प्रचलन बढ़ा। हिन्दू रजवाड़ों में भी उसे अपनाया गया। फारसी तथा अरबी के बहुत से शब्द हिन्दी भाषा में घुल मिल गए, जैसे, कमाल, शाल, पुलाव, हुक्का, बन्दूक, चिलम, तश्ता, तकिया, गुलाब, मुरब्बा, औरत, वगैरह, शायद, तबियत, मिजाज, कुर्सी, शीशा, सर्राफ, शीशी, सिवाय, मगर, लिहाफ, चादर, दावत, चश्मा, सन्दूक, सलाम, अलावा, मजदूर, जहाज, पर्दा, कारीगर, रसद, दालान आदि। ये सब शब्द अरबी या फारसी के हैं, किन्तु आज सामान्य बोलचाल की भाषा में इनका खूब प्रचलन है। इनसे हिन्दी भाषा समृद्ध हुई है। यदि इन शब्दों को आज हिन्दी से निकाल दिया जाय तो इनके बदले दूसरे शब्द हिन्दी या संस्कृत में ढूँढ़ पाना काफी कठिन होगा। हिन्दी के अलावा भारत की सिन्धी, कश्मीरी तथा पंजाबी भाषाओं में भी अरबी तथा फारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में मिल गए। इन भाषाओं के तो व्याकरण पर भी फारसी तथा अरबी भाषाओं का प्रभाव पड़ा। मराठी तथा गुजराती में भी अरबी तथा फारसी के कुछ शब्द प्रवेश कर गए।

उर्दू का जन्म—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच दैनिक बोलचाल के माध्यम के रूप में धीरे धीरे एक मध्यस्थ भाषा का विकास हुआ। यह खड़ी बोली थी, जो सैनिक छावनियों तथा मुस्लिम दरबार के इर्द गिर्द बोली जाती थी। प्रारम्भ में इसका नाम रेखता था। धीरे धीरे इसमें से हिन्दी और संस्कृत शब्दों को निकाला गया। जब इस में अरबी और फारसी शब्दों की

प्रधानता हो गई तो इसका नाम 'उर्दू' पड़ गया। श्री रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार खड़ी बोली में से इस देश के शब्दों को निकालने की नीति अच्छी न रही, क्योंकि इससे उर्दू नकली भाषा बन गई और वह हिन्दू-मुस्लिम एकता की सेवा न कर सकी।

—साहित्य पर प्रभाव—मध्यकाल में भारत की प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की वृद्धि हुई। १४ वी, १५ वी शताब्दी में देशी भाषाएँ साहित्य का सफल माध्यम बनने लगीं। संस्कृत को परम्परा से प्राप्त राज्याश्रय समाप्त हो गया, मुस्लिम सुल्तानों तथा बादशाहों ने देशी भाषाओं को प्रोत्साहन दिया। बंगाल के सुल्तान नसरतशाह ने महाभारत का बंगला में अनुवाद करवाया। वहीं के दूसरे सुलतान हुसैनशाह के प्रोत्साहन से मलधर वसु ने गीता का बंगला में अनुवाद किया। मुगल सम्राट् अकबर, जहांगीर तथा शाहजहाँ ने अनेक हिन्दी कवियों को दरबार में सम्मानित तथा पुरस्कृत किया।

मुस्लिम कवियों द्वारा हिन्दी में साहित्य रचना—मध्यकाल में कई मुस्लिम विद्वानों ने हिन्दी की ब्रज तथा अवधी भाषा में महत्व-पूर्ण रचनाएँ लिखी। प्रसिद्ध विद्वान् अमीर खुसरो ने तेरहवीं सदी में सर्व प्रथम खड़ी बोली में कविताएँ रची। अनेक सूफी सन्तों ने हिन्दी भाषा में गीत तथा कविताएँ लिखीं। मलिक मुहम्मद जायसी ने हिन्दू कथानक को लेकर 'पद्मावत' की रचना की जो हिन्दी साहित्य का एक उत्कृष्ट काव्य है। यह रूपक के रूप में लिखा गया है। इसमें मेवाड़ की रानी पद्मिनी की कथा है। अब्दुर्रहीम खानखाना की 'रहीम-सतसई' भी हिन्दी साहित्य की सुन्दर कृति है। रहीम के दोहे आज भी हिन्दी-भाषी लोगों में बड़े लोकप्रिय हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति को हिन्दी कविता में व्यक्त किया है। कुतबन की रचना 'मृगवती' भी एक सुन्दर काव्य है। इस प्रकार प्रेममार्गी धारा के कई सूफी कवियों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया। कबीर का भी पालन-पोषण एक मुस्लिम जुलाहे परिवार में हुआ था। उनकी सालियाँ आज भी अत्यन्त लोक-प्रिय हैं। उनकी कृति 'बाणी' और 'बीजक' हिन्दी की सर्वोत्तम रचनाओं में से हैं। मुसलमान कवियों में रसखान भी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने भगवान् कृष्ण की लीला पर बहुत ही सुन्दर पद लिखे हैं। इनके द्वारा रचित 'प्रेमवाटिका' हिन्दी साहित्य की सुन्दर कृति है।

भारतीय साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव—

भारत के मध्य-कालीन भक्त कवियों में सर्वप्रथम इस्लामी भावों का प्रवेश कबीर के ही साहित्य में दीख पड़ता है। कबीर प्रेम को ईश्वर-भक्ति का साधन नहीं, वरन् अपने आप में एक स्वतन्त्र मूल्य मानते हैं। यही नहीं, वे अपनी प्रेम-पीड़ा को बड़े मार्मिक ढंग से प्रकट करते हैं।

उनकी विरह वेदना की अनुभूति बड़ी तीव्र है। विरह वेदना की यह तीव्रता मीराबाई के गीतों में भी मिलती है। श्री दिनकर के अनुसार कबीर तथा मीरा की प्रेम-पीड़ा की अभिव्यक्ति के पीछे कहीं न कहीं फारस के सूफियों की वेदना का प्रभाव था। प्रो० हुमायूं कबीर अथवा में धर्मनिरपेक्ष या लौकिक काव्य की रचना का श्रेय इस्लामी प्रभाव को देते हैं। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। धर्म-निरपेक्ष या लौकिक काव्य की परम्परा भारत में बहुत पहले ही विकसित हो चुकी थी। प्राचीन काल में रची गई हाल की 'गाथा सप्तशती' धर्मनिरपेक्ष काव्य का सुन्दर उदाहरण है। मध्यकाल में धर्मनिरपेक्ष या लौकिक काव्य का सुन्दर उदाहरण हिन्दी की रीतिकालीन कविताएं हैं।

ज्योतिष—भारत ने ज्योतिष के कुछ पारिभाषिक शब्द भी इस्लाम से सीखे। सम्भवतः जन्मपत्री बनाने की ताजक-पद्धति मुसलमानों के साथ ही भारत में आई। ताजक वर्षफल तथा मासफल बनाने की अरबी पद्धति का नाम है। वेशान्तर और अक्षांश रेखाएं गिनने की पद्धति भी हिन्दुओं ने मुसलमानों से ही सीखी। रमल फेंककर सगुन विचारने की प्रथा अरबों के साथ ही भारत में आई। भारत में रमल-शास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे गए।

गणित तथा आयुर्वेद—जब अरब भारत में आए तो उन्होंने हिन्दुओं से दशमलव-पद्धति व शून्य का प्रयोग सीखा। आयुर्वेद तथा अन्य विज्ञानों की भी बहुत सी बातें उन्होंने भारत में सीखीं। अरबों के माध्यम से ही दशमलव पद्धति का यह ज्ञान भारत से यूरोप में पहुंचा।

शिक्षा—तुर्की शासन में संस्कृत शिक्षा का राज्याश्रय समाप्त होगया। नालन्दा, विक्रमशिला और ओदन्तपुरी के विश्व-प्रसिद्ध भारतीय विश्वविद्यालय नष्ट हो गए। राजकीय भाषा फारसी हो जाने से संस्कृत की व्यावसायिक उपयोगिता न रही। इस स्थिति से हिन्दुओं की शिक्षा को भारी धक्का लगा। कायस्थ,खत्री आदि कुछ हिन्दू जातियों के लोग राज्य सेवा के लिए मदरसों में फारसी पढ़ने लगे। परन्तु अधिकांश हिन्दू प्रजा के शिक्षण के लिए भारत के मुस्लिम राज्य ने कोई समुचित व्यवस्था न की। मुगल सम्राट् अकबर की हिन्दुओं के प्रति उदार नीति के फलस्वरूप १६ वीं शताब्दी से संस्कृत तथा हिन्दी की शिक्षा पुनर्जीवित हुई। बनारस, मथुरा, नदिया व मिथिला संस्कृत शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गए।

ऐतिहासिक साहित्य—मुस्लिम लेखकों में इतिहास लेखन की विशेष रुचि थी। मध्यकाल में उन्होंने प्रचुर ऐतिहासिक साहित्य लिखा। मिनहाज-सिराज की 'तबकाते नासिरी', बरनी की 'तारीखे-फीरोजशाही', अबुलफजल का 'अकबर नामा' और 'आइन-ए-अकबरी', गुलबदन बेगम का 'हुमायूंनामा'

और फंजी की 'रचनाएं' विशेष उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये ग्रन्थ आधुनिक इतिहास विज्ञान की कसौटी पर तो खरे नहीं उतरते, किन्तु तत्कालीन इतिहास के ज्ञान के लिए इनमें पर्याप्त सामग्री है।

कला पर प्रभाव—इस्लाम ने भारतीय कला के विविध पक्षों को प्रभावित किया। स्थापत्य या भवन निर्माणकला, चित्रकला, संगीतकला तथा उद्यानकला के क्षेत्रों में इस्लाम की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। भारत में स्थापत्यकला की परम्परा बहुत प्राचीन तथा उन्नत थी। उत्तरी भारत में खजुराहो तथा भुवनेश्वर में बने भव्य मन्दिर तथा दक्षिण में तंजौर, महाबलीपुरम् आदि में बने विशाल मन्दिर प्राचीन भारतीय कला की महानता के प्रतीक हैं। इन मन्दिरों का शिखर-भाग कला की दृष्टि से विशेष दर्शनीय है। हिन्दू स्थापत्य कला की विशेषता थी—विशालता, स्थूलता और विस्तार। हिन्दू भवन निर्माण के मुख्य लक्षण थे—(१) चौरस छत, छोटे खम्भे तथा तंग स्तम्भ पंक्तियां, तोड़े तथा अलंकरण की विविध शैलियां। बाहर से तुर्क स्थापत्य-कला की जो शैली भारत में लाए वह भी काफी विकसित हो चुकी थी। उसकी प्रमुख विशेषता थी, (१) गुम्बज, (२) ऊँची ऊँची मीनार (३) मेहराब और डाट (४) भूमिगृह या तहखाने। हिन्दूकला जहाँ वैभव तथा सजावट के लिए प्रसिद्ध थी, मुस्लिमकला में सादगी तथा अनुरूपता पर विशेष जोर दिया जाता था। महराब या डाट का इससे पूर्व हिन्दुओं को ज्ञान न था। दूसरी ओर स्तम्भों का मुस्लिम स्थापत्य में कोई स्थान न था। हिन्दुओं ने मुस्लिम शिल्पियों से मेहराब या डाट का ज्ञान प्राप्त किया और मुस्लिम शिल्पियों ने हिन्दू कारीगरों से तंग व चौकोर स्तम्भ-पंक्तियों का निर्माण तथा भवनों के अलंकरण की विविध विधियाँ सीखीं।

हिन्दू तथा मुस्लिम कला के तत्त्वों का सम्मिश्रण—भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद धीरे धीरे हिन्दू तथा मुस्लिम कला-तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ और भवन-निर्माण की एक नई शैली का विकास हुआ जिसे कई विद्वान् इन्डो-सारसैनिक या पठान कला के नाम से पुकारते हैं। हिन्दू तथा मुस्लिम कला का यह सम्मिश्रण कोई योजनाबद्ध समन्वय तो था नहीं, जैसा हम मुगलसम्राट् अकबर के काल में पाते हैं। यह सम्मिश्रण निम्न परिस्थितियों के कारण हुआ था—

(१) विदेशी तुर्क शासकों को अपनी मस्जिद, महल, या कब्र आदि के निर्माण में हिन्दू शिल्पियों तथा कारीगरों से काम लेना पड़ा। हिन्दू शिल्पियों की अपनी परम्परागत शैली, कला-परम्पराएं तथा सजावट के तरीके थे, जिनका प्रयोग किए बिना वे न रह सके।

(२) मुस्लिम शासकों ने भवन निर्माण के लिए विध्वंस किए हुए पुराने हिन्दू मन्दिरों की सामग्री का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया। इसलिए इस प्रकार बनी मुस्लिम इमारतों में हिन्दूकला के तत्त्व दीख पड़ते हैं।

(३) कई जगह मुस्लिम शासकों ने हिन्दू इमारतों में ही कुछ हेर-फेर करके उन्हें इस्लामी इमारतों में बदल डाला। यह आसानी से सम्भव हो सका, क्योंकि हिन्दू तथा मुस्लिम इमारतों में कुछ बातों में समानता थी। दोनों में ही एक खुला हुआ आँगन होता था, जिसके चारों तरफ कमरों तथा खम्भों की कतारें बनी होती थीं। इस ढंग से बने मन्दिरों को आसानी से मस्जिदों में परिवर्तित किया जा सकता था। इस काल में हिन्दू मन्दिरों की जो चौरस छत होती थी, उसे तोड़कर उसकी जगह गुम्बज और मीनारें बनाकर उन्हें मस्जिद का रूप दे दिया जाता था, जैसे अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा। यह पहले सरस्वती मन्दिर था जिसका चौहान सम्राट् बीसलदेव ने निर्माण कराया था।

मुस्लिम शासन काल में बनी बहुत सी इमारतों पर भवन निर्माण की हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों कला-शैलियों का मिश्रित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दिल्ली के सुल्तानों द्वारा निर्मित कुतुबमीनार तथा अलाई दरवाजे में तो मुस्लिम कला की प्रधानता है। किन्तु जौनपुर, मान्डू, अहमदाबाद, गौड़ (बंगाल), बीजापुर तथा काश्मीर आदि प्रान्तीय मुस्लिम राज्यों में कला की जिन शैलियों का विकास हुआ, उन पर हिन्दू स्थापत्य-कला की स्पष्ट छाप है। इन स्थानों पर बने भवन मिश्रित हिन्दू-मुस्लिम कला के प्रतीक हैं। जौनपुर की 'अटाला मस्जिद' में जो सल्तनत काल की सर्वोत्कृष्ट कला-कृति है, हिन्दू कला का उत्कृष्ट रूप दीख पड़ता है। इस मस्जिद पर हिन्दू प्रभाव इतना अधिक पड़ा है कि इसमें अन्य मस्जिदों की तरह ऊँची मीनारें भी नहीं बनाई गई हैं। जौनपुर में शर्की सुल्तानों द्वारा निर्मित भवनों में वर्गाकार स्तम्भ, विशाल दीवारें और छोटी गैलरियाँ स्पष्ट ही हिन्दू कला का प्रभाव प्रकट करती हैं। बंगाल में मालदा में बनी अदीना मस्जिद भी हिन्दू प्रभाव की सूचक है। गुजरात में बनी इमारतें तथा अहमदाबाद का तीन दरवाजा और जामा मस्जिद उस युग की हिन्दू-मुस्लिम कला के श्रेष्ठ नमूने हैं। बिहार में सहसराम में बना सम्राट् शेरशाह का मकबरा मिश्रित हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य-कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस मकबरे का बाहरी रूप मुस्लिम शैली का है, किन्तु भीतरी भाग तोड़ों तथा हिन्दू ढंग पर बने स्तम्भों से सजा हुआ है। इसकी दीवारों पर जगह-जगह छतने और पान हिन्दू शैली के प्रभाव के सूचक हैं।

अकबर कालीन इमारतें—अकबर एक महान् निर्माता तथा कला-प्रेमी था। उसने हिन्दू तथा मुस्लिम कला का समन्वय कर शिल्पकला की एक राष्ट्रीय शैली को जन्म दिया। उसके द्वारा आगरा, लाहौर तथा फतेहपुर सीकरी में निर्मित भवन कला की इस राष्ट्रीय शैली के सुन्दर नमूने हैं। फतेहपुर सीकरी में निर्मित दीवाने खास,

दीवाने आम, पंचमहल, जोधाबाई का महल, बीरबल का महल, महा-फिजखाना, मरियम का महल, तुर्की सुल्ताना का महल, सम्राट् का शयनागार एव पुस्तकालय, यहाँ की उल्लेखनीय इमारतें हैं। इन सब के बीच में शेख चिश्ती का मकबरा है जो संगमरमर का बना है। इसके दक्षिण में 'बुलन्द-दरवाजा' है जो स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। फतेहपुर सीकरी की ये सभी इमारतें हिन्दू और मुस्लिम कला से मिश्रित राष्ट्रीय शिल्प शैली में बनी हैं। सिकन्दरा में बना अकबर का मकबरा, जिसकी योजना अकबर ने स्वयं बनाई थी, अपने ढंग का निराला है। यह बौद्ध विहारों के ढंग पर बनाया हुआ है। इसमें कोई गुम्बज नहीं है। अकबर के पुत्र जहाँगीर की रुचि शिल्पकला में नहीं, चित्रकला में थी।

शाहजहाँकालीन इमारतें—शाहजहाँ का शासन काल मुगल स्थापत्य कला का स्वर्णयुग था। इसके काल में मुगल स्थापत्य कला अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई। आज भी उस काल के भवनों को देखकर दर्शक चकित हो जाता है। ये भवन सौन्दर्य के मूर्तिमान रूप हैं। शाहजहाँ-काल की स्थापत्य कला पर विदेशी ईरानी कला का पर्याप्त प्रभाव है। उस काल की सब इमारतें संगमरमर की बनी हैं। शाहजहाँ ने लाहौर, आगरा, दिल्ली, काबुल, कन्धार, अजमेर, काश्मीर आदि अनेक स्थानों पर सफेद संगमरमर के महल, मस्जिद तथा मकबरे बनाए। आगरे के किले में शाहजहाँ ने कई नये भवन बनाए, जिनमें कला की दृष्टि से समन बुर्ज और मोती मस्जिद बहुत सुन्दर हैं। मोती मस्जिद सफेद संगमरमर की बनी है। यह मुगलकालीन कला का उत्कृष्ट नमूना है। दिल्ली में भी शाहजहाँ ने लालकिला बनवाया और उसके भीतर बहुत सी सुन्दर इमारतें बनवायीं, जैसे, दीवाने-आम, दीवाने-खास, रंगीन महल, मोती महल, रंगमहल आदि। इनमें दीवानेखास विशेष उल्लेखनीय है। इसकी दीवारों पर पच्चीकारी का आकर्षक काम हुआ है और छत में सोने चाँदी की पत्तियाँ बनी हुई हैं। शाहजहाँ यहीं बैठ कर दरबार करता था। यहीं फारसी में एक शेर खुदा हुआ है—'अगर फिरदौस बरुए ज़मीनस्त'—हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त।' इसका अर्थ है "यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है।" परन्तु शाहजहाँ की कीर्ति का मुख्य आधार आगरे का प्रसिद्ध ताजमहल है जिसकी गणना संसार के आश्चर्यों में होती है। यह शाहजहाँ ने अपनी प्रिय पत्नी मुमताज महल की स्मृति में यमुना के किनारे पर बनवाया था। आलोचक इसे प्रेम का काव्य कहते हैं। इसके निर्माण में २२ वर्ष का समय और ५½ करोड़ से अधिक रुपया लगा था। ताज २२ फुट ऊँचे एक चबूतरे पर बना है। [illegible]

बहुत ही सुन्दर दीख पड़ती है। इसके दोनों ओर मस्जिदें हैं। इसकी योजना ईसा तथा अन्य कई देशी-विदेशी कलाकारों ने बनाई। इसमें पत्थर की जड़ाई का काम बहुत ही सुन्दर है। इसका निर्माण तो मुस्लिम शिल्प के ढंग पर है किन्तु इसमें हिन्दू स्थापत्य कला तथा हिन्दू सजावट के भी कई तत्त्व हैं। इसके किनारे की छतरियाँ हिन्दू शिल्प के प्रभाव की सूचक हैं। प्रसिद्ध कला समालोचक पर्सी ब्राउन के अनुसार ताजमहल का निर्माण तो प्रायः मुस्लिम शिल्पियों द्वारा हुआ था, किन्तु इसकी चित्रकारी प्रायः हिन्दू कलाकारों द्वारा हुई थी और इसमें पीतुरा दौरा की पच्चीकारी जैसी कठिन चित्रकारी का कार्य कन्नौज के हिन्दू कलाकारों ने किया था। ताजमहल कला-सौन्दर्य की मूर्तिमान प्रतिमा है।

शाहजहाँ द्वारा निर्मित भवनों में श्वेत संगमरमर का उन्मुक्त प्रयोग हुआ है। इसमें ऐश्वर्य-पूर्ण अलंकरण पर विशेष जोर दिया गया है। पत्थर में बेल-बूटों की सजावटपूर्ण खुदाई बहुत ही कलात्मक है, मुगल स्थापत्य कला के बारे में कहावत प्रसिद्ध है कि 'मुगल निर्माता निर्माण तो विश्वकर्मा की तरह करते थे, किन्तु समाप्ति उनकी जौहरियों की तरह होती थी'। शाहजहाँ काल की इमारतों में जौहरी का कार्य अर्थात् सजावट के लिए पीतुरा दौरा की पच्चीकारी का कार्य बहुत ही भव्य और विकसित रूप में मिलता है। मुगल काल में हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य कला का सुन्दर समन्वय हुआ था। इस सम्बन्ध में श्री रामधारीसिंह दिनकर का मत उल्लेखनीय है-'विश्वकर्मा के समान विराट निर्माण करने की क्षमता हिन्दुओं में थी और जौहरियों के समान संवारने में मुसलमान कुशल थे। मोगल स्थापत्य में हम जो चमत्कार देखते हैं, वह इसी विश्वकर्मा तथा जौहरी के मिलन का चमत्कार है'।

चित्रकला—यद्यपि कुरान ने चित्र बनाने की कला की निन्दा की है फिर भी मुगल सम्राटों ने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। मुगल चित्रकला की उत्पत्ति ईरानी कला की प्रेरणा से हुई। ईरानी कला मुख्यरूप से पुस्तकों को चित्रित करने की कला थी, जिसमें चमकदार रंगों का प्रयोग होता था। इसके मुख्य विषय मद्यपान, युद्ध तथा प्रेम का अभिनय थे। इसमें व्यक्ति चित्र अधिक नहीं बनते थे। भारत में भी चित्रकला की परम्परा बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही थी। उसने अजन्ता तथा एलोरा के विश्व प्रसिद्ध चित्रों का निर्माण किया था। धीरे-धीरे मुगल दरबार में ईरानी कला से भारतीय कला का सम्मिश्रण होने लगा। सोलहवीं सदी के मुगल चित्रों में तो ईरानी कला का प्रभाव अधिक है, किन्तु सत्रहवीं सदी में इस ईरानी तथा मध्य-एशियायी चित्रकला का भारतीय चित्रकला से मेल हुआ और इसके फलस्वरूप एक नई कला शैली का जन्म हुआ। इसे हु

'मोगल कलम' या शैली कह सकते है। जहांगीर के शासन काल मे इस शैली का चरम विकास हुआ। शाहजहा के काल मे भी इस चित्रकला का विकास होता रहा, किन्तु इसके बाद औरंगजेब की कट्टरता के परिणामस्वरूप मोगल चित्रकला का पतन हो गया। मोगल चित्रकला मे भारतीयता की प्रधानता है। इस कला का मुख्य विषय व्यक्ति-चित्र है। चू कि इस्लाम अपने धार्मिक महापुरषो के चित्र बनाने की आज्ञा नही देता, इसलिए यह शैली मुख्यरूप से सम्राटो, अमीरो, राजाओ तथा दरबारियो के कारनामो का चित्रण करती है। इस कला मे जीवन के आदर्शवाद का नही, यथार्थवाद का चित्रण है। *मुगल चित्रकला या कलम की मुख्य विशेषताएँ हैं—"वैयक्तिक चरित्रों मे गहरी दिलचस्पी, सश्लेषण के स्थान पर विश्लेषण की प्रमुखता तथा सन्तो और महात्माओ की जगह पर राजाओ और दरबारियो से प्रेम"।*

संगीतकला—प्राचीन काल मे सगीत-कला के क्षेत्र मे भारत ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की थी। इस्लाम के आगमन के साथ ईरानी सगीत ने भारत मे प्रवेश किया। धीरे-धीरे प्राचीन भारतीय तथा ईरानी सगीत शैलियों मे मेल हुआ। अमीर खुसरो ने भारतीय सगीत को अनुपम व्यापकता तथा गति प्रदान की। उसने वीणा को देखकर प्रसिद्ध वाद्य यन्त्र सितार का आविष्कार किया। शायद तबले का आविष्कारक भी वही है। इन वाद्य यन्त्रों से उत्तर तथा दक्षिण भारत की सगीत शैलियो मे परस्पर समन्वय का मार्ग खुला। भारतीय सगीत-प्रणाली मे 'कव्वाली' प्रारम्भ करने का श्रेय भी अमीर खुसरो को ही दिया जाता है। सल्तनत काल मे मालवा के सुल्तान बाज बहादुर ने भी सगीत विद्या को अपने दरबार मे विशेष प्रोत्साहन दिया था। जौनपुर के शर्की सुल्तानो ने भी सगीत कला को विशेष राज्याश्रय दिया। सभवतः सगीत की 'ख्याल' पद्धति का आविष्कार जौनपुर के सुल्तान हुसेनशाह शर्की ने किया। मुगल सम्राट् अकबर महान् सगीत-प्रेमी था। उसके दरबार मे बहुत से गायक थे, जिनमे हिन्दू, ईरानी, तूरानी और काश्मीरी स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। अबुलफजल ने अकबर के दरबार के ३६ प्रसिद्ध गायकों का उल्लेख किया है, जिनमे तानसेन प्रमुख हैं। तानसेन ने अनेक रागो का आविष्कार किया था। वह अपने समय का सबसे विख्यात गायक था। मुगल कालीन वाद्य यन्त्रो मे तबला, सितार, सरोद, नक्कारा, दिलरुबा और शहनाई या तो मुसलमानो के साथ भारत मे आए या इनका नामकरण मुसलमानो द्वारा किया गया। अन्य प्रसिद्ध गायको मे बाबा रामदास तथा बैजूबावरा के नाम विशेष उल्लेखनीय है। अकबर की विशेष रुचि तथा प्रोत्साहन के कारण उसके समय मे वाद्य तथा सगीत दोनो की बहुत उन्नति हुई। उसके दरबार मे *हिन्दू तथा मुस्लिम संगीत-शैलियाँ मिलकर एक हो गईं।* [illegible] संगीतकारों के सपर्क से भारतीय सगीत मे गजल, ठुमरी, दादरा,

कव्वाली, तराना, ख्याल, बहगूजरी, आदि रागों का विशेष चलन हुआ। अकबर से पूर्व मुस्लिम समाज में संगीत का सम्मान न था। अकबर ने संगीतज्ञों का विशेष सत्कार कर संगीत को अन्य ललितकलाओं के समकक्ष गौरव दिलाया। मुगल सम्राट् जहाँगीर तथा शाहजहाँ भी संगीत को प्रोत्साहन देते रहे, किन्तु औरंगजेब संगीत-कला का शत्रु सिद्ध हुआ।

बागवानी या उद्यान कला—प्रसिद्ध कला-समालोचक ई. बी हैवेल ने बागवानी को भारतीय कलाओं में मुगलों की सब से बड़ी देन बताया है। मुगल सम्राटों ने भारत में ईरान तथा तुर्किस्तान की उद्यानकला के ढंग पर नये बाग बगीचों का निर्माण करवाया। इन उद्यानों या बगीचों की मुख्य विशेषता यह थी कि 'इनकी सिंचाई कृत्रिम नालियों, तालाबों और छोटे-छोटे झरनों से होती थी जो ऐसे ढंग से बनाए जाते थे कि पानी दोनों ओर लबालब भरा रहे।' साथ ही साथ ढालू स्थानों पर प्रायः आठ चबूतरे बनाए जाते थे। इन चबूतरों के साथ जुड़ी नहरों में फव्वारे लगे होते थे और नहर के किनारों के दोनों ओर फूलों की क्यारियाँ होती थीं। सबसे ऊँचे या निचले चबूतरे पर एक बारहदरी होती थी, जहाँ से दर्शक सारे दृश्य को बिना विघ्न बाधा के देख सकें। जहाँगीर के शासनकाल में मुगलों की उद्यान-कला का पूर्ण विकास हुआ। उसके द्वारा निर्माण कराए गए बागों में सब से अधिक सुन्दर श्रीनगर का शालामार बाग है। इसके चारों ओर पहाड़ियाँ हैं और किनारे पर डल झील है। जहाँगीर के शासन काल का दूसरा महत्वपूर्ण उद्यान श्रीनगर में बना निशात बाग है। शाहजहाँ ने लाहौर के पास प्रसिद्ध शालामार बाग बनवाया था,जो अपनी सुन्दरता के लिए आज भी प्रसिद्ध है। दिल्ली के लाल किले में भी बहुत से बाग थे, जिनमें हयात बाग सबसे अधिक सुन्दर था।

युद्धकला—मुस्लिम सम्पर्क के फलस्वरूप युद्ध-कला के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। मुगलों से भारत ने तोप, बन्दूक तथा बारूद का प्रयोग सीखा। सैनिक व्यवस्था तथा किलेबन्दी की प्रणाली में उल्लेखनीय विकास हुआ। यहाँ के राजपूतों के लड़ने का ढंग पुराना था। बाबर नामक मुगल सम्राट् ने युद्ध की तुलुगमा पद्धति चलाई। सैनिक अनुशासन पर विशेष जोर दिया। जाने लगा।

अन्य शिल्प कलाएँ—भारत में कागज बनाने की कला मुसलमानों के साथ आई। कागज का सर्वप्रथम चीन में आविष्कार हुआ था और वहाँ से कागज बनाने की कला मध्य-एशिया पहुँची थी। वहाँ समरकन्द में इसका कारखाना था। मुसलमान मध्य-एशिया से कागज बनाने की कला भारत में लाए। कई धातुओं से रसायन बनाने की कला भी भारत में मुसलमानों के साथ आई। कलई करना, पत्थर, चाँदी तथा सोने पर मीनाकारी का काम, कलाबत्तू, किमखाब, जिल्दसाजी-ये शिल्प भी भारत में मुसलमान ही लाए।

मुस्लिम शासन का प्रभाव—शताब्दियों के मुस्लिम शासन ने देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक जीवन को परोक्षरूप से प्रभावित किया। मुस्लिम प्रभुत्व से उत्पन्न प्रभावों का हम नीचे उल्लेख करेंगे:—

१. राजनीतिक एकता—पहले तुर्क सुल्तानों ने तथा बाद में मुगल सम्राटों ने सामरिक बल के आधार पर देश में अपना साम्राज्य स्थापित किया। यह साम्राज्य अधिकतर उत्तरी भारत तक ही सीमित था और इसमें पूरा दक्षिणी भारत कभी भी शामिल न था। किन्तु फिर भी शक्तिशाली केन्द्रीकृत मुगल साम्राज्य की स्थापना ने देश की राजनीतिक एकता सम्पन्न की। मुगल शासन के अन्तर्गत साम्राज्य में एक-सी शासन-व्यवस्था तथा एक राजभाषा (फारसी) लागू की गई। सारे साम्राज्य में दृढ़ केन्द्रीय सरकार द्वारा शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित की गई। इस का परिणाम यह हुआ कि भारत में राजनीतिक एकता की भावना पुष्ट हुई।

२. बाहरी दुनियाँ से सम्पर्क—भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना ने देश का बाहरी दुनियाँ से पुनः सम्बन्ध स्थापित कर दिया जो चोल राज्य के पतन के बाद टूट गया था। दूसरे देशों से सम्पर्क टूट जाने के कारण भारतीयों में संकीर्णता आ गई थी। मुगल शासन के अन्तर्गत हमारा पश्चिमी देशों से सम्पर्क हुआ। भारत ने मध्य-एशिया, फारस, अफगानिस्तान, अरब, टर्की, ईरान, मैसोपोटामिया आदि प्रदेशों से [illegible] व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए। पूर्वी समुद्रतट से हमारे देश के व्यापारिक जहाज दक्षिणी पूर्वी तथा पूर्वी एशिया के सुमात्रा, जावा, स्याम तथा चीन आदि देशों को भी जाने लगे। इस प्रकार बाहरी दुनियाँ से, विशेषरूप से पश्चिमी देशों से, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने से देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ी और लोगों के दृष्टिकोण में उदारता तथा व्यापकता का समावेश हुआ। विदेशों से नई प्रकार के फल, पकवान, वस्त्र तथा वस्तुएँ इस देश [illegible] आईं।

३. हिन्दू राष्ट्रवाद का उदय—मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं के विरुद्ध जो भेद-भाव की नीति बरती, उसके विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दुओं में हिन्दुत्व की दृढ़ भावना का जन्म हुआ। मुस्लिम समाज की एकता तथा भाई-चारे को देखकर हिन्दुओं ने भी यह अनुभव किया कि हमारी भी कोई एकता हो सकती है। हिन्दू शब्द जो सिन्धु नदी [illegible] निकला था और जिसका मूल अर्थ सिन्धु नदी के आस पास रहने वाले लोग थे, कालान्तर [illegible] यहाँ के गैर मुस्लिम समाज की एकता का द्योतक बन गया। ज्यों ज्यों हिन्दुओं पर मुस्लिम शासकों के अत्याचार बढ़े, त्यों त्यों ही हिन्दुत्व ने उनके विरुद्ध संगठित रूप से लड़ने का अपनी क्षमता का प्रदर्शन किया। धर्मान्ध निरंकुश तथा धूर्तबाज सुल्तानों के अत्याचारों के विरुद्ध हिन्दुत्व की प्रतिक्रिया दक्षिण में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के रूप में हुई। इतिहास तथा

बुक्का नामक दो वीर पुरुषों ने विद्यारण्य नामक विद्वान् आचार्य की सहायता से दक्षिणी भारत को मुस्लिम आधिपत्य से मुक्त कर १३३६ ईसवी में वहाँ विजयनगर नाम से हिन्दू राज्य की स्थापना की। भारत के मध्यकालीन इतिहास में विजयनगर साम्राज्य का बहुत महत्त्व है। इस साम्राज्य में लगभग २½ शताब्दी तक विशुद्ध भारतीय संस्कृति का निरन्तर विकास होता रहा। यही नहीं, इस साम्राज्य ने लगभग २५० वर्ष तक सुदूर दक्षिण के भारतीय प्रदेश को मुस्लिम शासन तथा मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से बचाए रखा। इस साम्राज्य के सबसे महान् सम्राट् कृष्णदेवराय थे। इस साम्राज्य का भारतीय इतिहास में महत्त्व इस बात में निहित है कि इसकी स्थापना से दक्षिणी भारत का एक बड़ा भाग १४,१५, एवं १६ शताब्दियों में मुस्लिम आधिपत्य तथा मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से मुक्त रहा और वहाँ विशुद्ध हिन्दूधर्म तथा संस्कृति का निरन्तर विकास होता रहा। विजयनगर के दो महान् पंडित माधवाचार्य तथा सायणाचार्य ने हिन्दुओं के बौद्धिक जागरण का भी प्रयास किया। सायणाचार्य ने वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों पर महान् टीकाएँ लिखी, जिनमें वेदों की नयी व्याख्या प्रस्तुत की गई। माधवाचार्य ने प्राचीन हिन्दू समाजिक नियमों को व्यवस्थित रूप देने के उद्देश्य से पराशर-स्मृति पर टीका लिखी।

१७ वीं शताब्दी में जब मुगल सम्राट् औरंगजेब ने धर्मान्धता के कारण हिन्दू प्रजा पर भयंकर अत्याचार किए, तो उसके विरुद्ध फिर हिन्दुत्व की संगठित प्रतिक्रिया प्रकट हुई। महाराष्ट्र में शिवाजी ने स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की और हिन्दू धर्म तथा संस्कृति को मुस्लिम आक्रमण के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया। पंजाब में गुरुगोविन्दसिंह ने मुस्लिम अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए शक्तिशाली सिक्ख आन्दोलन का संगठन किया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. इस्लाम के आगमन के समय भारत की धार्मिक अवस्था क्या थी ?
२. इस्लाम का हिन्दू धर्म तथा समाज पर क्या प्रभाव पड़ा।
३. धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में हिन्दुत्व तथा इस्लाम ने एक दूसरे को किस तरह प्रभावित किया ?
४. हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच समन्वय की दिशा में क्या क्या प्रयास हुए और यह समन्वय क्यों नहीं संभव हो सका ?
५. इस्लाम का भारत की भाषा, साहित्य तथा विज्ञान पर क्या प्रभाव पड़ा ?
६. इस्लाम की कला के क्षेत्र में क्या देन है ?
७. 'हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच सर्वाधिक समन्वय कला के क्षेत्र में हुआ'— इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

6

भक्ति आन्दोलन

भक्ति आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—मध्यकालीन भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक देन भक्ति आन्दोलन है। भारत में इस्लाम के आगमन पर हिन्दुओं की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक प्रतिक्रिया भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई। इस्लाम मूर्ति-पूजा, धर्म के बाह्य आडम्बर तथा जात-पाँत के भेदभाव के विरुद्ध था और सादगी तथा एकेश्वरवाद पर बल देता था। मुस्लिम-शासकों तथा धर्मप्रचारकों ने हिन्दू मन्दिरों को तोड़ना तथा हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार उस काल में हिन्दुओं का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया था। भारत में उस समय जो भी हिन्दुओं के धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित थे—वज्रयान तथा वाममार्ग की गुह्य साधनाएँ, मीमांसकों का याज्ञिक कर्मकाण्ड, अद्वैतवादियों का ज्ञानमार्ग तथा नाथपन्थियों का हठयोग—उनमें से कोई भी तुर्क शासकों व धर्म प्रचारकों से हिन्दू धर्म की रक्षा करने में समर्थ न था। अतः उस काल में हिन्दू धर्म के ऐसे रूप की आवश्यकता थी जो बाह्य आडम्बर तथा कर्मकाण्ड से मुक्त हो, जो समाज के सभी उच्च तथा निम्न वर्गों को अपनी ओर आकर्षित कर सके और जो मुस्लिम अत्याचारों से पीड़ित तथा पददलित हिन्दुओं में आत्म-विश्वास और आशा का संचार कर सके। भक्ति आन्दोलन के उदय ने युग की इस मांग को पूरा किया।

देश के विभिन्न भागों में अनेक सन्त हुए जिन्होंने हिन्दू धर्म के आडम्बर, जात-पांत तथा रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह किया और जनसाधारण को धर्म का सच्चा प्रकाश दिखाया। उन्होंने ज्ञान या कर्मकाण्ड के स्थान पर भगवान की भक्ति को मोक्ष का सरल और सर्वश्रेष्ठ साधन बताया। मुस्लिम विजय के बाद निराशा और पलायनवाद की जो भावना हिन्दुओं में घर कर गई थी, वह इस भक्ति भावना के प्रसार में विशेष सहायक हुई। मध्यकाल में यह आन्दोलन बहुत ही व्यापक और विशाल हो गया और लगभग समस्त उत्तरी भारत में भक्ति का स्वर गूंज उठा।

कुछ विद्वान् भारत के इस भक्ति आन्दोलन को इस्लाम की देन बतलाते हैं तो कुछ ईसाइयत की। परन्तु यह भ्रान्त धारणा है। भक्ति विशुद्ध भारतीय परम्परा है, जो इस्लाम व ईसाई धर्मों के जन्म से भी पुरानी है। ईसा से पूर्व ही भारत में भक्तिप्रधान भागवत या पांचरात्र सम्प्रदाय का जन्म हो चुका था। छठी शताब्दी ईसवी से नवी शताब्दी ईसवी के बीच दक्षिण

भारत में आलवार सन्तों के नेतृत्व में भक्ति-परम्परा एक जन-आन्दोलन के रूप में संगठित हो चुकी थी। शंकराचार्य के बाद होने वाले रामानुज, मध्व आदि आचार्यों ने भक्ति आंदोलन को दार्शनिक आधार प्रदान किया था। इस प्रकार दक्षिण भारत में विकसित होती हुई यह भक्ति परम्परा मध्यकाल में उत्तर भारत में आई और सन्त रामानन्द के हाथों यहाँ उसका प्रचार हुआ। पद्म तथा भागवत पुराण भी भक्ति परम्परा की उत्पत्ति दक्षिण भारत के द्रविड़ देश में बतलाते हैं। भागवत में भक्ति के मुख से कहलाया गया है—"मैं द्राविड़ देश में जन्मी, कर्णाटक में विकसित हुई, कुछ समय महाराष्ट्र में रही और गुजरात पहुँचकर मैं जीर्ण हो गई।" भारत में भक्ति परम्परा के इस क्रमिक विकास का आगे हम विस्तार से अध्ययन करेंगे।

भक्ति परम्परा की प्राचीनता—भारत में भक्ति परम्परा बहुत ही प्राचीन है। कुछ विद्वान् तो भक्ति को आर्येतर तत्त्व भी मानते हैं। उनके अनुसार भक्ति की भावना आर्यों के आगमन से पूर्व ही भारत के आर्येतर निवासियों में विद्यमान थी। आज से ५००० वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता के मोहनजोदड़ो नगर की खुदाई में भी प्रतिमा-पूजन के चिह्न मिले हैं। भक्ति का वैदिक साहित्य में उल्लेख है। ऋग्वेद का वरुण-स्तोत्र भक्ति-भावना से ओतप्रोत है। कई उपनिषदों में भी भक्ति तथा ईश्वर-शरणागति के भाव का उल्लेख मिलता है।

भागवत धर्म का उदय—ईसा के कई शताब्दियों पूर्व ही भारत में भागवत धर्म का जन्म हो चुका था। इसमें वैदिक काल के यज्ञादि कर्म-काण्ड के स्थान पर नारायण की भक्ति का उपदेश था। निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर इस मत में सगुण ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई थी और यज्ञ व ज्ञान के बदले भक्ति को मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया था। इस भागवत धर्म को पाञ्चरात्र, सात्वत मत तथा वैष्णव मत के नाम से पुकारा जाता था। इसका उदय छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में ही चुका था। पाणिनि के सूत्रों में तथा जातक साहित्य में वासुदेव के भक्तों का उल्लेख मिलता है। इससे भी पूर्व छान्दोग्य उपनिषद् में भागवत धर्म के प्रवर्तक श्रीकृष्ण का उल्लेख हुआ है। यूनानी राजदूत मेगास्थनीज के अनुसार चौथी शताब्दी ई० पूर्व में मथुरा में श्रीकृष्ण की पूजा प्रचलित थी।

भागवत धर्म में धीरे-धीरे मूर्ति-पूजा तथा मन्दिर-निर्माण बहुत लोकप्रिय हो गये। देव-प्रतिमाओं की पूजा और अर्चा का प्रचलन अत्यधिक बढ़ गया। सारा देश विशाल मन्दिरों से छा गया।

भागवत-धर्म के सिद्धान्त—भागवत धर्म के प्रमुख ग्रन्थ महाभारत, गीता और भागवत पुराण हैं। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में भागवत धर्म

का विस्तार से वर्णन है। इसके अनुसार महर्षि नर तथा नारायण ब्रह्म के अवतार हैं तथा वे ही भागवत धर्म के प्रवर्तक हैं। भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने भागवत धर्म की विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। गीता में वैदिक कर्मकाण्ड, ज्ञान तथा संन्यास को हेय ठहराकर भक्तिशील बुद्धि से निष्काम कर्म करते रहने की प्रवृत्ति को श्रेष्ठ बताया गया है। शरणागति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—हे अर्जुन ! सब धर्मों को छोड़कर तुम मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ाऊँगा। शोक मत करो।' गीता भक्तियोग को ज्ञानयोग से श्रेष्ठ बतलाती है और भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार शूद्रों तथा स्त्रियों को भी प्रदान करती है। गीता के अनुसार मोक्ष के लिए संन्यास आवश्यक नहीं, गृहस्थ में रहते हुए भी भक्ति द्वारा मोक्ष सम्भव है।

भागवत पुराण में भक्ति—भागवत में भक्ति के महत्त्व का विशद वर्णन है। भगवान् को पूर्ण आत्म समर्पण कर हम ब्रह्म की आनन्दमय अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं जो जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। भागवत 'अहैतुकी (अकारण) भक्ति' का उपदेश देती है। भक्ति किसी अन्य ध्येय का साधन नहीं, वरन् अपने आप में ही सर्वोच्च ध्येय है। भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए श्रीकृष्ण भागवत में कहते हैं—"न तो योग, न ज्ञान, न कर्म, न वेदाध्ययन, न तप, न दान मुझे उतने प्रिय हैं, जितनी एकान्तिक भक्ति। भक्त ज्ञानयोग व कर्मयोग के साधकों से श्रेष्ठ है।' अन्यत्र भक्तों की महिमा का बखान करते हुए विष्णु कहते हैं—'मैं भक्त के अधीन हूँ और पूर्णतया परतन्त्र हूँ। साधु भक्तों के द्वारा मेरा हृदयग्रस्त है। भक्त मेरे प्रिय हैं।'

धीरे धीरे वैष्णव या भागवत धर्म में नये तत्त्व जुड़ने लगे। इनमें अवतारवाद का सिद्धान्त तथा कृष्ण की बाल-लीलाएँ मुख्य हैं। कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया और उनकी लीलाओं को प्रधानता मिलने लगी। चौथी शताब्दी ई० से श्रीकृष्ण-लीला की कथाएँ बहुत लोकप्रिय हो गईं। वैष्णव सम्प्रदाय के तीन प्रसिद्ध पुराणों—हरिवंश, विष्णु-पुराण और भागवत में कृष्ण की गोपाल बाल के रूप में क्रीडाओं का वर्णन है। भागवत पुराण में (७०० ई० से १००० ई०) कृष्ण व गोपियों के प्रेम की विस्तार से चर्चा है। बाद में श्रीकृष्ण चरित में राधा की लीलाएँ भी जुड़ गईं। १२ वीं शताब्दी के अन्त में जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण की लीलाओं का सरस वर्णन किया है।

दक्षिण भारत के आलवार सन्त—दक्षिण भारत में आलवार नाम से प्रसिद्ध वैष्णव सन्त हुए जिनमें बारह विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके काल-निर्णय के विषय में मतभेद है। प्रो० कृष्णस्वामी आयंगर के अनुसार ये आलवार सन्त तीसरी शताब्दी ईसवी से लेकर नवीं शताब्दी ईसवी के बीच वर्तमान

प्रदेश मे हुए। ये सन्त बहुधा निम्न जातियो मे उत्पन्न थे। ये बहुत ही सीधे सादे लोग थे जो भगवान् के प्रति अटूट प्रेम और भक्ति से प्रेरित थे। उनके गीत भगवान की शरणागति के भाव से ओत-प्रोत हैं। ये सन्त जात-पाँत तथा ऊँच-नीच के भेदभाव के विरुद्ध थे और सबको भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश देते थे। ये सन्त भगवान विष्णु के निष्काम प्रेम तथा शरणागति पर विशेष जोर देते थे। इन सन्तो के अनुसार भक्ति-साधना का उद्देश्य केवल मोक्ष प्राप्ति ही नही, वरन् भगवान से एकाकार होना है। इन सन्तो ने भक्ति के विचार को घूम घूम कर जन-साधारण मे फैलाया। उनके नेतृत्व मे भक्ति-परम्परा ने एक जन-आदोलन का रूप ग्रहण कर लिया। तमिल भाषा मे उन्होंने भक्ति भावना से ओतप्रोत बहुत से पद रचे, जिनका सग्रह आचार्य नाथमुनि ने 'प्रबन्धम्' नामक ग्रंथ मे किया है। भागवत पुराण की तरह 'तमिल-प्रबन्धम्' भी भक्ति परम्परा का एक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन आलवार सन्तों को जनता ने बहुत ऊँचा सम्मान दिया। उनकी मूर्तियाँ दक्षिण भारत के मन्दिरो मे स्थापित हैं, जहाँ इनकी अब भी पूजा होती है।

दक्षिण के वैष्णव आचार्य—आलवार सन्तो की भक्ति परम्परा के उत्तराधिकारी दक्षिण मे वैष्णव आचार्य हुए। शकराचार्य ने दक्षिण में वेदान्त के ज्ञानमार्ग का प्रवर्तन किया था, परन्तु उनके अद्वैतवाद में भक्ति और प्रेम के लिए कोई स्थान न था। इससे दक्षिण भारत की भक्ति-प्रिय जनता को निराशा हुई। अत. वैष्णव आचार्यों ने वेदान्त सूत्र की नई व्याख्या कर भक्ति-परम्परा को दार्शनिक आधार प्रदान किया।

रामानुजाचार्य—दक्षिण भारत के वैष्णव आचार्यों मे रामानुज प्रमुख थे। उनका जन्म १०१७ ई० मे हुआ था। उन्होंने शकर के वेदान्त दर्शन का वैष्णव-धर्म की भक्ति परम्परा से समन्वय किया। वेदान्तसूत्र की ईश्वरवादी व्याख्या कर उन्होंने भक्ति का दर्शन तैयार किया। वेदान्त मे ईश्वर की नहीं, ब्रह्म की प्रतिष्ठा थी, जो ससार की रचना नहीं करता और भक्तों की प्रार्थना पर ध्यान नही देता। रामानुज ने वेदान्त के इस ब्रह्म के स्थान पर सगुण ईश्वर (नारायण) की प्रतिष्ठा की और उसे जगत् का कर्ता, रक्षक तथा भक्तों पर अनुग्रह करने वाला बनाया। इस ईश्वरवाद के आधार पर ही उन्होंने भक्ति का दर्शन तैयार किया। उन्होंने भक्तिमार्ग को शकर के ज्ञानमार्ग की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहराया।

विशिष्टाद्वैत—रामानुज ने शकर के अद्वैतवाद और माया के सिद्धान्त का खण्डन कर अपना नया मत प्रतिपादित किया जो 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुसार ब्रह्म (ईश्वर), जीव और जगत् तीनों एक दूसरे से भिन्न हैं और सामान्य रूप से नित्य और सत्य हैं। परन्तु भिन्न

होने पर भी उनके बीच एक विलक्षण प्रकार का निकट सम्बन्ध है जो आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की तरह है। जीव और जगत् का आधार तत्त्व ईश्वर है। इन तीनों के विशिष्ट संघात के कारण ही यह विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

प्रपत्ति का सिद्धान्त—आचार्य रामानुज ने भक्ति को मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया। परन्तु ज्ञान और कर्म की तरह भक्ति का मार्ग भी केवल द्विज अर्थात् तीन उच्च वर्णों के लिए ही विहित था, शूद्रों के लिए नहीं। अतः रामानुज ने शूद्र तथा नीची जातियों के लिए 'प्रपत्ति' का मार्ग सुझाया। प्रपत्ति से तात्पर्य है सर्वतोभावेन भगवान् की शरणागति। प्रपत्ति का मार्ग भक्ति मार्ग में सबसे सरल मार्ग है, क्योंकि इसके लिए ज्ञान, विद्याध्ययन या योग-साधना की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रपत्ति में व्यक्ति को भगवान् और गुरु के अनुग्रह पर निर्भर रहना पड़ता है। भगवान् के प्रति आत्म-निवेदन की भावना प्रपत्ति का आधार है। इस प्रकार रामानुज ने प्रपत्ति मार्ग द्वारा उच्च वर्णों के साथ शूद्र आदि नीची जातियों को भी वैष्णव धर्म में आने का अधिकार दिया। यह, श्री रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार 'भक्ति पर आधारित बृहत् मानवता तथा वर्णाश्रमधर्म के बीच एक प्रकार का समझौता था'।

अपनी भक्तिपरक विचारधारा के प्रचार के लिए रामानुज ने व्यापक रूप से देश में भ्रमण किया और अपने विरोधियों से शास्त्रार्थ किए। तिरुपति में उन्होंने वैष्णव मत का प्रमुख केन्द्र स्थापित किया। उनके अनुयायियों की संख्या उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक है। उनका मत श्री सम्प्रदाय कहलाता है।

मध्वाचार्य (११९७-१२७६)—रामानुज की तरह मध्वाचार्य भी लक्ष्मीनारायण के उपासक थे। उन्होंने वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर 'विष्णु' की प्रतिष्ठा की। वे अद्वैतवाद में नहीं, द्वैतवाद में विश्वास करते थे। वे जीव और जगत् को ब्रह्म अथवा नारायण से पूर्णतः पृथक् मानते थे। वे भक्तिपूर्वक विष्णु की उपासना का उपदेश देते थे। उनके मत में भक्ति द्वारा भगवान् का साक्षात्कार सम्भव है। वे साधना के लिए गुरु-महिमा पर भी जोर देते थे।

वैष्णव आचार्यों में से कुछ ने नररूपधारी साकार भगवान् की पूजा का उपदेश दिया। भगवान के इन नररूपों में दो प्रसिद्ध हैं—कृष्ण और राम। कृष्ण की उपासना करने वाले आचार्यों में निम्बार्क, चैतन्य तथा वल्लभ प्रमुख हैं।

निम्बार्क—निम्बार्क गोपियों और राधा से घिरे भगवान कृष्ण की भक्ति का उपदेश देते थे। वे कृष्ण-भक्ति को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानते थे। उन्होंने भी शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत के वेदान्त दर्शन में संशोधन किया।

उनका मत 'द्वैताद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार जीव तथा ईश्वर व्यवहार में भिन्न तथा वैसे अभिन्न (एक) हैं।

वल्लभाचार्य—वल्लभाचार्य भक्ति की कृष्णमार्गी शाखा के अनुयायी थे। उन्होंने भक्ति द्वारा भगवान् कृष्ण के साथ एकत्व प्राप्त करने का उपदेश दिया। उनका सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग कहलाता है। पुष्टि भगवान के अनुग्रह का नाम है। उनके अनुसार भगवान् के अनुग्रह से पुष्ट जीव ही भक्ति मार्ग पर चल सकता है। उन्होंने भगवान कृष्ण की प्रतिमा-पूजन पर भी बल दिया। उन्होंने मायावाद को न मानकर केवल अद्वैत अर्थात् शुद्धाद्वैत की शिक्षा दी। उनके अनुयायी अष्टछाप के कवि हुए, जिन्होंने अपनी हिन्दी रचनाओं द्वारा कृष्ण-भक्ति को बहुत लोकप्रिय बनाया। वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग में रसिकता की वृद्धि होने से कालान्तर में अनाचार का प्रवेश हो गया।

रामानन्द—रामानन्द भक्ति परम्परा के प्रमुख आचार्य थे। इनका जन्म प्रयाग में १२९९ ईसवी में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बनारस में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की और वहां स्वामी राघवानन्द से रामानुज के श्री-सम्प्रदाय की दीक्षा ली। परन्तु रामानन्द ने वैकुण्ठवासी विष्णु के स्थान पर मानव-शरीरधारी और राक्षसों का संहार करने वाले भगवान् राम की प्रतिष्ठा की। उस काल में हिन्दू समाज को ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो वीरता को उभार सके तथा त्याग और बलिदान की प्रेरणा दे सके। ऐसा धर्म भगवान राम के लोकरक्षक रूप को लेकर ही खड़ा किया जा सकता था। इस कारण से रामानन्द ने भगवान् राम की उपासना का प्रवर्तन किया। भगवान् राम विष्णु के अवतार के रूप में पहले ही मान्य हो चुके थे। किन्तु राम की भक्ति और उपासना का व्यापक प्रचार रामानन्द ने ही किया। उन्होंने 'ब्रह्म सूत्र' पर आनन्द भाष्य लिखा जिसमें ब्रह्म के रूप में श्रीराम को मान्यता दी गई। उन्होंने ईश्वर के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का समर्थन किया। उन्होंने राम-भक्ति को लोकप्रिय बनाया। उनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय 'रामावत' संप्रदाय कहलाता है। वे रामानुज के विशिष्टाद्वैत में विश्वास करते थे।

भक्ति-परम्परा को दक्षिण भारत से उत्तर में लाना—मध्यकालीन भारतीय इतिहास में रामानन्द का महत्त्व इस बात में निहित है कि उन्होंने उत्तरी भारत में भक्ति मार्ग का प्रवर्तन किया। दक्षिणी भारत में भक्ति की जो परम्परा आलवार सन्तों तथा वैष्णव आचार्यों के नेतृत्व में विकसित हुई थी, रामानन्द उसे उत्तर भारत में लाए। इस बात की पुष्टि साधु-समाज में प्रचलित निम्न दोहे से भी होती है—

भक्ती द्राविड ऊपजी लाये रामानन्द ।
परगट कियो कबीर ने सात दीप नौखण्ड ॥

निम्न जातियों के प्रति सहानुभूति—रामानन्द स्वभाव से बहुत ही दयालु और सन्त थे। उन्होंने नीची से नीची जाति के लोगों को भी भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी माना। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भगवान् की दृष्टि में सभी बराबर हैं। उन्होंने नीची समझी जाने वाली जाति के लोगों को भी बिना भेदभाव के अपनी शिष्य-मंडली में शामिल किया। उन्होंने घोषणा की कि सभी लोग बिना जात-पाँत के भेद के साथ-साथ खान-पान कर सकते हैं और उनके सम्प्रदाय में दीक्षित हो सकते हैं, अगर वे राम के भक्त हों। उनके प्रसिद्ध तेरह शिष्यों में कई नीची जाति के लोग थे। उनका शिष्य पीपा राजपूत, सेना नाई, धन्ना जाट और रैदास मोची या चमार था। उनके प्रसिद्ध शिष्य कबीर हुए थे और उनका पालन-पोषण एक मुस्लिम जुलाहे के घर हुआ था। उनके शिष्यों में पद्मावती नामक एक स्त्री भी थी। रामानन्द ने अपने सम्प्रदाय के द्वार स्त्रियों, शूद्रों तथा मुसलमानों तक के लिए खोल दिए थे।

रामानन्द का प्रमुख सुधार अपने मत के प्रचारार्थ जन-भाषाओं का प्रयोग करना था। रामानन्द ने हिन्दी भाषा में भक्ति का उपदेश दिया। इनसे पूर्व रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों ने अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए संस्कृत में ही रचनाएँ की थीं। रामानन्द के इस कार्य के फलस्वरूप भारत की देशी भाषाओं का विकास हुआ। भक्ति आन्दोलन के सभी सन्तों ने इस सम्बन्ध में रामानन्द का अनुकरण किया। रामानन्द की मृत्यु के बाद उनके अनुयायी दो वर्गों में बँट गये। एक वर्ग उन भक्तों का था जो वेद तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था में विश्वास रखते थे। इस वर्ग में तुलसीदास, नाभादास आदि सन्त हुए। दूसरे वर्ग में वे भक्त थे जो वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरोधी थे, किन्तु रामानन्द के भक्ति मार्ग को अपना आदर्श मानते थे। दूसरे वर्ग के प्रसिद्ध सन्त कबीर, दादू आदि हुए।

रामानन्द ने अपने १२ शिष्यों के साथ देश के विभिन्न भागों की यात्रा की और लोगों को अपने मत में दीक्षित किया। अपने मत के प्रचार के लिए उन्होंने बौद्धों की तरह साधुओं के एक नये संगठन की भी स्थापना की, जिसे 'बैरागी' कहते हैं। इस संगठन के अयोध्या और चित्रकूट केन्द्र हैं।

कबीर—रामानन्द के शिष्यों में प्रमुख कबीर हुए। उनकी जाति और जन्म के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि वे बनारस की एक ब्राह्मण विधवा के गर्भ से पैदा हुए थे, जिसने उन्हें लोक-लज्जा के डर से फेंक दिया था। नीरू नामक जुलाहे ने इस बालक का पालन किया। इस प्रकार कबीर के जन्म और प्रारम्भिक जीवन में हिन्दू और मुस्लिम दोनों जातियों का संगम था। अतः इसमें क्या आश्चर्य है यदि कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक बने। कबीर के जन्म के बारे में मतभेद है

पर यह निश्चित है कि वे १५ वीं शताब्दी के अन्त में सिकन्दर लोदी के समय में हुए। काशी में उन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग बिताया था। उनकी मृत्यु मगहर में हुई थी। उनके फूलों को हिन्दुओं और मुसलमानों ने आधा-आधा बांट लिया था। उनकी पत्नी का नाम लोई और पुत्र का नाम कमाल था। प्रारम्भ से ही कबीर चिन्तनशील और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। लोकश्रुति के अनुसार वे रामानन्द के शिष्य हो गये थे। उन पर कई विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा था। वे अद्वैतवाद के वेदान्त से बहुत प्रभावित थे। साथ ही उन पर वज्रयानी सिद्धों के विचारों का तथा गोरखपंथी नाथों के हठयोग का भी प्रभाव पड़ा था। इन सिद्धों तथा योगियों की तरह ही कबीर के जीवन में भी अक्खड़पन समाया हुआ था। वे भी पंडितों और मौलवियों को डाट-फटकार कर गर्व के साथ अपने तत्त्वज्ञान की घोषणा किया करते थे। सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद की भी कबीर के विचारों पर स्पष्ट छाप है। कबीर के विरह-पीड़ा वाले पदों में यह रहस्यवाद देखा जा सकता है। अपने गुरु रामानन्द से कबीर ने अहिंसा, नैतिकता और भक्ति के विचार ग्रहण किये थे। कबीर की रचनाएं हिन्दू धर्म के उत्कृष्ट विचारों से ओतप्रोत हैं। अतः उनकी शिक्षाओं का आधार मुस्लिम नहीं हिन्दू प्रतीत होता है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता—कबीर हिन्दू और इस्लाम धर्मों के समन्वय के प्रबल समर्थक थे। जीवनभर उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की गहरी खाई को पाटने का प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बरों तथा रूढ़ियों की निन्दा की और दोनों की मूलभूत एकता पर बल दिया। उन्होंने पण्डितों तथा मुल्ला-मौलवियों के ढोंगों,

और इस्लाम

अल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुई कर थापे एक नमाज एक पूजा ॥
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये ।
को हिन्दू को तुरक कहावे, एक जिमी परिहरिये ॥
वेद किताब पढ़े वे कुतबा, वे मुल्ला वे पांडे ।
बेगर बेगर नाम धराये, एक मिट्टी के भांडे ॥

कबीर ने निर्भयतापूर्वक हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों धर्मों के आडम्बर, ढोंग, तथा पाखण्ड के विरुद्ध आवाज उठाई और धर्म के मौलिक रूप पर बल दिया।

न जाने तेरा साहब कैसा है ?

मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहरा है;
चींटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है ॥
सांच कहो तो मारन धावे, झूठे जग पतियाना;
आतम मारी पखानहि पूजें, उनमें कछू न ज्ञाना।
बहुते देखे पीर औलिया, पढ़ें किताब कुराना;
कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरक कहे रहमाना।

हिन्दुओं की मूर्तिपूजा का उपहास करते हुए उन्होंने कहा—

'पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते या चाकी भली, पीस खाय संसार ॥

मुसलमानों के ढोंग तथा आडम्बरों की भी कबीर ने उतनी ही तीव्रता से निन्दा की है—

कांकर पाथर जोरि के मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय ॥

निर्गुण भक्ति का समर्थन—कबीर भगवान् के निर्गुण या निराकार रूप के उपासक थे। अपने गुरु रामानन्द से कबीर ने राम नाम को ग्रहण तो किया पर उन्होंने राम सम्बन्धी सारी धारणा ही बदल डाली। उनका राम न तो दशरथपुत्र राम था और न विष्णु का अवतार। वह अजन्मा, अविनाशी और अमर ब्रह्म था जिसे हिन्दू राम के नाम से और मुसलमान रहीम के नाम से पुकारते थे और जिसे कबीर ने 'साहब' कहा था। कबीर राम को अपना पति तथा स्वयं को उनकी बहुरिया मानते थे—'राम मोर साईं, मैं राम की बहुरिया'। राम की प्रचलित धारणा में कबीर ने जो परिवर्तन किए उस पर इस्लाम के प्रेममार्गी सूफियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

कबीर ने निर्गुण उपासना की जो धारा भारत में बहायी, उसमें किसी प्रकार के भी धार्मिक कर्मकाण्ड का विधान न था। केवल भक्ति भावना के साथ ईश्वर के भजन और प्रार्थना पर बल दिया जाता था। कबीर की इस निर्गुण भक्ति का मार्ग सूफियों के प्रेममार्ग से बहुत कुछ मिलता जुलता है। कबीर का कहना था कि भगवान् के नाम का जप माला के मनका द्वारा नहीं, मनके मनका द्वारा करना चाहिये; ईश्वर को बाहर नहीं, अपने भीतर ढूंढना चाहिए। पत्थर की प्रतिमा का पूजन या मस्जिद में उच्च स्वर से चिल्लाना भी निरर्थक है। तीर्थ, कर्मकाण्ड, हज ये सब भी व्यर्थ हैं। उनकी दृष्टि में धर्म के बाह्य आडम्बरों की अपेक्षा ईश्वर के प्रति प्रेम, शुद्ध आचरण व शुद्ध विचार तथा सब जीवों के प्रति प्रेम और भ्रातृत्व का व्यवहार अधिक महत्त्वपूर्ण थे। कबीर हठयोग की साधना द्वारा भीतर के नाद को सुनने की भी शिक्षा देते हैं। अपने विचारों तथा उपदेशों को जनता तक पहुँचाने के लिए कबीर

ने कविता रची है। वे शिक्षित नहीं थे; केवल प्रेम का ढाई अक्षर पढ़कर पंडित हो गये थे। उन्हें सत्संग तथा पर्यटन से ज्ञान प्राप्त हुआ था। उनकी वाणी या कविताओं का संग्रह 'बीजक' कहलाता है, जिसमें कई रमैनियां, तथा साखियाँ सकलित हैं। उनकी कविताओं में भक्ति की तीव्र अनुभूति का दर्शन होता है। उनकी विरह-व्यथा का वर्णन बहुत ही हृदय-स्पर्शी है। कबीर कोरे सुधारक ही नहीं, क्रान्तिकारी थे। वे वर्णाश्रम-व्यवस्था के तीव्र आलोचक थे। सामाजिक समानता उनका आदर्श था। हिन्दू-समाज में प्रचलित जात-पांत तथा ऊँच-नीच के भेदभाव की उन्होंने तीव्र निन्दा की थी। उन्होंने निर्गुण प्रेम तथा भक्ति की जो धारा बहाई, वह उनके बाद भी जीवित रही और नानक, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास आदि सन्तों ने उसे आगे बढ़ाया।

नानक—कबीर की भाँति नानक ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन किया। उनका जन्म लाहौर से ३० मील दूर तलवंडी नामक ग्राम (आधुनिक ननकाना) में १४६९ ईसवी में हुआ था। शिक्षा प्राप्त कर नानक ने अपने बहनोई सुल्तानपुर के जयसिंह के यहाँ नौकरी करली। यहीं उनका धार्मिक जीवन प्रारम्भ हुआ। गृहस्थ जीवन बिताते हुए वे भगवान् की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने भी कबीर की तरह निर्गुण उपासना का प्रचार किया। ईश्वर की एकता तथा उसके प्रति अनन्य भक्ति, यही उनकी सबसे बड़ी शिक्षा थी। हिन्दूधर्म के बाह्य आडम्बरों, रूढ़ियों तथा जात-पाँत के भेद-भाव का उन्होंने खण्डन किया। हिन्दुओं और मुसलमानों में वे कोई भेद नहीं समझते थे। उनके शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बाह्य आडम्बरों का खण्डन किया और दोनों के बीच एकता पर बल दिया।

उन्होंने कहा—'बन्दे इक खुदाय के हिन्दू मुसलमान।
दावा राम रसूल कर, लड़दे बेईमान।।

नानक गृहस्थ जीवन को आध्यात्मिक उन्नति में बाधक नहीं मानते थे। उन्होंने देश भर में घूम घूम कर अपने विचारों का प्रचार किया। वे देश के बाहर भी मक्का तथा मदीना तक गए। गुरू नानक का रहन-सहन तथा उपासना का ढंग इस्लाम के सूफियों का सा था। उन्होंने जो मत चलाया, वह आगे जाकर सिक्ख धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ और दस गुरुओं के नेतृत्व में इसने महत्त्वपूर्ण उन्नति की। पंजाब में इस धर्म का आज भी भारी प्रभाव है।

चैतन्य—रामानन्द जब उत्तरी भारत में भक्ति मार्ग का प्रचार कर रहे थे, बंगाल में प्रसिद्ध वैष्णव सन्त चैतन्य (१४८५-१५३३ ईसवी) हुए। वे बंगाल के नदिया नगर में एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। २४ वर्ष

की अवस्था में उन्होंने संसार त्याग कर भक्ति-साधना का मार्ग अपनाया। वे विष्णु के कृष्णावतार के उपासक थे और भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम को मानव जीवन का परम लक्ष्य मानते थे। वे धर्म के बाह्य पक्ष पर कम बल देते थे और कीर्तन द्वारा राधाकृष्ण के प्रेम तथा भक्ति का प्रचार करते थे। चैतन्य ऊँच नीच के भेद-भाव में विश्वास नहीं करते थे। उनके शिष्यों में ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू व मुसलमान सभी थे। उनका प्रिय शिष्य हरिदास यवन था। उनके भक्तिविभोर जीवन का 'चैतन्य चरितामृत' में विशद वर्णन है।

नामदेव—नामदेव महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त थे, जिन्होंने वहाँ भक्ति मार्ग का प्रचार किया। डा० भण्डारकर के अनुसार वे १३ वीं शताब्दी में हुए। वे सन्त ज्ञानदेव के समकालीन थे, जो नाथपन्थ के अनुयायी थे। प्रारम्भ में नामदेव सगुण भक्ति के उपासक थे, किन्तु बाद में सन्त ज्ञानदेव के सम्पर्क से वे नाथ-पंथी योगियों के प्रभाव में आ गए। उन्होंने महाराष्ट्र में भक्ति की धारा बहायी। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान का कोई भेद न था। जिसे तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो वही उनकी निगाह में श्रेष्ठ था। वे कहते थे।

'हिन्दू अन्धा तुरकौ काना। दुवौं ते ज्ञानी सयाना॥
हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया जहाँ देहरा न मसीद॥

ज्ञानदेव तथा नामदेव के अतिरिक्त महाराष्ट्र में सन्त एकनाथ, तुकाराम और रामदास भी १३ वीं तथा १६ वीं शताब्दी के बीच हुए। इन सन्तों ने महाराष्ट्र में भक्ति की परम्परा को लोकप्रिय बनाया।

दादू—कबीर और नानक की निर्गुण भक्ति की परम्परा में सन्त दादू उल्लेखनीय हैं। उनका जन्म तो अहमदाबाद में हुआ था, पर उन्होंने अपना अधिकांश जीवन राजस्थान में नरैना नामक स्थान पर बिताया। कबीर की तरह उन्होंने भी मूर्ति-पूजा तथा धर्म के बाह्य कर्मकाण्ड तीर्थ, व्रत, अवतार आदि का खण्डन किया। वे जात-पांत के भेद-भाव के भी विरुद्ध थे। उन्होंने भक्ति द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार करने का उपदेश दिया। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के बीच प्रेम तथा भाई-चारे की भावना बढ़ाने पर भी जोर दिया। उन्होंने जो पन्थ चलाया वह दादूपंथ के नाम से प्रसिद्ध है।

रैदास—रैदास जाति से चमार थे और उन्होंने अपना जीवन काशी में बिताया। सांसारिक सुखों से विमुख हो वे एक सन्त बन गए। उनकी कविताओं में भगवान् के प्रति आत्म समर्पण का भाव झलकता है। वे सब प्राणियों के प्रति प्रेम का उपदेश देते थे। वे कहते थे—'सभी में हरि है और सब हरि में हैं।

मीराबाई—वैष्णवों की कृष्ण भक्ति-शाखा में मीराबाई का नाम

उल्लेखनीय है। वे चित्तौड़ के शीशोदिया कुल की रानी थीं, परन्तु कृष्ण भक्ति में मग्न हो उन्होंने संसार त्याग दिया। वे वृन्दावन भी गईं। उनके गीत कृष्ण की भक्ति भावना से ओत-प्रोत हैं। देखिए, 'मेरे तो गिरिधर गोपाल और दूसरा न कोई'। उनके गीतों में कृष्ण के प्रति शरणागति का भाव दीख पड़ता है। उनके सन्निमय गीतों में निहित विरह-वेदना हृदयस्पर्शी है।

आसाम के शंकरदेव भी प्रसिद्ध सन्त हुए जिन्होंने भक्ति-भावना का अपने प्रदेश में प्रचार किया। कृष्ण भक्ति शाखा के मन्त सूरदास हुए जिनका हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान है। उन्होंने बालकृष्ण की लीलाओं का अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन किया है। तुलसीदास रामभक्ति शाखा के प्रसिद्ध सन्त थे जिनकी कृति रामचरित-मानस राम भक्ति का अनुपम ग्रन्थ है।

भक्ति-आन्दोलन की विशेषताएं—भक्ति आन्दोलन के सन्तों की शिक्षाओं में कुछ सामान्य विशेषताएं मिलती हैं, जिनका हम यहां उल्लेख करेंगे।—

१. भक्ति आन्दोलन के प्रायः सभी सन्तों ने धर्म के बाह्य-आचार तथा आडम्बर का खण्डन किया और चरित्र तथा भाव की शुद्धता पर विशेष बल दिया। उनका मोक्ष के एक मात्र साधन भक्ति में अटूट विश्वास था। उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर की प्रेमपूर्वक शरणागति को सर्वोत्तम साधन बताया।

२. अधिकांश सन्तों ने ईश्वर की एकता पर बल दिया। यद्यपि उनमें कोई निर्गुण ब्रह्म का उपासक था तो कोई सगुण ईश्वर का। सगुण ईश्वर के उपासकों में भी कोई राम को अपना आराध्यदेव मानता था तो कोई कृष्ण को। परन्तु सभी सन्त किसी न किसी रूप में एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे। एकेश्वरवाद इन सन्तों की शिक्षाओं का मूलमन्त्र था। ईश्वर के सगुण तथा निर्गुण रूपों के उपासक होने पर भी इन सन्तों में एक दूसरे के अनुयायियों के प्रति उच्चकोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी।

३ भक्ति आन्दोलन के अधिकांश सन्त असाम्प्रदायिक थे। वे किसी भी सम्प्रदाय अथवा अन्ध-विश्वास के कट्टर अनुयायी न थे। उन्होंने अपनी साधना तथा चिन्तन की स्वतन्त्रता के द्वारा अपना आध्यात्मिक विकास किया था। कई सन्तों ने बहुदेववाद अथवा अनेक देवताओं की उपासना तथा मूर्ति-पूजा का खण्डन किया, जैसे, कबीर, नानक, दादू, आदि। उन्होंने पत्थर को पूजना निरर्थक बताया।

४. इन सन्तों ने जात-पांत और ऊंच-नीच के भेदभाव का खण्डन कर सामाजिक समता की घोषणा की। उच्च वर्गों के जात्यभिमान का उपहास कर इन सन्तों ने चमार, भंगी, नाई, दर्जी आदि निम्न जाति के लोगों

को धर्म में मंत्रदान से दीक्षित किया और उन्हें भक्ति मार्ग का अधिकारी बनाया। उन्होंने भक्ति के आधार पर सब की समानता का प्रतिपादन किया। "जाति-पाँति पूछे ना कोई, हरि को भजै सो हरि का होई"—यह भक्ति आन्दोलन का लोकप्रिय नारा था।

५. भक्ति आन्दोलन के कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच भेद की खाई को पाटने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम की मूलभूत एकता पर बल दिया। उनकी दृष्टि में राम और रहीम, कृष्ण और करीम तथा ईश्वर व अल्लाह में कोई अंतर न था। वस्तुतः भक्ति आन्दोलन समन्वय तथा हिन्दू-मुस्लिम की एकता की भावना से प्रेरित था।

६. इन सन्तों ने अपने विचार तथा शिक्षाओं का प्रचार करने के लिए सर्वसाधारण के बोलचाल की लोक-भाषाओं का प्रयोग किया। संस्कृत के विद्वान् होने पर भी कई सन्तों ने संस्कृत के स्थान पर लोक भाषाओं में ही अपनी रचनाएं की और उन्हीं के माध्यम से प्रचार किया।

७. भक्ति आन्दोलन मूलतः एक जन-आन्दोलन था। किसी प्रकार का राज्याश्रय इस आन्दोलन को प्राप्त नहीं था। इसके अधिकांश सन्त और नेता समाज के निम्न वर्ग से आए थे। इस आन्दोलन की प्रमुख विशेषता यह है कि इसने सन्तों व भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति का सन्देश समाज के सभी वर्गों—नीचे से नीचे वर्गों तक भी पहुँचाया।

८. भक्ति-आन्दोलन के कई सन्तों ने गृहस्थ जीवन में व्याप्त निवृत्ति अथवा संन्यास की प्रवृत्ति को कमजोर बनाने में सहायता दी। मोक्ष के लिए वे संन्यास को आवश्यक नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी कि गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी मनुष्य शुद्ध आचरण तथा भक्ति-साधना द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। यह उल्लेखनीय है कि कबीर, नानक, रैदास आदि सन्तों ने सांसारिक जीवन बिताते हुए भक्ति की साधना की थी।

भक्ति-आन्दोलन का महत्त्व तथा प्रभाव—भक्ति-आन्दोलन मध्यकालीन भारतीय इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह एक जन-आन्दोलन था, जिससे देश में धार्मिक चेतना की एक नई लहर उत्पन्न हुई। बौद्ध धर्म के उदय के बाद भारत में इतना व्यापक और लोकप्रिय कोई अन्य आन्दोलन नहीं हुआ था। इस आन्दोलन के महत्त्व के बारे में एक विद्वान् ने कहा है—'इस आन्दोलन का मूल्य और महत्त्व इस बात में है कि इसने मनुष्य की हृदयगत भावनाओं को पहचानते हुए उनको जगाने का एक सफल प्रयत्न धार्मिक तथा नैतिक आधारों पर किया। यही धार्मिक तथा नैतिक आधार वे तत्त्व हैं जिन्होंने इसे शक्ति प्रदान की और इसे घर-घर पहुँचाने में सफलता प्रदान की। यह हिन्दू धर्म की आत्मा द्वारा किया हुआ वह प्रयत्न कहा जा

सकता है जिसके द्वारा उसने अन्ध-विश्वास से जकड़ी हुई जाति को जगाने का प्रयत्न किया और वह जाति अपनी गहरी नींद से अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी हुई तथा उसने भक्ति के प्रकाश द्वारा अपने को मुक्त अनुभव किया।"

इस देश व्यापी आन्दोलन से चेतना की जो नई लहर पैदा हुई, उसने देश की सारी जनता के हृदय को स्पर्श किया। तुर्की शासन से पदाक्रान्त व निराश हुए हिन्दू समाज को इस आन्दोलन ने भगवान् की भक्ति का दृढ़ आलम्बन दिया, जिसके बल पर वह आक्रामक इस्लाम से अपनी रक्षा कर सका। इस आन्दोलन के कारण हिन्दू धर्म के बाह्य-आडम्बर तथा कर्म-काण्ड को भारी धक्का लगा, जिससे वे लड़खड़ा गए। हिन्दू धर्म के प्रचलित रूप में सुधार किए गए, जिससे एक बार फिर जागरूकता दिखाई देने लगी। लोगों का दृष्टिकोण व्यापक हुआ, धर्म के कर्मकाण्ड तथा पूजा पाठ की जटिलता कुछ कम हुई और जाति व्यवस्था में भी कुछ उदारता आई।

भक्ति-आन्दोलन के विविध सन्तों ने भक्ति के विचार का बहुत व्यापक तथा अत्यधिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। भारत के धार्मिक चिन्तन में यह उनकी प्रमुख स्थायी देन कही जा सकती है। इस आन्दोलन के समय से हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में एक मात्र भक्ति को ही मोक्ष का सर्व-श्रेष्ठ साधन माना जाने लगा।

भक्ति-आन्दोलन के सन्तों का देश के धार्मिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इन सन्तों के नामों पर कई धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना हुई जो आज तक जीवित है। इस प्रसंग में कबीर-पंथ, सिक्ख सम्प्रदाय, दादूपंथ आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

भक्ति-आन्दोलन का हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा। यद्यपि परम्परागत जाति-व्यवस्था तो इस आन्दोलन से नष्ट नहीं हुई, पर समाज के दबे-पिसे निम्न वर्ग के लोग सन्तों की प्रेरणा से अंगड़ाई लेकर उठ खड़े हुए। सन्तों की इस घोषणा ने कि 'भगवान् की दृष्टि में सब बराबर हैं तथा नीची जाति में जन्म होना मोक्ष के मार्ग में बाधक नहीं है'—उनके जीवन में आशा का संचार किया। कई नीची जाति में जन्मे व्यक्ति प्रतिष्ठित सन्त और सुधारक बने, जैसे, कबीर, रैदास, आदि। झूठे जात्यभिमान की भावना क्षीण हुई और व्यक्तित्व के महत्व तथा गौरव की प्रतिष्ठा हुई।

भक्ति-आन्दोलन के सन्तों ने निडर होकर हिन्दुत्व और इस्लाम की कुरीतियों तथा आडम्बरों का जो भण्डाफोड़ किया, उससे मध्यकाल में स्वतन्त्र बौद्धिक चिन्तन की प्रवृत्ति जागी। सूफी सन्तों के सम्पर्क ने भी इस प्रवृत्ति को जगाने में सहायता दी।

भक्ति-आन्दोलन के सन्तों ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने तथा दोनों की संस्कृतियों में समन्वय करने की

के प्रति जो उदारता दिखाई और उन्हें वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित किया, उसका कारण भी इस्लाम का प्रभाव नहीं था। उनसे काफी पहले ही उत्तरी भारत में वज्रयानी सिद्ध तथा नाथ-सम्प्रदाय के योगी धर्म के बाह्य आचार तथा जात-पाँत के भेदभाव के विरुद्ध विद्रोह कर चुके थे। उनकी परम्परा ने ही भक्ति आन्दोलन के संतों को इस संबंध में प्रेरणा दी। इसके अलावा, भक्ति परम्परा में भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम ही एकमात्र कसौटी होता है, उसमें जात-पात का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुत, भक्ति के आधार पर बने संबन्धों के सामने जात-पाँत के भेदभाव कैसे टिक सकते थे? भक्ति परम्परा में प्रचलित गुरु-पूजा को भी इस्लाम की देन बताना ठीक नहीं है। क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में गुरु-भक्ति का प्रतिपादन है। इसी प्रकार दक्षिण भारत के आलवार संतों पर भी इस्लाम का प्रभाव सिद्ध नहीं होता। यह सच है कि आलवारों ने धर्म के बाह्य-आचार तथा जात-पाँत के भेदभाव का विरोध किया था। परन्तु दक्षिण में आलवार संतों की परम्परा इस्लाम के जन्म से भी पुरानी है। कृष्णास्वामी आयंगर के अनुसार आलवार संतों की परम्परा का आरम्भ ईसा की तीसरी शताब्दी में हुआ और वह नवीं शताब्दी तक बराबर चलती रही। इसके अतिरिक्त आलवार संतों की कविता में जो रहस्यवादिता है वह विदेशी नहीं, विशुद्ध भारतीय है।

भक्ति आन्दोलन के संतों में कबीर और नानक अवश्य ऐसे थे जिन पर इस्लाम के विचारों का कुछ प्रभाव पड़ा। कबीर का शायद एक मुस्लिम जुलाहा परिवार में पालन-पोषण हुआ था और इसलिए उन पर मुस्लिम परम्परा का थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। कबीर तथा नानक के विचार भक्ति आन्दोलन के अन्य संत रामानुज, रामानन्द, चैतन्य आदि से कुछ भिन्न हैं। उन्होंने वेद तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था का खण्डन किया था और सगुण उपासना का विरोध किया था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारत में भक्ति-परम्परा की उत्पत्ति और विकास का वर्णन कीजिए।
२. भक्ति आन्दोलन की क्या विशेषताएँ थी? उसका भारत के मध्यकालीन इतिहास में क्या महत्त्व है?
३. सन्त रामानन्द की शिक्षाओं का उल्लेख कीजिए।
४. सन्त कबीर तथा उनकी शिक्षाओं के बारे में आप क्या जानते हैं?
५. निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए—
अ. रामानुज, ब. आलवार सन्त, स. नानक द. मीरा,

7

अकबर महान्: राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समन्वय

मुगल सम्राट् अकबर का भारत के इतिहास में ही नहीं, वरन् विश्व-इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह भारत के मुस्लिम शासकों में निस्सन्देह सबसे महान् था। उससे पूर्व भारत का मुस्लिम शासन एक साम्प्रदायिक राज्य था जिसमें उलेमाओं (इस्लाम के धर्मगुरु) तथा काजियों की प्रधानता थी और जिसमें बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को अपने न्यायोचित अधिकारों से वंचित रखा गया था। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच घृणा तथा विद्वेष की ऊँची दीवार खड़ी थी। मुसलमानों का हिन्दुओं के प्रति बड़ा ही कट्टर और अनुदार व्यवहार था। अकबर ने हिन्दुओं के प्रति बरती जाने वाली इस भेदभावपूर्ण नीति को समाप्त किया और उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। उसने हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा समानता के आधार पर एक सच्चे राष्ट्रीय राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। उसने हिन्दुओं तथा राजपूत राजाओं की मित्रता तथा सहयोग के आधार पर विशाल मुगल साम्राज्य की स्थापना की जो राजनीतिक एकता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। उसने अपनी हिन्दू प्रजा के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया। राष्ट्रीय एकता को पुष्ट बनाने के लिए उसने हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों के बीच समन्वय की चेष्टा की। उसके काल का साहित्य तथा कला इस समन्वय की प्रतीक हैं। इस्लामी संस्कृति में जो भी प्रशंसनीय गुण थे, वे अकबर के शासनकाल में ही साकार रूप ले सके। उसे अगर हम आधुनिक भारत के राष्ट्रीय एकीकरण का अग्रदूत कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

राजनीतिक और सांस्कृतिक समन्वय—अकबर समन्वयकारी था। भारत में सफल राजनेता अथवा लोकनायक वही हो सकता है जिसमें समन्वय करने की क्षमता हो। कारण स्पष्ट है। भारत विभिन्न प्रजातियों, संस्कृतियों और विचारधाराओं का एक विशाल देश है, अतः उनके बीच समन्वय करना उसकी मूलभूत आवश्यकता रही है। अकबर की महानता का यही रहस्य है कि उसने युग की इस मांग को समझा और हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों के बीच समन्वय करने का भरसक प्रयत्न किया। अकबर ने जीवन भर राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर समन्वय की जो विराट् चेष्टा की, वह भारतीय इतिहास का एक आकर्षक अध्याय है। उसने अपनी नीति तथा व्यवहार में मानवीयता और उदारता का समावेश कर भारतीय इतिहास में नये युग का सूत्रपात किया।

अकबर की प्रेरणा के स्रोत—अकबर को समन्वय की नीति अपनाने के लिए कई दिशाओं से प्रेरणा मिली। जिन प्रभावों ने अकबर को अपनी हिन्दू प्रजा के साथ उदारतापूर्ण मानवीय नीति अपनाने की प्रेरणा दी उनका ज्ञान आवश्यक है।

अकबर को प्रभावित करने वाले व्यक्तित्व-अकबर का पिता हुमायूँ उदार प्रकृति का था। अकबर की माँ ईरान की थी और वह शिया मत की अनुयायी थी। अकबर का जन्म भी अमरकोट के एक हिन्दू सरदार के घर हुआ था जिसने उसके पिता हुमायूँ को शरण दी थी। अकबर पर बाल्यकाल में उसके संरक्षक बैरामखाँ के उदार विचारों का भी प्रभाव पड़ा था जो शिया था। अकबर के शिक्षक अब्दुल लतीफ ने भी उसे बचपन में 'सुलह-कुल' अर्थात् शान्ति रखने की नीति का पाठ पढ़ाया था। बड़े होने पर अकबर शेख मुबारक, अबुल फजल और फैजी के सम्पर्क में आया। इन सूफी विद्वानों ने अकबर को विशाल-हृदय तथा उदार बनाने की निरन्तर चेष्टा की। ये व्यक्ति बड़े ही विद्वान, न्यायप्रिय, दार्शनिक और धार्मिक प्रकृति के थे।

युग का धार्मिक जागरण—अकबर पर अपने युग के उस धार्मिक जागरण का भी प्रभाव पड़ा जो कबीर, नानक तथा दादू जैसे सन्तों के नेतृत्व में सारे भारत में फैल रहा था और जिसका ध्येय हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच कटुता कम कर एकता स्थापित करना था। सूफी सन्तों की उदार शिक्षाएँ भी अकबर को प्रभावित किये बिना न रहीं। यही नहीं, सोलहवीं शताब्दी ईसवी में इस्लाम में भी उलेमाओं की कट्टरता तथा प्रभुत्व के विरुद्ध कुछ आन्दोलन चल रहे थे। इनमें जौनपुर के सैयद मुहम्मद द्वारा सञ्चालित 'महदवी' आन्दोलन और बयाजीद अन्सारी द्वारा चलाया गया 'रौशनी' आन्दोलन विशेष उल्लेखनीय हैं। सम्भवत: अकबर पर इन आन्दोलनों का भी प्रभाव पड़ा।

अकबर स्वभावत: विचारशील तथा न्याय-प्रिय व्यक्ति था। उसका हृदय विशाल था और वह मुल्लाओं की कट्टरता को पसन्द नहीं करता था। उसकी मान्यता थी कि जिस देश पर शासन करने के लिए ईश्वर ने उसे भेजा है, वहाँ के निवासियों के प्रति अन्याय करना स्वयं ईश्वर के प्रति अपराध है। जब अकबर बीस वर्ष का हुआ, उसे एक अद्भुत आध्यात्मिक अनुभूति हुई जिसका उसने इस प्रकार वर्णन किया है– 'बीस वर्ष की आयु पूरी करने पर मुझे अपने अन्दर कुछ कटुता का अनुभव होने लगा और किसी आध्यात्मिक समाधान के अभाव से मेरी आत्मा तड़पने लगी।" इस आध्यात्मिक अनुभूति ने अकबर को शासन-नीति में उदारता तथा मानवीयता का समावेश कर दिया। अब अकबर अपने साम्राज्य में प्रचलित सभी क्रूर तथा अमानवीय प्रथाओं को बन्द करने की ओर प्रवृत्त हुआ।

राजनीतिक प्रेरणा—अकबर ने हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच समन्वय की जो नीति अपनायी, उसकी प्रेरणा राजनीति से भी आयी थी। मुगलों की पठानों से पटती नहीं थी, क्योंकि पठान अब भी मुगल साम्राज्य को उखाड़ फेंकना चाहते थे। अकबर को यह भी ज्ञात था कि मुस्लिम अमीरों के गुट किस प्रकार सल्तनत काल में सुल्तानों को अपने हाथों नाच नचाते रहे थे। अतः अकबर ने पठानों की शक्ति कम करने के उद्देश्य से राजपूतों से मित्रता की नीति अपनाई। अकबर को अपने शासन काल के प्रारम्भ में अपने कई सरदारों तथा अमीरों के विद्रोह का सामना करना पड़ा था। अत. वह मुस्लिम अमीरों तथा अधिकारियों पर नियन्त्रण रखने के लिये राजपूतों का सहयोग चाहता था। अकबर, बीरबल, टोडरमल तथा राजा भगवानदास जैसे हिन्दू अधिकारियों की स्वामिभक्ति तथा विश्वास-पात्रता से बहुत प्रभावित हुआ था। दूसरी ओर बैराम खां जैसा विश्वासपात्र सेवक भी उसके विरुद्ध विद्रोह कर चुका था।

इसके अतिरिक्त अकबर एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। उसने शीघ्र ही इस बात को समझ लिया कि भारत में बहुसंख्यक हिन्दुओं तथा वीर राजपूतों के सहयोग के बिना मुगल साम्राज्य टिक नहीं सकता। अपनी बहुसंख्यक प्रजा पर अत्याचार करके लम्बे समय तक शासन चला पाना सम्भव नहीं है। दिल्ली में मुस्लिम प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद भी राजपूतों के राज्य सारे भारत में फैले हुए थे। राजपूताने के राजपूत राजाओं की सहायता बिना गुजरात या दक्षिण भारत की विजय सम्भव न थी। राजपूत राजाओं के सहयोग व सद्भावना के बिना न तो स्थायी विशाल साम्राज्य का निर्माण ही सम्भव था और न उसकी आर्थिक दृढ़ता ही।

राष्ट्रीय शासक—भारतीय इतिहास में अकबर एक राष्ट्रीय शासक के रूप में प्रसिद्ध है। उसने हिन्दू-मुस्लिम समानता तथा एकता के आधार पर एक राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। भारतीय इतिहास में उसकी महानता का यही रहस्य है। उससे पूर्व भारत का मुस्लिम राज्य एक कट्टर साम्प्रदायिक राज्य था जिसमें बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा न्यायोचित अधिकारों से तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वाधीनता से वंचित रही थी। इस राज्य के हिन्दू नागरिक 'जिम्मी' कहलाते थे, जिन्हें मुसलमानों के समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त नहीं थे। यही नहीं, उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए राज्य को 'जजिया' नामक एक कर भी देना पड़ता था। अकबर ने इस साम्प्रदायिक शासन को समाप्त कर सिद्धान्तः धर्म-निरपेक्ष शासन की नींव डाली। हिन्दुओं के प्रति मुस्लिम शासन में बरती जाने वाली भेद-भाव पूर्ण नीति को समाप्त कर उसने एक नवीन नीति अपनायी। उसने हिन्दुओं को पूर्ण धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्रदान करदी। युद्ध-बन्दियों को गुलाम बनाने की

जो अमानवीय तथा क्रूर प्रथा प्रचलित थी, अकबर ने उसे बन्द करवा दिया। १५६३ ई० में अकबर ने अपने साम्राज्य में सर्वत्र हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर लगाये जाने वाले कर को समाप्त कर दिया। उसने यह अनुभव किया कि ईश्वर आराधना के लिए तीर्थ यात्रा करने वालों से कर वसूल करना ईश्वर के प्रति अपराध है। अगले वर्ष १५६४ ई० में अकबर ने हिन्दू प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता देने की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। मुस्लिम शासन में हिन्दू प्रजा से सुरक्षा के नाम पर 'जजिया' नामक कर लिया जाता रहा था। यह कर हिन्दुओं पर अधिक भार तो था ही, सदा उन्हें यह याद दिलाता रहता था कि उनके साथ कैसा ओछा और भेद-भाव पूर्ण व्यवहार किया जा रहा है। अकबर ने हिन्दुओं के साथ इस भेद-भाव की नीति को समाप्त करने का निश्चय किया। उसने राजकोष की आय को भारी हानि पहुँचाते हुए भी जजिया कर को समाप्त कर दिया। अकबर का यह कार्य क्रान्तिकारी कदम था और हिन्दू-मुस्लिम एकता की उसकी योजना की आधार शिला थी। इस सुधार द्वारा देश की बहुसंख्यक जनता की सद्भावना और विश्वास सम्राट् को मिल सका। हिन्दुओं के बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन का भी उसने निषेध कर दिया। हिन्दुओं को मन्दिर बनवाने तथा अपनी इच्छानुसार पूजा-पाठ करने का भी अधिकार मिल गया। अकबर ने योग्यता के आधार पर हिन्दुओं को सरकार में ऊँचे पद भी प्रदान किए। राजा भगवानदास, मानसिंह, टोडरमल और बीरबल शासन के बहुत ऊँचे पदों पर नियुक्त थे और वे सभी अकबर के बड़े विश्वासपात्र थे। राजकीय सेवाओं में हिन्दुओं के प्रति भेदभाव समाप्त कर दिया गया। हिन्दुओं ने भी अकबर की इस नीति का हृदय से स्वागत किया, क्योंकि उसके ये विचार भारत की सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल थे। रालिंसन का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि 'वह अपनी प्रजाति का प्रथम पुरुष था जो भारत की एकता के स्वप्न से अभिभूत था, उसके अखण्ड भारत में प्रत्येक मुसलमान, ब्राह्मण, जैन, ईसाई तथा पारसी कन्धे से कन्धा मिला कर कानून की दृष्टि में बराबरी के आधार पर रह सकता था।'

अकबर ने हिन्दू समाज में प्रचलित बुराइयों को रोककर हिन्दुओं को लाभ पहुँचाने का भी प्रयत्न किया। उसने सती प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया। किसी भी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती होने पर विवश करना कानून की दृष्टि में अपराध घोषित किया गया। उसने बाल विवाह तथा दहेज प्रथा को भी रोकने का प्रयत्न किया। उसने विधवा-विवाह को भी कानूनी करार दिया। अकबर द्वारा किये गये ये सुधार सम्राट् की हिन्दुओं के प्रति सद्भावना के प्रतीक हैं।

राजनीतिक एकता—अकबर ने न केवल उत्तरी भारत, प्रत्युत दक्षिणी भारत के भी काफी भाग पर विजय प्राप्त कर भारत को राजनीतिक

एकता का आधार तैयार किया। उसकी साम्राज्य विस्तार की नीति पु राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित थी। वह सारे देश का सम्राट् बनना चाहता था। अलाउद्दीन खिलजी या औरंगजेब की तरह उसकी विजय के पीछे धर्मान्धता या इस्लाम के प्रसार की भावना न थी। डा० त्रिपाठी के अनुसार 'अकबर का आदर्श एक विश्वव्यापी साम्राज्य था, एकदेशीय अथवा राष्ट्रीय नहीं'। सचमुच अकबर सार्वभौमिक राजत्व की भावना से प्रेरित था।

राजपूत नीति—मुगल साम्राज्य को स्थायी और लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से अकबर ने देश के प्रमुख राजनीतिक तत्वों का सहयोग प्राप्त करने का निश्चय किया। राजपूत हिन्दू समाज के सैनिक और राजनीतिक नेता थे। अकबर ने उनके प्रति मित्रता की जो नीति अपनायी, वह उसकी राजनीतिक सूझबूझ की सूचक है। राजपूतों का विश्वास प्राप्त करने के उद्देश्य से अकबर ने राजपूत राजाओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। १५६२ ई० में उसने आमेर (जयपुर) के कछवाहा राजा भारमल की पुत्री से विवाह किया और वहाँ के राजकुमार भगवानदास और मानसिंह को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। अकबर ने अन्य राजपूत राजाओं से भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। बीकानेर की राजकुमारी से उसने विवाह किया और अपने पुत्र सलीम का विवाह उसने जयपुर की राजकुमारी से किया। इन वैवाहिक संबन्धों की नीति के फलस्वरूप राजपूत राजा उसके साम्राज्य के शत्रु न रहकर उसके सहायक बन गए। डा० बेनीप्रसाद ने ठीक ही कहा है कि-'यह वैवाहिक सन्धि भारतीय राजनीति के एक नवीन उषा-काल की प्रतीक थी। उसने देश को प्रसिद्ध सम्राटों की वंश-परम्परा प्रदान की। इसने चार पीढ़ियों तक मुगल सम्राटों को कुछ महान् सेनापतियों और कूटनीतिज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध करायीं।' अकबर ने अपने अन्तःपुर की इन हिन्दू रानियों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दी।

अकबर ने राजपूत राजाओं के प्रति जो विशेष उदारता दिखायी, उसके परिणामस्वरूप आमेर, मारवाड़, बीकानेर और जैसलमेर ने बिना सामना किए ही मुगल सम्राट् की अधीनता स्वीकार करली। अन्य भारत की अनेक रियासतों ने भी उनका अनुसरण किया। इन राजाओं को मुगल सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर लेने पर अपनी रियासतों का शासन चलाने की स्वतन्त्रता दी गयी। यही नहीं, राजाओं को मुगल दरबार में मनसबदार नियुक्त कर आदर दिया गया। महाराजा मानसिंह को अकबर ने शाहजादों के समान उच्च पद प्रदान किया। अकबर ने उन राजपूत राजाओं के साथ भी जिन्होंने उससे युद्ध मोल लिया, विजय के बाद वैसी ही उदारता का व्यवहार किया। इस दूरदर्शितापूर्ण नीति का परिणाम मुगल-साम्राज्य के लिए बहुत हितकर हुआ। जो राजपूत पिछले ३०० वर्षों से [illegible]

थे, अब अकबर के स्वामि-भक्त बन गए। वे मुगल साम्राज्य के प्रबल समर्थक ही नहीं, वरन् इस साम्राज्य के विस्तार के प्रभावकारी साधन बन गए। उनके हार्दिक सहयोग से मुगल साम्राज्य को स्थायित्व मिल सका और देश में एक अपूर्व समृद्धि तथा सांस्कृतिक उन्नति का युग प्रारम्भ हुआ। इस नीति ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय में भी महत्वपूर्ण योग दिया।

शासन व्यवस्था—अकबर को सच्चे अर्थों में मुगल साम्राज्य का संस्थापक माना जाता है। उसने विजयों द्वारा साम्राज्य का निर्माण ही नहीं किया, वरन् उसके लिए सुन्दर और योग्य शासन-व्यवस्था भी संगठित की। शासन-व्यवस्था मुस्लिम राजनीति के सिद्धान्तों और भारत की परम्परागत व्यवस्था के समन्वय पर आधारित थी। प्राचीन काल से भारत में ग्राम-संस्थाओं और व्यापारियों तथा शिल्पियों के आर्थिक संगठनों (श्रेणी व निगम) का बहुत महत्व था। पठान शासन काल में इन स्थानीय शासन की संस्थाओं को नष्ट नहीं किया गया था और मुगल काल में अकबर ने भी इन परम्परागत स्थानीय संस्थाओं के कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया। केन्द्र में सुदृढ़ सरकार की स्थापना के साथ-साथ उसने देश के बड़े भाग पर एक-सी राज-व्यवस्था, न्यायव्यवस्था, वित्त-प्रणाली तथा मुद्रा-व्यवस्था लागू की। सारे देश के प्रशासन के लिए एक केन्द्रीय सेवा तथा एक राजभाषा (फारसी) लागू की। सारे देश में समान शासन-व्यवस्था लागू होने के कारण राजनीतिक एकता की भावना पुष्ट हुई। *अकबर ने प्रशासन का जो ढाँचा तैयार किया, वह सम्पूर्ण मुगल* काल में चलता रहा। यही नहीं, उस व्यवस्था के अनेक तत्व तो अंग्रेजी शासन में भी चलते रहे।

सांस्कृतिक समन्वय

अकबर ने संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय का निरन्तर प्रयास किया, क्योंकि वह भारत में राष्ट्रीय एकता की स्थापना के महान् उद्देश्य से प्रेरित था। धर्म, साहित्य तथा कला के क्षेत्रों में समन्वय के लिए किए गए अकबर के प्रयासों का हम नीचे उल्लेख करेंगे—

धर्म—अकबर धर्म के सच्चे रहस्य को जानने के लिए व्यग्र रहता था। बीस वर्ष की छोटी आयु में ही वह जीवन का आध्यात्मिक समाधान ढूंढने के लिए बेचैनी अनुभव करने लगा था। समकालीन लेखक अबुलफजल और बदायूँनी के अनुसार कभी कभी अकबर समाधि में लीन हो जाया करता था और उस ध्यानावस्था में उसे सत्य की अनुभूति हुआ करती थी। स्वभाव से अकबर किसी भी प्रकार की धर्मान्धता तथा कट्टरता से कोसों दूर था।

इबादत खाने की स्थापना—धार्मिक चर्चा के लिए सन् १५७५ ई० में अकबर ने फतेहपुर सीकरी में एक इबादत खाना (पूजा गृह) बनवाया। इसमें प्रत्येक बृहस्पतिवार की संध्या को धर्म के सम्बन्ध में विचार-विमर्श

हुआ करता था। प्रारम्भ में इस चर्चा में केवल इस्लाम के विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वान् ही भाग लेते थे। किन्तु इन मुस्लिम विद्वानों तथा मुल्लाओं का व्यवहार बहुत ही कट्टरतापूर्ण होता था जिससे अकबर उनसे घृणा करने लगा। उनके व्यवहार से इस्लाम में उसका विश्वास हिल गया। अब उसने इबादत खाने के द्वार दूसरे धर्मों के लिए भी खोल दिए और हिन्दू, जैन, पारसी तथा ईसाई धर्म-गुरुओं को भी इस धार्मिक चर्चा में निमन्त्रित किया जाने लगा। धर्म-सम्बन्धी इस विचार-गोष्ठी में अकबर स्वयं सभापति का आसन ग्रहण करता था। विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों तथा विचारों को सुनते सुनते उसका दृष्टिकोण बहुत ही व्यापक और उदार बन गया। वह विश्वास करने लगा कि "सभी धर्मों में सत्य विद्यमान है और यह समझना भूल है कि सत्य सिर्फ इस्लाम धर्म तक ही सीमित है, जो दूसरे धर्मों की अपेक्षा नया धर्म है और जिसकी आयु केवल हजार वर्ष की ही होगी।"

धार्मिक सहिष्णुता—अकबर ने सभी धर्मों के प्रति आदर प्रदर्शित किया और उनके तुलनात्मक अध्ययन में रुचि ली। ईरान के सम्राट् अब्बुस-सफवी को लिखे पत्र में अकबर ने अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया था। उसने लिखा था—'तरह तरह के धार्मिक सम्प्रदाय दैवी धरोहर हैं और खुद परमेश्वर ने ही उन्हें हमारे हाथों में सौंपा है। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन सबको प्यार करें। बादशाह भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं। अतः उन्हें इस महान् सिद्धान्त को कभी नहीं भूलना चाहिए।' जीवन पर्यन्त अकबर ने इस सिद्धान्त पर अमल किया।

अकबर और जैनधर्म—अकबर ने जैन धर्म के प्रति आदर प्रदर्शित किया और उसका ज्ञान प्राप्त किया। उसने गुजरात से जैन गुरु हरि विजय सूरी को दरबार में निमन्त्रित किया। उनके ज्ञान तथा साधु स्वभाव से वह बहुत प्रभावित हुआ और उसने उन्हें 'जगद्गुरु' की उपाधि दी। अकबर ने अन्य जैन आचार्यों से भी भेंट की, जिनमें जिनचन्द्र सूरी विशेष उल्लेखनीय हैं। जैन धर्म के उपदेशों से अकबर बहुत प्रभावित हुआ। अहिंसा के जैन सिद्धान्त का उस पर विशेष प्रभाव पड़ा। उसने शिकार खेलना और मांस खाना लगभग बन्द ही कर दिया। उसने वर्ष के कई दिनों पर पशु-पक्षियों को मारने की भी मनाही कर दी। उसने गौ-हत्या पर रोक लगा दी।

अकबर और हिन्दू धर्म—अन्य धर्मों की अपेक्षा हिन्दू धर्म का अकबर पर विशेष प्रभाव पड़ा। अकबर अनेक हिन्दू सन्तों तथा विद्वानों के सम्पर्क में आया, जिनमें पुरुषोत्तम तथा देवी प्रमुख थे। पुरुषोत्तम तथा देवी रात्रि के समय सम्राट् के शयनकक्ष के झरोखों के समीप उपस्थित हो उसे हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान कराते थे। अकबर ने हिन्दू धर्म के अनेक विश्वासों तथा मान्यताओं को ग्रहण कर लिया। वह पुनर्जन्म तथा कर्म के हिन्दू सिद्धान्तों में

विश्वास करने लगा। उसने हिन्दुओं के रहन-सहन तथा रीति-रिवाज़ की बहुत सी बातें भी अपना ली। वह कभी कभी अपने मस्तक पर तिलक लगाता था। हिन्दू राजाओं की तरह वह प्रतिदिन प्रात: अपनी प्रजा को झरोखा-दर्शन देता था। जन्म दिन पर वह तुलादान भी करवाता था। अपनी माँ की मृत्यु पर उसने हिन्दुओं की भांति मुंडन कराकर शोक मनाया था। दीपावली, रक्षा-बन्धन, दशहरा आदि हिन्दू त्यौहारों को भी वह बड़े उत्साहपूर्वक मनवाता था। वह इस्लाम की तरह हिन्दू धर्म से भी प्रेम करने लगा था।

अकबर और पारसी धर्म—अकबर ने पारसी धर्म के प्रति भी सम्मान दिखाया। उसने पारसी गुरु दस्तूरजी मेहरजी राणा को दरबार में निमन्त्रित किया और पारसी धर्म के सिद्धान्तों का उनसे ज्ञान प्राप्त किया। पारसी धर्म से प्रभावित हो अकबर सूर्य, अग्नि तथा प्रकाश की उपासना करने लगा। उसके महलों में प्रज्वलित अग्नि रखी जाने लगी।

अकबर और ईसाई धर्म—अकबर ने ईसाई धर्म का भी ज्ञान प्राप्त किया। उसने गोआ से ईसाई मिशनरियों को तीन बार बुलाया। इन ईसाई पादरियों का उसने यथेष्ट सम्मान किया और उन्हें हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। आगरे तथा लाहौर में उन्हें गिरजाघर बनाने की आज्ञा दे दी। यही नहीं, अकबर ने उन्हें सार्वजनिकरूप से धर्म-प्रचार करने की भी आज्ञा दे दी। कभी कभी वह स्वयं भी ईसाई गिर्जों में आया करता था।

इस्लाम का धार्मिक नेता बनना—अकबर को मुस्लिम उलेमाओं तथा मुल्लाओं की कट्टरता पसन्द न थी। अत: वह उनके प्रभाव को कम करना चाहता था। इस उद्देश्य से उसने स्वयं भारतीय मुसलमानों का धार्मिक नेता बनने का निश्चय किया। १५७९ ई० में उसने खुद साम्राज्य के प्रमुख इमाम के रूप में मस्जिद में खुतबा पढ़ा। तभी शेख मुबारक ने एक प्रपत्र पेश किया जिस पर राज्य के प्रमुख उलेमाओं के हस्ताक्षर किए हुए थे। इस प्रपत्र में यह घोषणा की गई कि 'सम्राट् सब धार्मिक नेताओं (मुजाहिदों) [illegible] बड़ा है। जिन धार्मिक प्रश्नों पर धार्मिक नेताओं में मतभेद हो, उन पर सम्राट का निर्णय सबको मान्य होगा। सम्राट् को देश के हित में कोई नई आज्ञा जारी करने का भी अधिकार होगा, बशर्ते कि वह कुरान के विरुद्ध न हो। जो सम्राट् के निर्णय को नहीं मानेगा, उसे दण्ड देना उचित होगा।' इस प्रपत्र द्वारा अकबर अपनी मुस्लिम प्रजा का धार्मिक नेता बन गया। उसे अब यह अधिकार था कि वह धार्मिक मामलों में विद्यमान विरोधी मतों में से किसी भी एक मत को स्वीकार करले।

तौहीदे इलाही (दैवी एकेश्वरवाद) विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को एक दूसरे के प्रति संकीर्णतावश घृणा फैलाते देख कर अकबर का उदार हृदय दु:खी हुए बिना न रह सका। उसने इस धार्मिक विद्वेष को शान्त करने के

उद्देश्य से विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय का प्रयत्न किया। सब धर्मों के श्रेष्ठ सिद्धान्त ग्रहण कर उसने एक व्यापक धर्म बनाने की सोची। १५८२ ई० में अकबर ने अपने प्रमुख अधिकारियों तथा दरबारियों के सम्मुख 'दीने-इलाही' नामक नये मत की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की—'एक साम्राज्य में, जिसका एक शासक हो, यह अच्छा नहीं है कि प्रजा एक दूसरे के विरोधी मतों में बँटी रहे। अतः हमें उन सबको मिलाकर एक करना चाहिए। किन्तु उन्हें एकता में इस भांति समन्वित करना चाहिये कि भिन्न रहते हुए भी वे एक रहें'।

दीने-इलाही नामक इस नये मत की योजना धार्मिक सहनशीलता (सुलह-कुल) के सिद्धान्त पर आधारित थी। इसकी रूपरेखा के पीछे धार्मिक व राजनीतिक दोनों प्रकार की भावना थी। इसका उद्देश्य था हिन्दू और मुसलमानों में स्थायी एकता का निर्माण। इस नये धर्म का नाम था तौहीदे-इलाही अर्थात् दैवी एकेश्वरवाद। यह सम्प्रदाय ईश्वर की एकता में विश्वास करता था और अकबर को उसका पैगम्बर मानता था। इसमें सब धर्मों के अच्छे सिद्धान्त लिए गए थे। विशेष रूप से इस पर पारसी, हिन्दुत्व और इस्लाम के सूफी मत का प्रभाव था। इसमें दार्शनिकता, प्रकृति-पूजा और योग का मिश्रण था। इसमें सूर्य तथा अग्नि की पूजा का विधान था। इसका आधार विचारपूर्ण था और इसमें कट्टरता का अभाव था। इसमें किसी प्रकार के भी देवी-देवताओं की व्यवस्था न थी। परन्तु इसमें कुछ बाहरी कर्मकाण्ड भी शामिल कर दिये गये थे, जैसे सिजदा करना, सम्राट् के पैरों पर पगड़ी रखना, एक दूसरे से 'अल्लाहो अकबर' (ईश्वर ही महान है) तथा 'जल्ले जलालहू' कहकर परस्पर अभिवादन करना, आदि। इस सम्प्रदाय के सदस्यों को मृत्यु से पूर्व ही मृत्यु-भोज देना पड़ता था। उन्हें अपनी वर्षगांठ पर दावत देनी पड़ती थी और दान भी करना पड़ता था। मांस-भक्षण भी अच्छा नहीं माना जाता था। इस सम्प्रदाय के सदस्यों से आशा की जाती थी कि वे सम्राट् के लिये जीवन, धन, इज्जत, तथा धर्म तक का बलिदान करने को तत्पर रहेंगे। इन कर्मकाण्डों का समावेश कर देने से दीने-इलाही का आध्यात्मिक स्तर गिर गया था।

दीने-इलाही के अनुयायियों की संख्या नहीं बढ़ी। साम्राज्य के अधिकांश विशिष्ट पुरुष इसमें शामिल न हुए। प्रतिष्ठित हिन्दुओं में से
　　ने ही इस धर्म की दीक्षा ली थी। अकबर ने इसका प्रचार
　　दबाव या शक्ति का प्रयोग नहीं किया। उसकी मृत्यु के साथ
　　लुप्त हो गया। यह धर्म लोकप्रिय न हो सका, क्योंकि धर्मगुरू
　　कोई भी धर्म लोगों पर अधिक प्रभाव नहीं डालता।
　　विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने की दिशा

मे अकबर का एक परीक्षण था। राष्ट्रीय आदर्शवाद तथा सुलह-कुल (सहन-शीलता) की जो नीति अकबर ने अपनायी थी, दीने-इलाही उस नीति का स्वाभाविक तथा अनिवार्य परिणाम था। स्मिथ आदि कुछ विद्वानों ने इस धर्म की स्थापना के लिये अकबर की निन्दा की है और इसे सम्राट् की मूर्खता का प्रतीक बताया है। समकालीन लेखक बदाऊँनी ने भी अकबर पर यह आरोप लगाया है कि उसने दीने इलाही की स्थापना के बाद इस्लाम का दमन किया, मस्जिदों को अस्तबल में परिणत कर दिया और नमाज तथा रोजे पर कई प्रतिबन्ध लगा दिये। यह आलोचना निराधार है। अकबर सहिष्णु था और उसने इस्लाम या किसी भी धर्म का कभी दमन नहीं किया। बदाऊँनी एक धर्मान्ध कठमुल्ला था जो अकबर से उसकी हिन्दुओं के प्रति उदार नीति के कारण चिढ़ा हुआ था। पुर्तगाली पादरियों ने भी अकबर पर धर्म के बारे में पाखण्डी होने का आरोप लगाया है। पर यह आरोप भी मिथ्या है। वास्तव मे जब इन ईसाई पादरियों की अकबर को ईसाई बनाने की इच्छा पूरी न हुई, तो वे अकबर के कटु आलोचक हो गये।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी का मत है कि दीने-इलाही कोई धर्म नहीं, बल्कि एक संस्था या पद्धति थी। इसका जन्म उन लोगों को एकत्रित करने की इच्छा के कारण हुआ जो अकबर को आध्यात्मिक गुरु मानने को तत्पर थे। दीने-इलाही ने यह आदर्श रखा कि सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मतभेदों के बावजूद भी मनुष्य ईश्वर और सम्राट् की सेवा के लिए संगठित हो सकते हैं।

सब प्रकार की कमियों के बावजूद भी दीने-इलाही विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय करने की दिशा में एक प्रशंसनीय प्रयास था। यद्यपि यह मत अकबर की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया, किन्तु इसकी मूल में जो उदार भावना थी वह देश की लड़ती हुई जातियों तथा विचार धाराओं पर स्थायी प्रभाव डाले बिना न रही।

साहित्य—मध्य कालीन इतिहास में अकबर का काल साहित्य और कला के विकास के लिए विशेष उल्लेखनीय है। शान्ति, सुरक्षा तथा आर्थिक समृद्धि का जो वातावरण अकबर के राज्य-काल मे बना, वह साहित्य के विकास मे विशेष सहायक हुआ। अकबर के काल मे फारसी भाषा का जो साहित्य रचा गया उसे तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—(१) इतिहास की रचनाएँ, (२) काव्य-ग्रन्थ, (३) अन्यभाषाओं से फारसी में अनूदित ग्रन्थ।

इतिहास ग्रन्थ—इतिहास के प्रति अकबर का अगाध प्रेम था। उसकी प्रेरणा से उसके समय में उसके काल का तथा उससे पहले का इति-हास खोज-खोज कर लिखा गया। उसके समय की प्रसिद्ध ऐतिहासिक रचनाओं में अबुल फ़जल का 'अकबरनामा' तथा 'आईने-अकबरी', निजामुद्दीन अहमद

इनमें सबसे प्रमुख अब्दुर्रहीम खानखाना हैं। फारसी के साथ-साथ उन्होंने हिन्दी में भी कविताएँ रचीं। वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि थे। उनके द्वारा रचित दोहों और पदों को हिन्दी साहित्य में आदरणीय स्थान प्राप्त है। दूसरे मुसलमान हिन्दी-कवि रसखान थे। वे मुस्लिम होते हुए भी कृष्ण के परम भक्त थे। उन के पदों में वृन्दावन के कुञ्जों में की गई श्रीकृष्ण की लीला का आकर्षक वर्णन है। अकबर हिन्दी-साहित्य का प्रेमी था और उसने बहुत से हिन्दी कवियों को संरक्षण दिया था। अकबर के दरबारी हिन्दी कवियों में नरहरि का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'रुक्मिणी-मंगल', 'छप्पयनीति', 'कवित्त-संग्रह' आदि अनेक पुस्तकों की रचना की। अकबर के दरबार के अन्य हिन्दी कवियों में गंग, टोडरमल और बीरबल उल्लेखनीय हैं। अकबर स्वयं हिन्दी कविता से प्रेम करता था। कहा जाता है कि उसने स्वयं भी कुछ हिन्दी पद्य रचे थे।

स्थापत्य कला—कला के क्षेत्र में सम्राट् अकबर की समन्वयकारी नीति का सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन हुआ। कला-समालोचक फर्गुसन कहते हैं—'किन्तु अकबर के चरित्र में कोई चीज इतनी उल्लेखनीय नहीं है, जितनी कि सहिष्णुता, जिससे उसके सभी कार्य प्रभावित थे। उसके हृदय में हिन्दू प्रजा के लिए वैसा ही सच्चा प्रेम और प्रशंसा थी, जैसी कि उसे अपने धर्मावलम्बियों के प्रति थी। वह उनकी कलाओं को उतना ही चाहता था, जितना कि अपने लोगों की कला को। फलस्वरूप उसकी सभी कृतियों में दोनों शैलियों का सामञ्जस्य हुआ।'" मुगल स्थापत्य कला का वास्तविक विकास सम्राट् अकबर के काल से ही प्रारम्भ होता है। उसने हिन्दू और मुस्लिम कला-शैलियों का समन्वय कर एक भारतीय कला-शैली को जन्म दिया। उसके काल में बनी इमारतें इस मिश्रित शैली की सुन्दर प्रतीक हैं। वह एक महान् भवन-निर्माता तथा कला-प्रेमी था। अबुल फजल ने उनके बारे में लिखा है कि सम्राट् सुन्दर भवनों की योजना बनाता है और जो बातें उसके मस्तिष्क के अन्दर होती हैं उनको पत्थर तथा मिट्टी से प्रत्यक्षरूप दिया जाता है।' अकबर ने अनेक दुर्ग, राजमहल, भवन, मकबरे तथा मस्जिदें बनवाईं। उसके शासन काल की प्रथम प्रसिद्ध इमारत हुमायूँ का मकबरा है, जिसका निर्माण दिल्ली में १५६५ ई० में हुआ। यह इमारत एक उद्यान के बीच में बनी है। इसका गुम्बज सफेद संगमरमर का बना है। कला की दृष्टि से यह पर्शियन कला से अधिक प्रभावित है। परन्तु इसमें पर्शियन शैली की रंगीन टाइलों का प्रयोग न करके संगमरमर पत्थर का उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है। अकबर ने आगरा, लाहौर तथा इलाहाबाद में तीन विशाल किले बनवाए जिनमें आगरे का लाल किला विशेष उल्लेखनीय है। आगरे के किले की योजना ग्वालियर के हिन्दू किले के नमूने पर आधारित है। इसके दो मुख्य द्वार हैं—देहली दरवाजा और अमरसिंह दरवाजा। इस किले में

अकबर ने लगभग ५०० लाल पत्थर की इमारतें बनवाई थीं। इनमें से बहुतों को शाहजहाँ ने तुड़वा डाला, क्योंकि वह लाल पत्थर के स्थान पर संगमरमर का प्रयोग अधिक पसन्द करता था। तो भी अकबर द्वारा निर्मित अनेक इमारतें आगरा के किले में विद्यमान हैं। इनमें 'अकबरी महल' तथा 'जहाँगीरी महल' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'जहाँगीरी महल' हिन्दू स्थापत्य कला की शैली से बना है। इसमें सुन्दर खुदे हुए पत्थरों के बहुत से स्तम्भ हैं जिन पर जालियाँ, कड़ियाँ तथा लम्बत छतें टिकी हैं। यह महल उदयपुर के हिन्दू महलों से मिलता जुलता है। लाहौर का किला भी एक दर्शनीय इमारत है। इसमें आगरे के किले की अपेक्षा अधिक सजावट है। पत्थरों पर मोर एवं हाथी तथा घोड़ों की आकृतियाँ अंकित हैं जो हिन्दू शिल्पकारी का प्रभाव प्रकट करती हैं।

फतहपुर-सीकरी के भवन—अकबरकालीन मुगल स्थापत्य कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना उसकी नई राजधानी फतहपुर सीकरी में देखने को मिलता है। यहीं पर अकबर ने एक लघु पहाड़ी टीले पर इस सुन्दर नगर का निर्माण करवाया। इसके तीन ओर दीवारें तथा चौथी ओर एक कृत्रिम झील थी। फतहपुर सीकरी की इमारतों में जामा मस्जिद तथा उसका बुलन्द दरवाजा उल्लेखनीय हैं। अपनी दक्षिण विजय के उपलक्ष्य में अकबर ने बुलन्द दरवाजे का निर्माण कराया था। इसकी ऊँचाई १६७ फीट है। यह संगमरमर तथा लाल पत्थर का बना है। सम्भवतः यह भारत का सबसे विशाल और ऊँचा दरवाजा है। कला की दृष्टि से यह बहुत भव्य है। जामा मस्जिद के अन्दर शेख सलीम चिश्ती की सफेद संगमरमर की कब्र बनी हुई है। फतहपुर सीकरी के अन्य भवनों में दीवाने-आम, टकसाल, पंचमहल, मरियम का महल, तुर्की-सुल्तान का महल, सम्राट् का शयनागार तथा पुस्तकालय, जोधाबाई का महल, बीरबल का महल तथा इबादत खाना विशेष प्रसिद्ध हैं। इन इमारतों में हिन्दू मुस्लिम कला की मिश्रित शैली का प्रभाव स्पष्ट है। इमारतें आकार में विशाल नहीं हैं, परन्तु कला और सौन्दर्य की दृष्टि से भव्य हैं। इनमें उच्च-कोटि की सजावट है जो हिन्दू स्थापत्य कला का प्रभाव प्रकट करती है। इन भवनों में सजावट के लिए जो आकृतियाँ बनी हैं वे हिन्दू तथा जैन मन्दिरों के भीतर अंकित आकृतियों का अनुकरण मालूम पड़ती हैं। फतहपुर सीकरी के इस कला-सौन्दर्य को देखकर ही स्मिथ ने कहा था—'यह नगर पत्थरों से [illegible] काव्य के समान है, जो कि अपना सानी नहीं रखता'। कला [illegible] सन के अनुसार यह नगर उस महान् सम्राट की परछाईं है [illegible] निर्माण कराया था। मुगल स्थापत्य कला में पच्चीकारी तथा [illegible] का विशेष स्थान था। नक्काशी में पौधों, फूलों, तितलियों [illegible] तियाँ मिलती हैं। फतहपुर सीकरी में तुर्की सुल्तान का महल [illegible] की शैली का सुन्दर नमूना है।

अन्य प्रसिद्ध इमारत अकबर का मकबरा है जो आगरे के पास सिकन्दरा में है। इसका निर्माण कार्य अकबर के समय में ही प्रारम्भ हो गया था, पर यह जहाँगीर के समय पूरा हुआ। यह मकबरा एक उद्यान के बीच में स्थित है। यह बौद्ध विहारों के ढंग पर बना हुआ है। इसका ऊपरी भाग संगमरमर का है। यह भी कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर है।

अकबर के समय में हिन्दू और मुस्लिम कला-शैलियों का सुन्दर समन्वय होकर कला की मुगल-शैली का जन्म हुआ। प्रवेश-द्वार, गुम्बज और मेहराब बनाने की पद्धति का विशेष विकास हुआ। अकबर के काल में स्थापत्य कला की जो राष्ट्रीय शैली विकसित हुई उसकी स्पष्ट छाप उस काल में बीकानेर, जोधपुर, आमेर और दतिया आदि में बने राजपूत भवनों में दिखाई देती है। इन राजपूत भवनों में कटोरेदार मेहराबें, कांच की पच्चीकारी, बैठक, पलस्तर की रगाई तथा खोदकर बनाए हुए चित्र, पर्सी ब्राउन के अनुसार, स्थापत्य की मुगल शैली के प्रभाव के प्रतीक हैं।

चित्रकला—अकबर चित्रकला से बहुत प्रेम करता था। उसकी दृष्टि में चित्रकार अपनी कला द्वारा ईश्वर की शक्ति को प्रकट करता है। समकालीन लेखक अबुल फजल ने लिखा है कि 'सम्राट् चित्रकला को हर तरह से प्रोत्साहन देते हैं और इसे शिक्षा तथा मन बहलाव दोनों का ही साधन मानते हैं'। स्थापत्य कला की भाँति ही चित्रकला के क्षेत्र में भी अकबर की प्रेरणा से चीनी-ईरानी तथा हिन्दू चित्रकला के तत्वों का समन्वय हुआ। शुरू में ईरानी प्रभाव अधिक था, पर धीरे-धीरे यह कम होता गया और यह पूर्णतया भारतीय कला बन गई। हिन्दू तथा चीनी-ईरानी चित्रकला की मिश्रित शैली को हम 'मुगल शैली' कह सकते हैं। अकबर के शासन काल में इस चित्रकला की शैली का उल्लेखनीय विकास हुआ। अकबर के दरबार में बहुत से चित्रकार थे। अबुल फजल उनकी संख्या १०० बतलाता है। मीर सैयद अली, अब्दुस्समद, फर्रुख बेग और जमशेद ईरानी ये विदेशी चित्रकार थे। उसके दरबार में हिन्दू चित्रकारों की संख्या अधिक थी, जिनमें दशवन्त, बसावन, सांवलदास, ताराचन्द, मुकुन्द, हरिवंश, खेमकरन, महेश और जगन्नाथ विशेष प्रसिद्ध थे। दसवन्त एक कहार का लड़का था, जिसकी कला-प्रतिभा से प्रभावित होकर अकबर ने उसे अब्दुस्समद के पास चित्रकला सीखने को भेजा था। बसावन पृष्ठ भूमि के चित्रण, मानव-चित्र बनाने तथा सूक्ष्मभावों के प्रदर्शन की कला में विशेष कुशल था। अकबर ने ख्वाजा अब्दुस्समद के अधीन चित्रकला का एक पृथक् विभाग स्थापित किया था। दरबारी चित्रकारों द्वारा बनाए गए चित्रों को सम्राट् हर सप्ताह देखता था और सुन्दर चित्रों पर पुरस्कार देता था।

अकबर के आदेश से चित्रकारों ने चंगेजनामा, नल-दमयन्ती आदि

अनेक पुस्तकों को सुन्दर चित्रों द्वारा सजाया। इन चित्रकारों ने अकबर की नई राजधानी फतहपुर-सीकरी के भवनों की दीवारों पर भी सुन्दर भित्ति-चित्र बनाए। दरबार के प्रमुख व्यक्तियों तथा घटनाओं के भी सुन्दर चित्र कागज आदि पर बनाए गए। उस समय के वृक्ष, लता-पुष्प, पशु-पक्षी तथा मानव के सभी चित्र बड़े ही सजीव, स्वाभाविक तथा आकर्षक बने हैं। इन चित्रों में रंगों का तालमेल भी बहुत ही दर्शनीय है। सुनहरे, नीले, लाल, हरे आदि रंगों का बड़े ही उपयुक्त ढंग से प्रयोग किया गया है। परन्तु इन चित्रों में दरबारी जीवन का ही चित्रण है, जन-साधारण के जीवन का नहीं।

राजपूत-चित्रकला—भारत में चित्रकला की परम्परा बहुत ही प्राचीन तथा गौरवपूर्ण रही है। अजन्ता के विश्व-प्रसिद्ध चित्र इसकी महानता के जीते-जागते सबूत हैं। इस प्राचीन भारतीय चित्रकला की परम्परा के अन्तर्गत सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईरानी व मुगल शैलियों के सम्पर्क के फलस्वरूप 'राजपूत-चित्रकला' का जन्म हुआ। मध्यभारत तथा राजस्थान इस कला का प्रमुख क्षेत्र था। राजस्थान में जयपुर इसका प्रमुख केन्द्र था। इस शैली के चित्रों का प्रमुख विषय राधा-कृष्ण की लीला है। इन चित्रों में *कृष्ण-लीला, नायिका-भेद, बारहमासा तथा राग-रागनियों* का सुन्दर चित्रण है। कई चित्रों में रामायण तथा महाभारत के दृश्यों का भी भव्य चित्रण है। अबुलफजल ने राजपूत कला के इन चित्रों की प्रशंसा में कहा है कि 'ये चित्र हमारी कल्पना से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। सारे संसार में बहुत कम चित्र इनकी समता कर सकते हैं।'

संगीत-कला—अकबर संगीत का प्रेमी था। उसके काल में संगीत की हिन्दू तथा मुस्लिम शैलियों का समन्वय हुआ। उसके दरबार में ३६ श्रेष्ठ संगीतकार थे, जो सात वर्गों में बटे थे। गायकों का प्रत्येक वर्ग प्रतिदिन सम्राट् को संगीत सुनाता था। उसके दरबार का सर्वश्रेष्ठ गायक तानसेन था, जिसने राजा मानसिंह तोमर द्वारा स्थापित ग्वालियर केन्द्र में संगीत की शिक्षा पायी थी। अबुलफजल ने लिखा है कि तानसेन जैसा महान् गायक पिछले एक हजार वर्षों से पैदा नहीं हुआ था। तानसेन ने कई नये रागों का *आविष्कार किया था। तानसेन के बाद दूसरे नम्बर का प्रसिद्ध गायक बाबा* रामदास था। सम्भवतः अकबर के समय में महान संगीतकार बैजू बावरा भी हुआ था, यद्यपि समकालीन लेखक अबुलफजल उसका कोई उल्लेख नहीं करता। संगीत के साथ साथ अकबर के प्रोत्साहन से वाद्य-कला का भी विकास हुआ।

इस प्रकार अकबर ने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में समन्वय की नीति का पालन कर भारतीय राष्ट्र के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उसकी समन्वय की नीति ने मुगल साम्राज्य की नींव दृढ़ की जो

दो सौ वर्षों तक हिल न सकी। वह भारत का पहिला मुस्लिम शासक था, जिसने यह अनुभव किया कि राज्य केवल शक्ति के आधार पर नहीं टिक सकता, उसके लिए बहु-संख्यक हिन्दू प्रजा की सद्भावना अनिवार्य है। धार्मिक-सहिष्णुता की जिस नीति का अकबर ने ईमानदारी से पालन किया, वह उसे उसके समकालीन शासक—इङ्गलैण्ड की महारानी एलिजाबेथ, फ्रांस के सम्राट् हेनरी चतुर्थ तथा ईरान के सम्राट् शाह अब्बास—इन सभी से बहुत ऊँचा उठा देती है। आचार्य श्रीराम शर्मा का कहना है कि 'भारत के शासकों में अकबर का बहुत ऊँचा स्थान है, क्योंकि उसने अन्य कार्यों के अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमानों को कई अंशों में एक दूसरे के निकट ला दिया था। यदि वह एक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सका तो इसका कारण केवल यही था कि वह काल की गति को तेज नहीं कर सकता था। यह बात विचारणीय है कि जब समस्त योरोप धर्म के नाम पर मधर्ष-रत था, जब रोमन कैथोलिक प्रोटेस्टेंटों को सूली पर चढ़ा रहे थे और प्रोटेस्टेण्ट रोमन कैथोलिकों को मौत के घाट उतार रहे थे, अकबर ने केवल युद्ध करने वाली जातियों को ही नहीं, प्रत्युत, परस्पर मतभेद रखने वाले धर्मों को भी शान्ति प्रदान की। आधुनिक युग में अकबर धार्मिक सहिष्णुता का सर्व प्रथम प्रयोगकर्ता था।'

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. अकबर को 'राष्ट्रीय शासक' कहना कहाँ तक उचित है ?

२. अकबर की समन्वय की नीति का विश्लेषण करते हुए यह बताइए कि वह किस क्षेत्र में सफल और किस क्षेत्र में असफल रही ?

३. अकबर ने कला के क्षेत्र में जो समन्वय का प्रयास किया, उसका विस्तृत विवरण दीजिए।

8

भारतीय पुनर्जागरण

१९ वीं शताब्दी के धर्म व समाज-सुधार आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में पुनर्जागरण का आरम्भ हुआ। धर्म व समाज का सुधार करने के लिए अनेक आन्तरिक आन्दोलन हुए जिनसे आधुनिक भारत का निर्माण सम्भव हो सका। इस पुनर्जागरण के मूल में दो प्रकार की प्रेरणा काम कर रही थी—(१) पाश्चात्य अथवा योरोपीय सभ्यता से सम्पर्क तथा (२) प्राचीन भारत की गौरवमय सांस्कृतिक परम्परा।

पाश्चात्य सभ्यता से सम्पर्क—अंग्रेजी भाषा के माध्यम से जब भारतवासी पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आए तो उन पर योरोप की बुद्धिवादी विचारधारा का भारी प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों में हिन्दू धर्म तथा समाज में प्रचलित कुरीतियों तथा अन्ध-विश्वासों को हटाने की इच्छा जागृत हुई। पुनर्जागरण के नेताओं ने वेद तथा उपनिषदों के आधार पर हिन्दुत्व का ऐसा सर्वोचित रूप प्रस्तुत किया जो बुद्धिवाद की कसौटी पर खरा उतर सके। भारतीय योरोप की वैज्ञानिक प्रगति तथा भौतिक समृद्धि से भी प्रभावित हुए और उन्होंने अनुभव किया कि निवृत्ति (वैराग्यपूर्ण) जीवन का सच्चा मार्ग नहीं है। इससे पूर्व भारत हजारों वर्षों से निवृत्ति में विश्वास करता रहा था। उसने संसार व जीवन को मिथ्या माना था। भारतीयों ने यह देखा कि योरोप-वासियों की आश्चर्यजनक प्रगति का कारण उनका जीवन के प्रति प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण है। इस अनुभव ने भारतीयों को निवृत्ति से हटाकर प्रवृत्ति (कर्म) की ओर मोड़ा।

प्रवृत्ति की वैदिक विचारधारा का पुनरुज्जीवन—प्रवृत्ति की विचारधारा जो इस पुनर्जागरण की प्रमुख विशेषता थी, भारत के लिए कोई नई चीज न थी। यह वैदिक धर्म व संस्कृति का मूल आधार रही थी। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त की प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या प्रस्तुत की। स्वामी दयानन्द ने भी प्रवृत्ति-प्रधान वैदिक धर्म व संस्कृति के पुनरुद्धार पर बल दिया। लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' में गीता के सन्देश को प्रवृत्ति का सन्देश बताया। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने ठीक ही कहा है कि "वस्तुत: उन्नीसवीं सदी का नवोत्थान भारत में प्रवृत्तिवाद का ही अनुपम उत्थान था।"

प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान—१९ वीं शताब्दी में भारत

के अतीत का अनुसन्धान हुआ और भारतीयों को उसका ज्ञान हुआ। श्री विलियम जोन्स, कोलब्रुक, मैक्समूलर मोनियर विलियम्स जैसे योरोपीय विद्वानों ने तथा राजेन्द्रलाल मित्र, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, हरप्रसाद शास्त्री जैसे भारतीय विद्वानों ने वेद,उपनिषद गीता,शकुन्तला नाटक तथा अन्य महत्वपूर्ण संस्कृत रचनाओं को प्रकाशित किया। इससे भारतीयों को संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्व का ज्ञान हुआ। वैदिक विचारधारा तथा वेदान्त दर्शन का पुनः प्रचार हुआ और उनके आधार पर भारत के नव-निर्माण का प्रयत्न किया गया। अपनी सांस्कृतिक धरोहर का ज्ञान हो जाने से भारतीयों के मन से आत्म-हीनता का भाव हटा और आत्म-विश्वास जागा। हिन्दुत्व अंगड़ाई लेकर मोह निद्रा से जाग उठा और उसने योरोप से आयी भौतिकता तथा ईसाइयत की लहर के विरुद्ध मोर्चा संभाला।

पुनर्जागरण का स्वरूप—पुनर्जागरण के नेताओं ने प्राचीन भारतीय धर्म व संस्कृति की मान्यताओं का योरोप की बुद्धिवादी विचारधारा से समन्वय किया। हिन्दू धर्म के अन्ध-विश्वास तथा रूढ़ियाँ हटी और धर्म तथा समाज का संशोधित रूप सामने आया। हिन्दू धर्म व संस्कृति सबल होकर उभरीं और उन्होंने अपने को विश्वव्यापी भूमिका के लिए तैयार किया। हिन्दू समाज में संगठन तथा भ्रातृत्व की भावना जागी। पिछड़े हुए शूद्र तथा नारी वर्ग का उत्थान हुआ। इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण के महान् नेताओं तथा आन्दोलनों का हम आगे अध्ययन करेंगे।

ब्राह्म-समाज

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नव-जागरण का प्रथम फल ब्राह्म-समाज आन्दोलन था। यूरोप की संस्कृति तथा धर्म से प्रभावित हिन्दू धर्म का यह नया रूप था। योरोप से आए बुद्धिवाद के यह अनुरूप था। उपनिषदों का अद्वैतवाद इसका आधार था। इस समाज के संस्थापक थे राजा राममोहनराय।

राजा राममोहनराय—(१७७२-१८३३)—राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के पिता माने जाते हैं। भारतीय नव-जागरण के वे अग्रदूत थे। उनका जन्म २२ मई सन् १७७२ ई० में बंगाल के बर्दवान जिले के राधानगर में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन से ही वे मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। घर से भागकर उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया। देश से बाहर तिब्बत में जाकर उन्होंने बौद्ध धर्म का अध्ययन भी किया। १८०५ ई० से १८१४ ई० तक उन्होंने विभिन्न पदों पर अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी की। इस नौकरी [illegible] तथा समाज के सुधार कार्य [illegible] उन्होंने अरबी, फारसी, [illegible] भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त

किया था। उन्होंने हिन्दू वेदान्त, इस्लाम तथा ईसाई धर्म का गहन अध्ययन किया था। प्रसिद्ध विद्वान् मोनियर विलियम्स की दृष्टि में 'वे तुलनात्मक धर्म-विज्ञान में संसार में सर्वाधिक प्रथम जिज्ञासु मस्तिष्क थे'। वे उपनिषदों के वेदान्त से बहुत प्रभावित हुए थे। उन पर इस्लाम के सूफी मत तथा ईसाई धर्म का भी प्रभाव पड़ा था। योरोप की सभ्यता तथा ज्ञान से भी वे भली प्रकार परिचित थे।

धार्मिक सुधार—आधुनिक भारत के धार्मिक जागरण का प्रारम्भ राजा राममोहन राय से ही होता है। उन्होंने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति को अन्ध-विश्वास तथा आडम्बरों के जाल से मुक्त किया। जिस काल में वे पैदा हुए, हमारा धर्म और चिन्तन अपने मूल स्रोत वेद तथा उपनिषदों से भटक गया था। परम्परागत रूढ़ियों, ढोंगों तथा आडम्बरों की भारी तह ने हिन्दुत्व के सच्चे स्वरूप को ढक लिया था। ईसाई पादरी हिन्दू धर्म के आडम्बरों की तीव्र आलोचना कर रहे थे। अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय नवयुवक द्रुतगति से ईसाइयत की ओर दौड़ रहे थे। अपने धर्म तथा संस्कृति में उनका विश्वास उठ गया था। राममोहन राय इस स्थिति को देखकर अत्यन्त दुःखी हुए। उन्होंने हिन्दू धर्म का परिष्कार या सुधार करने का बीड़ा उठाया। वे हिन्दू धर्म को रूढ़ियों तथा आडम्बरों से मुक्त कर नया रूप देना चाहते थे। उन्होंने हिन्दू धर्म के यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा तथा जातिभेद का खण्डन किया। उन्होंने फारसी में 'तुहफ़तुल-मुवाहिदीन' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें मूर्तिपूजा का खण्डन तथा एकेश्वरवाद की प्रशंसा की गई थी। उन्होंने 'संक्षिप्त वेदान्त' नामक पुस्तक में वेदान्त का टीका सहित संग्रह प्रकाशित किया। उन्होंने ईश, मुंडक, कठ तथा केन उपनिषदों का अनुवाद भी प्रकाशित किया। वे हिन्दुत्व का आधार वेदान्त को बनाना चाहते थे।

हिन्दू समाज में नये धार्मिक विचारों का प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होंने कलकत्ते में १८१५ ई० में 'आत्मीय सभा' तथा १८१६ ई० में 'वेदान्त कालेज' की स्थापना की। अन्ततो गत्वा १८२८ ई० में शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना के लिए उन्होंने कलकत्ते में 'ब्राह्म-समाज' की स्थापना की। यह समाज मूलतः भारतीय था और इसका आधार था उपनिषदों का अद्वैतवाद। इस समाज की बैठकों में वेद तथा उपनिषदों के मंत्रों का पाठ हुआ करता था। इसमें मूर्तिपूजा तथा अवतार के सिद्धान्त को नहीं माना गया था। उपासना के लिए निराकार निर्विकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा की गई
...-समाज में शुरू से ही उदारता तथा धार्मिक सहिष्णुता पर बल
...। ब्राह्म-समाज के भवन के ट्रस्ट के दस्तावेज में यह उल्लेख है कि
...बिना किसी भेदभाव के, शाश्वत सत्ता की उपासना के लिए इस
...सकते हैं। इसमें किसी भी प्रकार की मूर्ति की स्थापना
...बलिदान होगा न किसी धर्म की निन्दा की जायगी।

इसमें केवल ऐसे ही उपदेश दिए जायेंगे, जिनसे सभी धर्मों के लोगों के बीच एकता, समीपता तथा सद्भाव की वृद्धि होती हो।" वस्तुतः राममोहनराय विश्व-बन्धुत्व तथा मानव-प्रेम के पुजारी थे। उनकी निष्ठा किसी सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित न थी। मूर्तिपूजा का विरोध, एकेश्वरवाद में अटल विश्वास, बुद्धिवादी दृष्टिकोण तथा मानव धर्म—ये राममोहनराय के प्रमुख सिद्धान्त थे, जिनके आधार पर वे हिन्दुत्व का संशोधन करना चाहते थे।

भारतीय ज्ञान का योरोपीय विज्ञान के साथ समन्वय—राममोहन राय प्रगतिशील विचारों के थे। उन्होंने अनुभव किया कि आधुनिक युग में प्रगति के लिए प्राचीन भारतीय ज्ञान का योरोप के ज्ञान विज्ञान से समन्वय करना आवश्यक है। वे पाश्चात्य विज्ञान से बहुत प्रभावित थे। वे वेदान्त के आधार पर हिन्दुत्व के ऐसे रूप की प्रतिष्ठा करना चाहते थे जो बुद्धिवाद और विज्ञान की कसौटी पर खरा उतर सके। इसलिए उन्होंने ब्राह्म समाज का जो विधान बनाया, उसमें मूर्ति-पूजा, अवतारवाद एवं तीर्थ, व्रत आदि बाह्य कर्मकाण्ड का कोई महत्त्व न था। उनकी इच्छा थी कि भारत योरोप में विज्ञान को ग्रहण करे और साथ ही अपने धर्म का बुद्धि-सम्मत रूप संसार के सामने रखे। प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा आधुनिक प्रगतिवाद के बीच राममोहन राय एक महान् पुल थे। मिस कालेट ने उनकी जीवनी में लिखा है—"इतिहास में राममोहन राय का स्थान उस महासेतु के समान है जिस पर चढ़ कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है। प्राचीन जाति-प्रथा तथा नवीन मानवतावाद के बीच जो खाई है, अन्ध-विश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतन्त्र के बीच जो अन्तराल है तथा बहुदेववाद और शुद्ध एकेश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बांधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजने वाले महापुरुष राममोहन राय हैं।"

समाज-सुधार—राममोहन राय हिन्दू समाज की दशा सुधारने को [illegible]

संगठित किया। जब उनकी विधवा भावज सती हुई, तो उनका कोमल हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध 'शास्त्रार्थ' नामक ग्रन्थ में कई निबन्ध लिखे। उन्होंने सती की अमानुषिक प्रथा के विरुद्ध जनमत जागृत किया। सन् १८२९ ई० में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा [illegible] बना दिया। यह कानून

[illegible] था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो या संस्कृत अथवा फारसी, राममोहन राय ने अंग्रेजी

किया था। उन्होंने हिन्दू वेदान्त, इस्लाम तथा ईसाई धर्म का गहन अध्ययन किया था। प्रसिद्ध विद्वान् मोनियर विलियम्स की दृष्टि में 'वे तुलनात्मक धर्म-विज्ञान में संसार में कदाचित् प्रथम जिज्ञासु मस्तिष्क थे'। वे उपनिषदों के वेदान्त से बहुत प्रभावित हुए थे। उन पर इस्लाम के सूफी मत तथा ईसाई धर्म का भी प्रभाव पड़ा था। योरोप की सभ्यता तथा ज्ञान से भी वे भली प्रकार परिचित थे।

धार्मिक सुधार—आधुनिक भारत के धार्मिक जागरण का प्रारम्भ राजा राममोहन राय से ही होता है। उन्होंने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति को अन्ध-विश्वास तथा आडम्बरों के जाल से मुक्त किया। जिस काल में वे पैदा हुए, हमारा धर्म और चिन्तन अपने मूल स्रोत वेद तथा उपनिषदों से भटक गया था। परम्परागत रूढ़ियों, ढोंगों तथा आडम्बरों की भारी तह ने हिन्दुत्व के सच्चे स्वरूप को ढक लिया था। ईसाई पादरी हिन्दू धर्म के आडम्बरों की तीव्र आलोचना कर रहे थे। अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय नवयुवक द्रुतगति से ईसाइयत की ओर दौड़ रहे थे। अपने धर्म तथा संस्कृति में उनका विश्वास उठ गया था। राममोहन राय इस स्थिति को देखकर अत्यन्त दुःखी हुए। उन्होंने हिन्दू धर्म का परिष्कार या सुधार करने का बीड़ा उठाया। वे हिन्दू धर्म को रूढ़ियों तथा आडम्बरों से मुक्त कर नया रूप देना चाहते थे। उन्होंने हिन्दू धर्म के यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा तथा जातिभेद का खण्डन किया। उन्होंने फारसी में 'तुहफतुल-मुवाहिद्दीन' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें मूर्तिपूजा का खण्डन तथा एकेश्वरवाद की प्रशंसा की गई थी। उन्होंने 'संक्षिप्त वेदान्त' नामक पुस्तक में वेदान्त का टीका सहित संग्रह प्रकाशित किया। उन्होंने ईश, मुण्डक, कठ तथा केन उपनिषदों का अनुवाद भी प्रकाशित किया। वे हिन्दुत्व का आधार वेदान्त को बनाना चाहते थे।

हिन्दू समाज में नये धार्मिक विचारों का प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होंने कलकत्ते में १८१५ ई० में 'आत्मीय सभा' तथा १८१६ ई० में 'वेदान्त कालेज' की स्थापना की। अन्ततोगत्वा १८२८ ई० में शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना के लिए उन्होंने कलकत्ते में 'ब्राह्म-समाज' की स्थापना की। यह समाज मूलतः भारतीय था और इसका आधार था उपनिषदों का अद्वैतवाद। इस समाज की बैठकों में वेद तथा उपनिषदों के मन्त्रों का पाठ हुआ करता था। इसमें मूर्तिपूजा तथा अवतार के सिद्धान्त को नहीं माना गया था। उपासना के लिए निराकार निर्विकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा की गई थी। ब्राह्म-समाज में शुरू से ही उदारता तथा धार्मिक सहिष्णुता पर बल दिया गया था। ब्राह्म-समाज के भवन के ट्रस्ट के दस्तावेज में यह उल्लेख है कि 'सभी लोग, बिना किसी भेदभाव के, शाश्वत सत्ता की उपासना के लिए इस भवन का प्रयोग कर सकते हैं। इसमें किसी भी प्रकार की मूर्ति की स्थापना इसमें कोई बलिदान होगा न किसी धर्म की निन्दा की जायगी।

इसमें केवल ऐसे ही उपदेश दिए जायेंगे, जिनसे सभी धर्मों के लोगों के बीच एकता, समीपता तथा सद्भाव की वृद्धि होती हो।" वस्तुतः राममोहनराय विश्व-बन्धुत्व तथा मानव-प्रेम के पुजारी थे। उनकी निष्ठा किसी सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित न थी। मूर्तिपूजा का विरोध, एकेश्वरवाद में अटल विश्वास, बुद्धिवादी दृष्टिकोण तथा मानव धर्म—ये राममोहनराय के प्रमुख सिद्धान्त थे, जिनके आधार पर वे हिन्दुत्व का संशोधन करना चाहते थे।

भारतीय ज्ञान का योरोपीय विज्ञान के साथ समन्वय—राममोहन राय प्रगतिशील विचारों के थे। उन्होंने अनुभव किया कि आधुनिक युग में प्रगति के लिए प्राचीन भारतीय ज्ञान का योरोप के ज्ञान विज्ञान से समन्वय करना आवश्यक है। वे पाश्चात्य विज्ञान से बहुत प्रभावित थे। वे वेदान्त के आधार पर हिन्दुत्व के ऐसे रूप की प्रतिष्ठा करना चाहते थे जो बुद्धिवाद और विज्ञान की कसौटी पर खरा उतर सके। इसलिए उन्होंने ब्राह्म समाज का जो विधान बनाया, उसमें मूर्ति-पूजा, अवतारवाद एवं तीर्थ, व्रत आदि बाह्य कर्मकाण्ड का कोई महत्व न था। उनकी इच्छा थी कि भारत योरोप से विज्ञान को ग्रहण करे और स्वयं ही अपने धर्म का बुद्धि-सम्मत रूप संसार के सामने रखे। प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा आधुनिक प्रगतिवाद के बीच राममोहन राय एक महान् पुल थे। मिस कालेट ने उनकी जीवनी में लिखा है—"इतिहास में राममोहन राय का स्थान उस महासेतु के समान है जिस पर चढ़ कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है। प्राचीन जाति-प्रथा तथा नवीन मानवतावाद के बीच जो खाई है, अन्ध-विश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतन्त्र के बीच जो अन्तराल है तथा बहुदेववाद और शुद्ध एकेश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बांधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजने वाले महापुरुष राममोहन राय हैं।"

समाज-सुधार—राममोहन राय हिन्दू समाज की दशा सुधारने को बहुत उत्सुक थे। उन्होंने समाज में प्रचलित बहु-विवाह तथा बाल-विवाह जैसी बुराइयों का खण्डन किया। स्त्री-शिक्षा तथा स्त्रियों के समानाधिकार के भी वे प्रबल समर्थक थे। सती-प्रथा के विरुद्ध तो उन्होंने भयंकर आन्दोलन संगठित किया। जब उनकी विधवा भावज सती हुई, तो उनका कोमल हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध 'शास्त्रार्थ' नामक ग्रन्थ में कई निबन्ध लिखे। उन्होंने सती की अमानुषिक प्रथा के विरुद्ध जनमत जागृत किया। सन् १८२९ ई० में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर इसके विरुद्ध कड़ा कानून बना दिया। यह कानून राममोहन राय के आन्दोलन का ही फल था।

शिक्षा—भारतवर्ष में जब यह विवाद चल रहा था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो या संस्कृत अथवा फारसी, राममोहन राय ने अंग्रेजी

आरम्भ का पक्ष लिया। उनकी मान्यता थी कि आधुनिक युग में प्रगति के लिए अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। वे चाहते थे कि उनके देशवासी अंग्रेजी द्वारा योरोप के ज्ञान व विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करें। उनकी सहायता से १८२४ ई० में कलकत्ते में हिन्दू-कालेज की स्थापना की गयी। उन्होंने जनता में फैले हुए इस भ्रम को दूर किया कि अंग्रेजी पढ़कर लोग नास्तिक या ईसाई हो जाते हैं। उन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास पर भी जोर दिया। बंगाली भाषा में उन्होंने व्याकरण, गद्य, भूगोल आदि कई पुस्तकें लिखीं। उन्होंने स्त्री-शिक्षा का भी प्रबल समर्थन किया। उन्होंने 'संवाद कौमुदी' नामक बंगाली पत्रिका का सम्पादन किया। वे समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता के समर्थक थे। १८८३ ई० में समाचार-पत्र अधिनियम के विरुद्ध उन्होंने प्रबल आन्दोलन चलाया।

राममोहनराय ने भारतीय इतिहास में नये युग का प्रवर्तन किया। उन्होंने हिन्दू-समाज की कुरीतियों तथा अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने भारत में न केवल सांस्कृतिक जागरण की, बल्कि राजनीतिक जागरण की भी पृष्ठ-भूमि तैयार की। राममोहनराय साम्प्रदायिकता तथा संकुचित दृष्टिकोण से कोसों दूर थे। वे विश्ववाद तथा मानवतावाद के प्रबल समर्थक थे।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर—राममोहनराय की मृत्यु के बाद ब्राह्म समाज का नेतृत्व महर्षि देवेन्द्रनाथ के हाथों में आया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दू-धर्म को रूढ़ियों तथा अन्ध-विश्वासों से मुक्त कराना चाहते थे। वेद और उपनिषदों में उनकी श्रद्धा थी। उन्होंने धार्मिक चर्चा के लिए 'तत्त्व-बोधिनी' सभा स्थापित की थी। सन् १८४२ ई० में अपनी इस सभा के सभी सदस्यों सहित वे 'ब्राह्म समाज' में शामिल हुये। ब्राह्म समाज की प्रार्थना के मन्त्र उपनिषदों तथा तन्त्र-ग्रन्थों से लिये गये थे। परन्तु आगे जाकर ब्राह्म समाज में यह विवाद उत्पन्न हुआ कि वेद अन्तिम प्रमाण हैं या नहीं। अन्त में यही निश्चय हुआ कि वेद भी अन्तिम प्रमाण नहीं माने जा सकते; उनके कथन भी वहीं तक मान्य हैं, जहाँ तक वे हमारी सामान्य बुद्धि से मेल खाते हों। राममोहनराय के समय में ब्राह्म समाज में वेद और उपनिषद दोनों ही प्रमाण थे, किन्तु अब वेद प्रमाण न रहे, केवल उपनिषद् ही प्रमाण रह गए। राममोहनराय की भाँति देवेन्द्रनाथ का उद्देश्य भी हिन्दुत्व का तर्कसंगत रूप प्रस्तुत करके ईसाइयत की बाढ़ को रोकना था।

केशवचन्द्र सेन—सन् १८५७ ई० में केशवचन्द्र सेन नामक एक प्रतिभाशाली नवयुवक ने ब्राह्म समाज में प्रवेश किया। केशवचन्द्र सेन योरोपीय धर्म तथा संस्कृति से अत्यन्त प्रभावित थे। वे हिन्दू-समाज में क्रान्तिकारी सुधार लागू करना चाहते थे। हिन्दू-धर्म के अनुष्ठानों तथा जाति प्रथा के वे कट्टर विरोधी थे। उनके आग्रह पर ब्राह्म समाज के सदस्यों

ने अपने यज्ञोपवीत तक उतार फेंके। केशवचन्द्र सेन ब्राह्म समाज को ईसाइयत की तरफ मोड़ने का प्रयत्न करने लगे, जिससे उनका अपने गुरु श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर से तीव्र मतभेद हो गया। सन् १८६६ ई० में केशवचन्द्र सेन ने अलग होकर अपना अलग समाज बनाया जो 'ब्राह्म समाज' कहलाया। देवेन्द्रनाथ के नेतृत्व में जो समाज रह गया, उसे 'आदि ब्राह्म समाज' कहा जाने लगा। दोनों के बीच सम्बन्ध कटु हो गये।

केशव के धार्मिक विचार—केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्म समाज तेजी से ईसाई धर्म की ओर झुकने लगा। ईसा मसीह ब्राह्म समाजियों के आदर्श बन गये। बाईबिल तथा अन्य ईसाई धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन उत्साह से किया जाने लगा। केशव विश्व-धर्म की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। उन्होंने समाज के प्रार्थना-संग्रह में बौद्ध, यहूदी, हिन्दू, ईसाई चीनी और मुस्लिम सभी धर्मों की प्रार्थनाएं शामिल कीं। उन्होंने वैष्णव-कीर्तन के गीत भी अपनी प्रार्थना में शामिल कर लिए। वे झांझ और करताल लेकर सामूहिक कीर्तन करते हुये सड़कों पर भी चलते थे।

सामाजिक सुधार—केशव एक क्रान्तिकारी समाज-सुधारक थे। उन्होंने जाति प्रथा का तीव्रता से खण्डन किया। वे अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-पुनर्विवाह व स्त्री-शिक्षा के भी प्रबल समर्थक थे। उन्होंने पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह तथा बहु-विवाह आदि बुराइयों का घोर विरोध किया। उनके आग्रह पर सन् १८७२ ई० में सरकार ने सिविल मैरिज एक्ट पास किया, जिसके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह मान्य हो गया और वर तथा कन्या की उम्र क्रमशः १८ व १४ वर्ष नियत करदी गई। परन्तु प्रतिबन्ध केवल उन्हीं पर लागू होते थे जो इस एक्ट को स्वीकार करें। इङ्गलैण्ड से लौटने पर केशव ने १८७० ई० में भारतीय सुधार सभा की स्थापना की, जिसके प्रमुख विभाग थे—स्त्री-सुधार, मजदूर-शिक्षा, सस्ता-साहित्य, मद्य-निषेध और दान। इन सुधारों को लोकप्रिय बनाने के लिये उन्होंने 'सुलभ समाचार' नामक साप्ताहिक-पत्र भी प्रकाशित किया।

केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्म समाज का काफी उत्कर्ष हुआ। सारे बंगाल में ब्राह्म समाज का प्रभाव बढ़ा। अनेक नगरों में उसकी शाखायें स्थापित की गयीं। परन्तु १८७८ ई० में उन्होंने अपनी पुत्री का, जिसकी उम्र १४ वर्ष से बहुत कम थी, कूच बिहार के महाराजा से विवाह किया। महाराजा की अवस्था भी १६ वर्ष से कम थी। इस कूच बिहार विवाह ने केशवचन्द्र सेन के लिये संकट उपस्थित कर दिया। इस बाल-विवाह के लिये केशव की निन्दा की गई और केशव के विरोधियों ने आनन्दमोहन बोस, शिवनाथ शास्त्री तथा विजयकृष्ण गोस्वामी के नेतृत्व में अपना अलग 'साधारण ब्राह्म समाज' कायम किया। केशवचन्द्र सेन ने इस फूट के बाद 'नव-विधान समाज' नाम से एक नये समाज का संगठन किया। केशव के

नव-विधान समाज का ईसाइयत की ओर विशेष झुकाव था। साधारण ब्राह्म समाज का विधान जनतान्त्रिक था और उसने भी कई सामाजिक सुधार किये।

मूल्यांकन—ब्राह्म समाज आन्दोलन अब प्रायः लुप्त हो गया है। यूरोपीय संस्कृति, ईसाई धर्म तथा बुद्धिवादी विचारधारा से यह अत्यधिक प्रभावित था। परन्तु राष्ट्रीय जीवन के मुख्य प्रवाह से यह दूर था और इसलिये यह व्यापक व लोकप्रिय न हो सका। इसका क्षेत्र बङ्गाल तक ही सीमित था। फिर भी ब्राह्म समाज भारत के महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आन्दोलनों में से एक है। योरोप के प्रगतिशील विचारों ने आरम्भ में ब्राह्म समाज के माध्यम से ही हिन्दू समाज में प्रवेश किया। यह आधुनिक भारत का प्रथम धर्म व समाजसुधार आन्दोलन था। इसने धार्मिक जीवन में बुद्धिवाद तथा व्यक्ति-अन्तःकरण की स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा की। इसका समाज-सुधार कार्यक्रम भी बहुत ही प्रगतिशील तथा महत्त्वपूर्ण था। ब्राह्म समाज ने सामाजिक तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल दिया और परोक्ष रूप से राष्ट्रीय चेतना के विकास में भी सहायता दी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे बंगालियों में ईसाई-धर्म का जो तीव्रगति से प्रसार हो रहा था, उसे रोकने में भी ब्राह्म समाज बहुत कुछ सफल सिद्ध हुआ।

प्रार्थना-समाज—केशवचन्द्र सेन की बम्बई यात्रा के बाद १८६७ ई० में बम्बई में 'प्रार्थना-सभा' की स्थापना की गई। इसके प्रमुख नेता डाक्टर आत्माराम पाण्डुरंग, आर० जी० भण्डारकर तथा महादेव गोविन्द रानाडे थे। इस समाज के मुख्य आधार एकेश्वरवाद में दृढ़ विश्वास तथा समाज सुधार कार्यक्रम थे। रानाडे ने इसके अन्तर्गत समाज सुधार आन्दोलन को संगठित किया। जाति-प्रथा तथा पर्दा-प्रथा के खण्डन तथा बाल-विवाह की समाप्ति पर प्रार्थना-समाज ने जोर दिया। स्त्री-शिक्षा तथा विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन किया। इस समाज ने कई अनाथालय व विधवाश्रम खोले तथा रात्रि पाठशालाओं द्वारा समाज में शिक्षा का प्रसार भी किया।

आर्य समाज

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में हुए धर्म समाज-सुधार आन्दोलनों में आर्य समाज का प्रमुख स्थान है। ब्राह्म समाज की तरह इसकी प्रेरणा योरोप से नहीं आयी। इसका प्रमुख आधार वैदिक परम्परा थी। इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। जब दयानन्द अवतीर्ण हुए, हिन्दू समाज की दशा बड़ी शोचनीय थी। हिन्दुत्व का असली रूप अनेक प्रकार की रूढ़ियों तथा अन्ध-विश्वासों से ढक गया था। इस्लाम और ईसाइयत—दोनों ओर से धर्म प्रचारक हिन्दुत्व पर आक्रमण कर रहे थे। ब्राह्म समाज ने ईसाइयत की बाढ़ को रोकने का प्रयत्न किया था, किन्तु आगे जाकर केशव के नेतृत्व में वह स्वयं ही ईसाइयत की ओर चल पड़ा। स्वामी दयानन्द ने ऐसे

समय में देश को नेतृत्व प्रदान किया। उन्होंने पौराणिक रीतियों तथा कर्मकाण्डों का खण्डन कर हिन्दुओं का ध्यान धर्म के मूलरूप की ओर प्राकृष्ट किया। उन्होंने यह बताया कि सच्चा धर्म वैदिक धर्म है जिसके बल पर भारतवर्ष अब भी संसार में प्रतिष्ठा पा सकता है।

दयानन्द सरस्वती का जीवन-वृत्त (१८२४-१८८३ ई०)—दयानन्द सरस्वती का बचपन का नाम मूलशंकर था और उनका जन्म सन् १८२४ ई० में गुजरात के मोरवी स्टेट के टंकारा ग्राम में एक धनी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। जब वे १४ वर्ष के थे, एक बार शिवरात्रि के पर्व पर अपने पिता के साथ शिव मन्दिर में गए। वहाँ उन्होंने एक चूहे को शिवलिंग पर चढ़ते देखा, जिससे परम्परागत मूर्तिपूजा से उनका विश्वास उठ गया। जब उनके विवाह की तैयारी होने लगी तो वे चुपचाप घर से भाग निकले। चौदह वर्ष तक वे देश के विभिन्न भागों में घूमते रहे। अन्त में १८६० ई० में वे मथुरा आए और वहाँ उन्होंने दण्डी स्वामी विरजानन्द से वेदों का अध्ययन किया। जब दयानन्द अपनी शिक्षा समाप्त कर चुके, तो गुरु विरजानन्द ने उन्हें पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों का खण्डन कर देश में वैदिक धर्म व संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा करने का आदेश दिया। स्वामी दयानन्द जीवन भर गुरु के इस आदेश का पालन करते रहे।

वैदिक धर्म तथा संस्कृति का पुनरुद्धार—श्री अरविन्द के अनुसार राममोहनराय उपनिषदों पर ही ठहर गए थे, किन्तु दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जाना कि हमारी संस्कृति का मूल वेद में है। उन्होंने पौराणिक कर्मकाण्ड तथा मान्यताओं की निन्दा की और वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू समाज का उद्धार वैदिक विचार धारा को पुनर्जीवित करके ही किया जा सकता है। वैदिक धर्म तथा संस्कृति का पुनरुद्धार उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। उन्होंने यह घोषणा की कि मूर्तिपूजा का वेदों में कहीं भी उल्लेख नहीं है। उन्होंने हिन्दुओं को वेदों की ओर मुड़ने का आवाहन किया। उन्होंने पुराणों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की। उनका मत था कि वेद ही सर्वोपरि प्रमाण हैं। उन्होंने बार बार यह बताया कि हिन्दुओं के लिए वेद उतने ही पवित्र व प्रामाणिक हैं जितना कुरान मुसलमानों के लिए और बाइबिल ईसाइयों के लिए। वेदों को प्रमाण मानने में दयानन्द व राममोहनराय एक मत हैं, किन्तु दयानन्द वेदों की सायण आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा की हुई व्याख्या को अथवा मैक्समूलर आदि द्वारा की हुई आधुनिक व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने स्वयं ही वेदों की अपने ढंग से व्याख्या की है। उन्होंने सम्पूर्ण यजुर्वेद पर तथा ऋग्वेद के बहुत से भाग पर भाष्य लिखा। उन्होंने अपने वेदभाष्य की विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी

वेद-भाष्य भूमिका भी लिखी । उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'सत्यार्थ प्रकाश' है । दयानन्द के अनुसार वेदों के शब्द सामान्य अर्थ प्रकट नहीं करते, जैसा कि सायण आदि आचार्यों ने अनुमान लगाया है, वरन् प्रतीकात्मक है । उन्होंने अपनी रचनाओं में यह सिद्ध किया है कि सब तरह का ज्ञान वेदों में है ।

पौराणिक धर्म का खण्डन तथा वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचना सत्यार्थ प्रकाश में मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, तीर्थयात्रा, श्राद्ध, व्रत-अनुष्ठान आदि पौराणिक बातों का बड़े ही युक्तिपूर्वक ढंग से खण्डन किया है । उन्होंने निर्गुण व निराकार ईश्वर की आराधना पर बल दिया है । एकेश्वरवाद उनका मुख्य सिद्धान्त था । उन्होंने प्रतिदिन वेद में निर्दिष्ट यज्ञ तथा संध्या करना भी प्रत्येक आर्य के लिए आवश्यक बताया है । स्वामी दयानन्द ने पौराणिक अन्धविश्वास तथा रूढ़ियों की काई को हटाकर हिन्दुत्व का वह शुद्ध वैदिक रूप प्रस्तुत किया, जिसका ईसाई धर्म प्रचारक व मुस्लिम मौलवी उपहास नहीं कर सकते थे ।

ब्राह्म समाज से भिन्नता—१८६६ ई० में जब स्वामी दयानन्द कलकत्ते गए तो वहाँ उनकी ब्राह्म समाज के नेता देवेन्द्रनाथ तथा केशवचन्द्र सेन से भेंट हुई । स्वामी दयानन्द से ब्राह्म समाज के साथ मिलकर कार्य करने का अनुरोध किया गया । परन्तु यह सम्भव न हुआ । क्योंकि स्वामी दयानन्द के विचार ब्राह्म समाज से भिन्न थे । ब्राह्म समाज पश्चिम से आए बुद्धिवाद से प्रेरित था, जब कि दयानन्द का आर्यसमाज भारत के प्राचीन वैदिक धर्म व संस्कृति का पुनरुज्जीवन था । वेदों की प्रामाणिकता तथा पुनर्जन्म स्वामी दयानन्द के आधारभूत सिद्धान्त थे, किन्तु ब्राह्म समाज के अनुयायी इन्हें स्वीकार नहीं करते थे ।

समाज सुधार—स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज में क्रान्तिकारी सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया । उन्होंने बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा पर्दा-प्रथा का खण्डन किया । विवाह के लिए उन्होंने पुरुष की आयु २५ वर्ष तथा कन्या की आयु १६ वर्ष निश्चित की । अन्तर्जातीय विवाह का उन्होंने समर्थन किया । उनके अनुसार विधुर पुरुष पुत्रहीन होने पर पुनर्विवाह कर सकता है और विधवा स्त्री नियोग प्रथा द्वारा पुत्र सन्तान प्राप्त कर सकती है । स्वामीजी द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने विधवा-विवाह का भी समर्थन किया है । स्वामीजी ने स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया और आर्य समाज के तत्त्वावधान में कई कन्या-पाठशालाएँ आज भी चल रही हैं ।

[illegible] ने जन्म या वंश-परम्परा पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को [illegible] नहीं किया । उन्होंने जन्म के स्थान पर कर्म व चरित्र को वर्ण का आधार माना । उन्होंने ब्राह्मणों के शास्त्रों पर एकाधिकार को भी नहीं

माना और वेद तथा धर्म-ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार सबको दिया। स्वामीजी का आर्यसमाज हर प्रकार की अस्पृश्यता का भी विरोधी है। स्वामीजी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सुधार 'शुद्धि' का विधान है। शुद्धि का अर्थ था—बलपूर्वक ईसाई या मुसलमान बनाए गए हिन्दुओं को पुन: शुद्ध करके हिन्दू समाज में शामिल करना। शुद्धि आर्यसमाज का एक क्रान्तिकारी विचार था जिससे मुसलमान मौलवी तथा ईसाई पादरी बुरी तरह घबरा गए। स्वामीजी से पूर्व अन्य किसी भी हिन्दू सुधारक ने शुद्धि की कल्पना न की थी। शुद्धि आर्य समाज की दृष्टि में देश की धार्मिक तथा सामाजिक एकता स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

आर्य समाज की स्थापना—अपने विचारों के प्रचार के लिए स्वामी-दयानन्द सरस्वती ने जगह जगह घूम कर सार्वजनिक सभाओं में भाषण [illegible]

के रूप में सारे देश में प्रतिष्ठा हो गयी। स्वामी दयानन्द देश के विभिन्न नगरों में प्रचार करते हुए बम्बई आए और वहाँ १० अप्रैल सन् १८७५ ई० में 'आर्य समाज' की स्थापना की। शीघ्र ही आर्य समाज की शाखाएँ देश के विभिन्न नगरों में स्थापित हो गयीं। आर्य समाज का सर्वाधिक प्रचार पंजाब में हुआ।

आर्य समाज के नियम—आर्य समाज के दस सिद्धान्त हैं। एक सिद्धान्त यह है कि ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, सर्व-व्यापक, अमर और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करना योग्य है। दूसरा यह है कि वेदों में सच्चा ज्ञान है और उन्हें पढ़ना व पढ़ाना सब आर्यों का परम धर्म है। इनके अतिरिक्त अन्य आठ सिद्धान्तों में नैतिक और सदाचार की शिक्षाएँ हैं जो सार्वदेशीय हैं। स्वामी दयानन्द कृत 'सत्यार्थप्रकाश' आर्य समाज का प्रमुख ग्रन्थ है। हर आर्य समाज में प्रत्येक रविवार को वैदिक विधि से यज्ञ तथा वैदिक मन्त्रों से प्रार्थना भी की जाती है।

इस्लाम व ईसाई धर्म के अन्ध-विश्वासों का भण्डाफोड़—आर्य समाज ने ईसाइयत व इस्लाम के विरुद्ध केवल रक्षात्मक लड़ाई ही नहीं लड़ी, वरन् उन धर्मों की कमजोरियों पर आक्रमण भी किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश में पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियों का खन्डन जिस निर्ममता पूर्वक किया है, उन्होंने उसी ढंग से इस्लाम तथा ईसाइयत के दोष,

आडम्बर तथा अन्ध-विश्वासों की भी तीव्र आलोचना की है। सत्यार्थ प्रकाश के १३ वें समुल्लास में उन्होंने ईसाई धर्म के तथा १४ वें समुल्लास में इस्लाम के अन्ध-विश्वासों का खण्डन किया है। उन्होंने ईसाइयत तथा इस्लाम के दोषों को सर्व साधारण के सामने रख हिन्दुओं का बड़ा उपकार किया। इस्लाम व ईसाइयत की श्रेष्ठता की जो भावना बल पकड़ रही थी, वह अब लुप्त हो गयी। लोग यह सोचने लगे कि ईसाईयों तथा मुसलमानों के धर्मों में भी वैसे ही दोष हैं जैसे पौराणिक हिन्दू धर्म में बताए जाते हैं।

हिन्दुत्व का संरक्षक—वस्तुतः दयानन्द का आर्य समाज हिन्दुत्व का प्रबल संरक्षक रहा है। १९२१ ई० में मालाबार में मोपला विद्रोह हुए। मोपला मुसलमानों ने कई हिन्दुओं की हत्या की और ३००० हिन्दुओं को मुसलमान बना लिया। परन्तु आर्यसमाज ने लाला हंसराज के नेतृत्व में शुद्धि द्वारा इन लोगों को पुनः हिन्दू बनाया। यही नहीं, आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता स्वामी श्रद्धानन्दजी ने शुद्धि द्वारा लगभग ३०००० मलकाना राजपूतों को जो पहले हिन्दू थे, पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश कराया। इस प्रकार आर्य समाज ने सदा इस्लाम तथा ईसाइयत के आक्रमणों से हिन्दुत्व को बचाया है। यद्यपि आर्य समाज ने पौराणिक कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों का खण्डन किया, पर वह हिन्दुत्व से पृथक् नहीं हुआ। लाला लाजपतराय ने ठीक ही लिखा है कि 'आर्य समाज कई अर्थों में हिन्दुत्व का नेता है। इसके सदस्यों को हिन्दुत्व पर गर्व है। हिन्दू सम्प्रदाय की रक्षा के लिए इन्हें सभी कुछ करने का न तो कभी असमंजस रहा और न रहेगा'। श्री दिनकर ने आर्य समाज को 'जागृत हिन्दुत्व का समरनाद' बतलाया है और कहा है कि 'रणोन्मत्त हिन्दुत्व के निर्भीक नेता जैसे स्वामी दयानन्द हुए वैसा कोई नहीं हुआ'।

स्वामी दयानन्द की १८८३ ई० में किसी के द्वारा विष दिए जाने से मृत्यु हो गयी। उनके बाद लाला हंसराज, लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द आदि नेताओं के संरक्षण में आर्य समाज निरन्तर हिन्दू समाज के उद्धार का प्रयत्न करता रहा।

राष्ट्रीय शिक्षा—आर्य समाज ने राष्ट्रीय शिक्षण पद्धति की भी स्थापना की। लाहौर में दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज की स्थापना हुई और लाला हंसराज ने इसके प्रधान का कार्य संभाला। इस कालेज ने अनेक राष्ट्रवादी नेताओं को उत्पन्न किया। अन्य अनेक नगरों में भी ऐसे कालेजों की स्थापना की गयी। हरिद्वार के पास गंगा तट पर 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना की गयी। इसमें हिन्दी भाषा के माध्यम से सब विषयों की पढ़ाई की व्यवस्था की गयी। विद्यार्थियों को संस्कृत तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति की भी शिक्षा दी जाती थी। गुरुकुल में ६ वर्ष की उम्र के बालकों को भरती कर उन्हें १६ वर्ष तक शिक्षा दी जाती थी। यह गुरुकुल प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति के आदर्शों के अनुरूप है। अब यह एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन गया

है। इस प्रकार देश में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का श्री गणेश करने का श्रेय आर्य समाज को ही है।

१८९२ ई० में शिक्षा के प्रश्न पर आर्य समाज में दो दल हो गए— कालेज दल और गुरुकुल दल। महात्मा मुंशीराम ने कालेज व्यवस्था को शिक्षा का उचित साधन नहीं माना और उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना कर प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली को पुन: जीवित करने का प्रयत्न किया।

आर्य समाज की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां—आर्य समाज ने हिन्दुत्व के पौराणिक रूप का खण्डन कर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की। आर्य समाज ने हिन्दुओं में नवजीवन का संचार किया। स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर 'दि थियोसोफिस्ट' समाचार पत्र ने यह लिखा था —"उन्होंने मानों पतित हिन्दुत्व के गति हीन जन-समूह में बम फेंक दिया था जिन पर उनकी वक्तृता का प्रभाव पड़ जाता, उनके हृदयों पर ऋषियों के उपदेश के प्रति प्रेम तथा वैदिक ज्ञान की अमिट छाप लग जाती"। शुद्धि आन्दोलन का संगठन कर आर्यसमाज हिन्दू समाज को संरक्षण दिया। ईसाइयत और इस्लाम की चुनौती का आर्य समाज सफल प्रत्युत्तर था। आर्य समाज ने मूर्तिपूजा, बाल-विवाह जाति-भेद, अस्पृश्यता और अवतारवाद का खण्डन किया। इन क्रान्तिकारी सुधारों का समर्थक होने के कारण ही उसे 'इस्लाम का वैदिक संस्करण' कहा जाता है। आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती ने ही सर्वप्रथम हिन्दी के सार्वदेशिक स्वरूप को पहिचाना और उस में अपने विचार प्रकट किए। आर्य समाज ने हिन्दी भाषा के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया है राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति भी सर्वप्रथम आर्य समाज ने ही चालू की। स्वराज्य का मूलमंत्र भी महर्षि दयानन्द ने ही सबसे पहले देश को दिया। सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य भी स्वदेशी राज्य की तुलना में बुरा है।

आर्य समाज ने भारतीयों की मानसिक पराधीनता और आत्म हीनता की भावना को दूर किया। जब अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय नवयुवक पश्चिम की चकाचौंध से आकर्षित हो उधर दौड़ने लगे थे, दयानन्द ने यह घोषणा की कि भारत को धर्म और समाज-व्यवस्था के लिए योरोप जाने की आवश्यकता नहीं है। आर्य समाज ने वैदिक आदर्शों के अनुरूप धर्म तथा समाज को संगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने जोर देकर यह कहा कि भारत को प्राचीन वेदों की ओर लौटना है, क्योंकि वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं। आर्य समाज ने हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक जागृति के लिए जो आन्दोलन किया, उस से वर्तमान राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि स्वामी दयानन्द के आर्य समाज की शिक्षाएँ सार्वभौम हिन्दुत्व के आदर्श से चाहे जितनी भिन्न हों, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि आर्य समाज ने

ब्राह्म समाज के बुद्धिवादी आन्दोलन की अपेक्षा नई राष्ट्रीय चेतना के विकास में अधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आर्य समाज के महान् कार्यों में हम वैदिक धर्म का उद्धार, समाज, सुधार, शुद्धि, जातिभेद–उच्छेद, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय शिक्षा–पद्धति हिन्दी प्रसार, और राष्ट्रीय जागरण का उल्लेख कर सकते हैं।

थियोसोफिकल सोसायटी

थियोसोफिकल सोसायटी भी एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक आन्दोलन था, जिसने देश के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन को प्रभावित किया। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था थी। कर्नल एच० एस० आलकाट और एक रहस्यमयी महिला एच० पी० ब्लेवटास्की ने सन् १८७५ ई० में संयुक्त राज्य अमरीका में इसकी स्थापना की थी। वे दोनों व्यक्ति १८७६ ई० में भारत आए और उन्होंने १८८६ ई० में मद्रास के निकट अडयार में थियोसोफिकल सोसायटी का केन्द्र स्थापित किया। थियोसोफी शब्द थियोस और सोफिया इन दो यूनानी शब्दों से बना है और इसका अर्थ है 'ब्रह्म-विद्या'। थियोसोफिकल सोसायटी का उद्देश्य पूर्वी देशों के महान् धर्मों तथा दर्शनों का अध्ययन तथा प्रसार करना था। थियोसोफी कोई विशेष धर्म का प्रचार न कर सभी धर्मों में समन्वय की इच्छुक थी। सभी धर्मों के समान तत्त्वों के आधार पर उनके बीच एकता स्थापित करना इस संस्था का मुख्य उद्देश्य था। विश्व-बन्धुत्व अथवा विश्व-मानवता का विकास करना इस संस्था का अन्य प्रमुख कार्य था। इस संस्था के कार्यक्रम में परलोक विद्या की साधना भी शामिल थी। ब्लेवटास्की का दावा था कि उन्हें तिब्बत के महात्माओं की आत्माओं के सन्देश प्राप्त होते हैं।

श्रीमती एनीबीसेंट का नेतृत्व—भारत में इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व मुख्य रूप से एक अंग्रेज महिला श्रीमती एनीबीसेंट ने किया। एनीबीसेंट एक अत्यन्त उच्च शिक्षा प्राप्त कुलीन वंश की कन्या थी। उनकी वक्तृत्व कला अनूठी थी। ४६ वर्ष की अवस्था में १६ नवम्बर सन् १८६३ ई० में वे भारत आयी और उन्होंने पूरी तरह अपने को हिन्दुत्व के रंग में रंग डाला। उन्होंने भारतीय वेश-भूषा और खानपान को पूर्णतः अपना लिया। अधिकांश समय वे काशी में रहीं, जो उन्हें बहुत प्रिय थी। काशी में उन्होंने एक सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की जो आगे जाकर हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाएँ लिखीं तथा गीता का अनुवाद किया।

एनीबीसेंट का भारत व हिन्दुत्व से अगाध प्रेम—श्रीमती एनीबीसेंट हिन्दू धर्म तथा भारत की परम भक्त थीं। उनकी मान्यता थी कि भारत का भविष्य हिन्दू धर्म तथा संस्कृति से जुड़ा है। एक बार अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि 'हिन्दुत्व ही भारत का प्राण है। हिन्दुत्व ही वह

मिट्टी है जिसमें भारतवर्ष का मूल गड़ा हुआ है। हिन्दुत्व के बिना भारत के सामने कोई भविष्य नहीं है। भारतवर्ष के इतिहास, साहित्य, कला और स्मारक सब पर हिन्दुत्व स्पष्ट रूप से खुदा हुआ है'।

हिन्दू धर्म के समग्र रूप का प्रबल वैज्ञानिक समर्थन—श्रीमती एनी बीसेंट का महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने हिन्दू धर्म के समग्ररूप—प्राचीन विश्वासों तथा कर्मकाण्डों का बड़ा प्रबल एवं वैज्ञानिक समर्थन किया। उनसे पूर्व ब्राह्मण समाज तथा आर्य समाज ने हिन्दुत्व के संशोधित रूप का ही प्रचार किया था, समग्र हिन्दुत्व का नहीं। राममोहनराय तथा दयानन्द ने निराकार ईश्वर की उपासना पर बल दिया था और मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ, व्रत-अनुष्ठानादि पौराणिक बातों का खण्डन किया था। श्रीमती एनी बीसेंट ने अपने ओजस्वी भाषणों में हिन्दुत्व के समग्र रूप का प्रबल समर्थन किया। उनकी दृष्टि वेद तथा उपनिषदों तक ही सीमित न रही। उन्होंने धर्मशास्त्र, पुराण तथा महाभारत आदि सभी ग्रन्थों के महत्व को मान्यता दी। उन्होंने अवतारवाद, मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, योग, यज्ञवाद, पुनर्जन्म, कर्मवाद, तीर्थ, व्रत तथा विविध धार्मिक अनुष्ठान—इन सभी हिन्दुत्व की प्रचलित मान्यताओं का आख्यान किया। सन् १९१४ ई० में उन्होंने एक भाषण में यह घोषणा की कि "चालीस वर्षों के गम्भीर चिन्तन के बाद मैं यह कह रही हूं कि विश्व के सभी धर्मों में हिन्दू धर्म से बढ़कर पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनपूर्ण एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा कोई नहीं है।"

हिन्दुओं की मानसिक हीनता को हटाना—श्रीमती एनी बीसेंट ने हिन्दुत्व का गौरव-गान कर हिन्दुओं की मानसिक हीनता तथा दासता को हटाया। उन्होंने हिन्दुओं में अपने धर्म के प्रति आस्था तथा अपने इतिहास के प्रति गर्व की भावना जागृत की। जिस समय वे भारत में आयीं, हिन्दुत्व के सामने गहन संकट उपस्थित था। अंग्रेजी सभ्यता तथा धर्म की चकाचौंध ने अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीयों को पराभूत कर रखा था। शिक्षित हिन्दू अन्धे होकर अंग्रेजों के तौर-तरीकों की नकल कर रहे थे। अपने धर्म तथा संस्कृति से उनका विश्वास उठने लगा था। अपने अतीत के प्रति उनमें कोई प्रेम बाकी न रहा था। ऐसे समय में श्रीमती एनी बीसेण्ट ने प्राचीन भारतीय आदर्शों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दू धर्म, दर्शन तथा संस्कृति की महानता तथा गौरव का प्रतिपादन किया। योरोप तथा अमरीका के लोगों के सामने भी उन्होंने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की महत्ता तथा गौरव का गान किया। उन्होंने यह मत प्रकट किया कि हिन्दुत्व के जागरण से ही समस्त मानवता का कल्याण हो सकता है। उस महान् अंग्रेजी महिला के मुख से जब अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीयों ने हिन्दू धर्म व संस्कृति का गौरव-गान सुना तो उनका पुनः अपने धर्म

विश्वास स्थिर हुआ। जो भारतीय योरोपीय सभ्यता एवं ज्ञान के प्रभाव में आकर हिन्दुत्व को शंका की दृष्टि से देखने लगे थे, एनी बीसेण्ट के भाषणों ने उनकी आँखें खोल दी। सर वैलेनटाइन शिरोल ने इस प्रभाव की ओर इस प्रकार संकेत किया है कि "जब अति श्रेष्ठ बौद्धिक शक्तियों तथा अद्भुत वक्तृत्व शक्ति से सुसज्जित योरोपियन भारत जाकर भारतीयों से यह कहे कि उच्चतम ज्ञान की कुंजी योरोपवासी के नहीं, तुम्हारे पास है तथा तुम्हारे देवता, तुम्हारे दर्शन तथा तुम्हारी नैतिकता की योरोपवाले छाया भी नहीं छू सकते, तब इसमें क्या आश्चर्य है कि भारतवासी हमारी सभ्यता से पीठ फेरलें।"

राजनीति के क्षेत्र में—सन् १९१४ ई० में श्रीमती एनी बीसेंट ने देश की राजनीति में प्रवेश किया। वे लोक-मान्य तिलक द्वारा चलाए गए होम रूल आन्दोलन में शामिल हुईं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति पद पर भी वह चुनी गयीं। उन्होंने भारत में राजनीतिक चेतना जगाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया।

श्रीमती एनी बीसेंट जन्म से अंग्रेज होते हुए भी हृदय से पूरी तरह भारतीय थीं। महात्मा गांधी ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है कि, "जब तक भारतवर्ष जीवित है, एनी बीसेंट की सेवाएँ भी जीवित रहेंगी। उन्होंने भारत को अपनी जन्म-भूमि मान लिया था। उनके पास देने योग्य जो कुछ भी था, उन्होंने भारत के चरणों पर चढ़ा दिया था; इसीलिए भारतवासियों की दृष्टि में उतनी प्यारी और श्रद्धेया होगयीं।"

रामकृष्ण मिशन

धर्म के जीते-जागते रूप रामकृष्ण परमहंस—ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज तथा थियोसोफी आन्दोलनों के प्रचार से हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति के गौरव की प्रतिष्ठा तो हुई, किन्तु भारत के लोग अब यह जानने को उत्सुक थे कि धर्म का जीता-जागता रूप कैसा होता है। रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३६ से १८८६ ई०) के जीवन में भारतीयों ने धर्म के सच्चे स्वरूप का दर्शन किया। रामकृष्ण का बचपन का नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था और इनका जन्म १८३६ ई० में बंगाल के हुगली जिले में एक गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन से ही रामकृष्ण में शिक्षा के प्रति रुचि नहीं थी। वे शुरू से ही धार्मिक चिन्तन तथा ध्यान में मग्न रहते थे। १९ वर्ष की आयु में वे अपने गाँव से कलकत्ते आ गए और वहीं कुछ समय पश्चात् कलकत्ते के पास दक्षिणेश्वर में रासमणि द्वारा स्थापित काली-मन्दिर में पुजारी नियुक्त हुए। पुजारी के रूप में कार्य करते-करते रामकृष्ण के मन में काली माँ के प्रति अगाध भक्ति व श्रद्धा पैदा हो गयी। उनके बाद काली माँ की प्रतिमा के सामने वे शिशु का सा व्यवहार करने थे। जब रामकृष्ण २४ वर्ष के हुए उनका विवाह ५ वर्ष की कन्या शारदामणि के साथ कर दिया

गया। युवती होने पर शारदामणि जीवनपर्यन्त दक्षिणेश्वर में पति के साथ रहीं। किन्तु रामकृष्ण ने उन्हें कभी पत्नी रूप में नहीं देखा। उन्होंने शारदामणि में माँ काली का दर्शन किया और उसको माँ कहकर उसकी पूजा की।

धर्म की साकार प्रतिमा—रामकृष्ण को जन्म से ही आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त थी। उन्हें दिव्योन्माद रहता था। ईश्वर का नाम सुनते ही उन्हें समाधि लग जाया करती थी। उन्होंने जीवन-पर्यन्त विविध प्रकार की साधनाओं द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार का प्रयास किया। भैरवी नामक एक ब्राह्मण संन्यासिनी ने दक्षिणेश्वर में आकर रामकृष्ण को तान्त्रिक विधि की साधना सिखायी। फिर रामकृष्ण ने वैष्णव सम्प्रदाय की साधना का अभ्यास कर श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त किया। तोतापुरी नामक सन्यासी ने उन्हें वेदान्त की दीक्षा दी और निर्विकल्प समाधि का अभ्यास कराया। रामकृष्ण ने एक दिन में ही निर्विकल्प समाधि में भी सफलता प्राप्त करली। रामकृष्ण ने कुछ समय तक मुसलमान बनकर इस्लाम की भी साधना की। यही नहीं, उन्होंने कुछ समय ईसाई धर्म की साधना भी की। उन्होंने साधना की हर विधि द्वारा धर्म के मूल तत्त्व का साक्षात्कार किया। उनका जीवन विविध प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं की प्रयोगशाला बन गया। उनका समस्त जीवन आध्यात्मिक साधना से ओत-प्रोत था। उन्होंने अपनी सतत साधना द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्म ज्ञान तथा विद्या का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। रामकृष्ण दयानन्द तथा राममोहन राय की तरह विद्वान् नहीं थे। वे एक उच्चकोटि के सन्त थे, जिनका जीवन धर्म की साकार प्रतिमा था। रामकृष्ण भारतवर्ष की हजारों वर्षों की आध्यात्मिक उपलब्धियों के मूर्तिमान प्रतीक थे। राममोहन राय, दयानन्द, केशव, एनी बीसेंट आदि नेताओं ने धर्म के स्वरूप की व्याख्या तो की थी, किन्तु रामकृष्ण के आध्यात्मिक जीवन को देखकर भारतीयों ने यह जाना कि धर्म वास्तव में कैसा होता है। ब्राह्म-समाजी साधक आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है कि "श्री रामकृष्ण के दर्शन होने से पूर्व धर्म किसे कहते हैं, यह कोई समझता भी नहीं था। सब आडम्बर ही था। धार्मिक जीवन कैसा होता है, यह बात रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर जान पड़ी।"

रामकृष्ण की शिक्षाएँ—रामकृष्ण यद्यपि विद्वान् न थे, किन्तु उन्होंने वेदान्त के सत्यों की बड़े ही सुन्दर ढंग से व्याख्या की। उन्होंने अपने जीवन में वेदान्त के सत्यों का व्यावहारिक प्रयोग कर दिखाया। राममोहन राय तथा दयानन्द की भाँति रामकृष्ण ने न तो कोई सम्प्रदाय या आश्रम ही स्थापित किया और न धर्म पर भाषण ही दिए। जब उनकी आश्चर्यजनक आध्यात्मिक शक्ति का समाचार देश में फैला तो दूर-दूर से भक्त उनके दर्शनार्थ आने लगे। रामकृष्ण भारत की परम्परागत सन्त-पद्धति से उपदेश [illegible] थे। धर्म

के गहन सत्य को वे बहुत ही सीधे-सादे वाक्यों में दृष्टान्त देकर समझाते थे। उनकी शिक्षाओं का सार संक्षेप में निम्न है—ईश्वर-साक्षात्कार ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। उच्च आध्यात्मिक जीवन का विकास कर हम ईश्वर के दर्शन कर सकते हैं। इसके लिए विषय-वासना का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। मन को कञ्चन (स्वर्ण) और कामिनी से हटाकर ईश्वर की ओर मोड़ना चाहिए। यदि हम निरन्तर ईश्वर का ध्यान रखें तो संसार को त्यागे बिना ही गृहस्थ में रहते हुए भी आध्यात्मिक विकास हो सकता है। ईश्वर-उपासना का व्यावहारिक मार्ग बतलाते हुए वे कहते, "जब तुम काम करते होओ तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान् के पाँव पकड़े रहो। जब काम समाप्त हो जाय तो भगवान् के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ लो।" रामकृष्ण कोरे ज्ञान व विद्या की अपेक्षा चरित्र तथा नैतिक गुणों को अधिक महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि ईश्वर अनुभूति का विषय है, न कि तर्क तथा शास्त्रार्थ का।

सब धर्मों की सत्यता में विश्वास—रामकृष्ण सभी धर्मों की सत्यता में विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि सभी धर्म एक ही ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में विविध प्रकार की साधना द्वारा विभिन्न धर्मों के समन्वय का प्रयोग किया था। उन्होंने साकार काली माँ की उपासना से लेकर अद्वैत वेदान्त की निर्विकल्प समाधि तक का अभ्यास किया था। एक बार एक व्यक्ति ने उनसे पूछा कि 'जब सत्य एक है तो फिर धर्म अनेक क्यों हैं'? रामकृष्ण ने इस प्रकार उत्तर दिया—'ईश्वर एक है, किन्तु विभिन्न कालों व देशों में वह भिन्न-भिन्न नामों से व भावों से पूजा जाता है। इसीलिए धर्मों की अनेकता देखने को मिलती है।' धार्मिक विचारों की यह उदारता रामकृष्ण की महत्वपूर्ण देन है। धर्म के नाम पर मानवता आज कई वर्गों में बँटी है। मानव-एकता का स्वप्न रामकृष्ण के सर्व-धर्म-समन्वय के आदर्श द्वारा ही पूरा हो सकता है।

हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार—ईसाई पादरी हिन्दू देवी-देवताओं तथा मूर्ति-पूजा का उपहास करते थे, जिससे अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों की आस्था अपने धर्म से हट रही थी। यह सच है कि राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन तथा दयानन्द आदि सुधारकों ने हिन्दू धर्म की ईसाइयत के आक्रमणों से रक्षा की। किन्तु इन सुधारकों ने हिन्दुत्व के समग्र रूप का नहीं, केवल संशोधित रूप का ही समर्थन किया था। परन्तु रामकृष्ण ने तो मूर्ति-पूजा, काली पूजा, धार्मिक अनुष्ठान, तान्त्रिक क्रिया—हिन्दुत्व की इन सभी बातों की साधना और समर्थन किया। उनका स्वयं का जीवन विविध प्रकार की साधनाओं की प्रयोगशाला बन गया था। धर्म के मामले में रामकृष्ण किसी भी प्रकार की कट्टरता के विरोधी थे। जब शिक्षित हिन्दुओं ने रामकृष्ण के जीवन में भारत

की महान् आध्यात्मिक परम्परा के जीते-जागते रूप का दर्शन किया तो उनकी अपने धर्म तथा संस्कृति में आस्था जम गयी। जब भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग योरोप की आधिभौतिकता के प्रवाह में नास्तिकता की ओर बह रहे थे, रामकृष्ण ने भारत में दृढ़तापूर्वक आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

रामकृष्ण ने अपने जीवन के उदाहरण द्वारा भौतिक विज्ञान की असाधारण प्रगति से चकित विश्व को आध्यात्मिक सत्य का दर्शन कराया। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार यह उनकी विश्व को महान् देन है। रामकृष्ण की आध्यात्मिकता पर मुग्ध होकर सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर तथा फ्रांसीसी विद्वान् रोम्याँ रोलाँ ने उनका जीवन-चरित लिखा। महात्मा गांधी ने उनके जीवन को व्यवहार में आए हुए जीवित धर्म की कहानी बताया।

स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण परमहंस के सबसे महान् शिष्य विवेकानन्द हुए। उन्होंने अपने गुरु के महान् सन्देश को समस्त भारत, योरोप तथा अमरीका में फैलाया। रामकृष्ण ने आध्यात्मिक साधना की जो विपुल अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, विवेकानन्द ने उनका व्यावहारिक जगत् में प्रयोग कर दिखाया। श्री दिनकर के शब्दों में "रामकृष्ण दर्शन थे और विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। स्वामी विवेकानन्द का घर का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। १२ जनवरी, सन् १८६३ ई० में उनका जन्म कलकत्ते में एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। उन्होंने शुरू से ही अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी और बड़ी योग्यता से बी० ए० पास किया था। वे एक होनहार नवयुवक थे। उन पर योरोप के बुद्धिवाद और उदारवाद का भारी प्रभाव पड़ा था। उन्होंने जान स्टुअर्ट मिल, ह्यूम तथा हर्बर्ट स्पेन्सर के दर्शन का गहन अध्ययन किया था। उच्चकोटि की बौद्धिकता के साथ-साथ उनमें जिज्ञासा भी प्रबल थी। पहले वे ब्राह्म-समाज की ओर आकर्षित हुए, किन्तु ब्राह्म समाज के नेता उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा शान्त न कर पाए। किसी सम्बन्धी के कहने पर वह १८८१ ई० में वे दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण से मिलने गए।

रामकृष्ण से भेंट—रामकृष्ण के सम्पर्क ने नरेन्द्र के जीवन की दिशा को ही बदल डाला। पहली मुलाकात में ही रामकृष्ण ने नरेन्द्र के प्रति गहरी आत्मीयता प्रकट की। नरेन्द्र ने रामकृष्ण से पूछा—'क्या आपने ईश्वर को देखा है?' रामकृष्ण ने तुरन्त उत्तर दिया—'हाँ। मैं ईश्वर को वैसे ही देखता हूँ जैसे मैं तुम्हें देखता हूँ। तुम भी चाहो तो उसे देख सकते हो।' रामकृष्ण के इस कथन ने नरेन्द्र प्रभावित हुआ। जब दूसरी बार नरेन्द्र रामकृष्ण से मिला तो उन्होंने अपना दायाँ पाँव नरेन्द्र के शरीर पर रखा। इस स्पर्श से नरेन्द्र को जो अनुभूति हुई, उसका उसने इस प्रकार वर्णन किया है—'आँखें खुली होने पर भी मैंने दीवारों समेत सारे कमरे को शून्य में विलीन

होने देना। मैंने व्यक्तित्व सहित सारा ब्रह्माण्ड ही एक सर्व-व्यापक रहस्यमय शून्य में लुप्त होते दिखायी पड़ा।' अब पाश्चात्य बुद्धिवाद एवं नास्तिकता का अनुयायी नरेन्द्र रामकृष्ण की आध्यात्मिकता से अभिभूत हो गया था। नरेन्द्र ने रामकृष्ण को अपना गुरु मान लिया और गुरु के निरीक्षण में उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास होने लगा। रामकृष्ण ने नरेन्द्र को मानव में ईश्वर के दर्शन करने की प्रेरणा दी। उन्होंने बताया कि मनुष्य ईश्वर का रूप है और उसकी सेवा सबसे ऊँची धार्मिक साधना है। विवेकानन्द ने अपना समस्त जीवन इस साधना में लगाया।

रामकृष्ण मठ—रामकृष्ण की काशीपुर में बीमारी के समय उनके शिष्यों में परस्पर प्रेम तथा भाईचारे की भावना का विकास हुआ। रामकृष्ण ने अपनी मृत्यु से पूर्व नरेन्द्रनाथ को अपने पास बुलाया और उसे अपनी आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रदान कीं। गुरु की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों की इस मण्डली ने विवेकानन्द के नेतृत्व में रामकृष्ण मठ की स्थापना की। रामकृष्ण के इन शिष्यों में अधिकतर अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय बंगाली नवयुवक थे। इन शिष्यों ने विधिवत् सन्यास की दीक्षा ली और सन्यासी नाम ग्रहण किए। प्रारम्भ में इनका उद्देश्य आध्यात्मिक साधना करना तथा वेदान्त के सत्यों का प्रचार करना था।

शिकागो सर्व-धर्म-सम्मेलन—अनेक प्रकार के कष्ट तथा बाधाओं को सहन कर स्वामी विवेकानन्द अमरीका पहुँचे और वहाँ उन्होंने १८६३ ई० में शिकागो नगर में होने वाले सर्व-धर्म-सम्मेलन में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। इस सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द को आश्चर्यजनक सफलता मिली। अपने प्रथम भाषण में जब उन्होंने अमरीकावासियों को 'भाई और बहिन' नाम से सम्बोधित किया तो इसका भारी करतल-ध्वनि से स्वागत हुआ। इस सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म पर कई महत्वपूर्ण भाषण दिए। पहले भाषण में उन्होंने हिन्दू धर्म की उदारता पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि हिन्दुत्व के शब्दकोष में 'अहिन्दू' शब्द ही नहीं है। उन्होंने हिन्दू धर्म की महत्ता बतलाते हुए कहा कि हिन्दू धर्म का आधार शोषण, रक्तपात या हिंसा नहीं, वरन् प्रेम है। स्वामीजी ने वेदान्त के सत्य पर प्रकाश डाला। उनके अगाध ज्ञान, विद्वत्ता, भाषण-कौशल तथा उदार दृष्टिकोण से श्रोतागण मन्त्र-मुग्ध हो गए। उनके भाषणों की प्रशंसा में 'द न्यूयार्क हेराल्ड' नामक पत्र ने लिखा था कि 'धर्मों के सम्मेलन में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म प्रचारक भेजने की बात कितनी मूर्खतापूर्ण है।' सर्व-धर्म-सम्मेलन में प्राप्त प्रतिष्ठा ने विवेकानन्द को विश्व-प्रसिद्ध व्यक्तित्व बना दिया।

विदेशों में विवेकानन्द—स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका के अनेक नगरों की यात्रा की और वहाँ वेदान्त पर अनेक भाषण दिए। जहाँ कहीं वे गए, उनका हार्दिक स्वागत हुआ। उन्होंने अपने भाषणों द्वारा अमरीका के कई नगरों में आध्यात्मिकता के बीज बोए। उनके प्रयत्नों से अमरीका में वेदान्त के अनेक अध्ययन केन्द्र खोले गए। अमरीका से स्वामीजी पेरिस होकर लन्दन गए। उन्होंने इङ्गलैंड तथा योरोप के कई नगरों में हिन्दुत्व तथा वेदान्त दर्शन पर भाषण दिए। इस प्रकार उन्होंने योरोप तथा अमरीका में हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के गौरव की प्रतिष्ठा की। १८६७ ई० में स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे और यहाँ देशवासियों ने इस महापुरुष का दिल खोल कर स्वागत किया। १८६६ ई० में उन्होंने दूसरी बार अमरीका की यात्रा की। इस बार उन्होंने न्यूयार्क में 'वेदान्त सोसायटी' की स्थापना की और लास एंजिल्स तथा सैनफ्रान्सिस्को में वेदान्त केन्द्र खोले। कैलिफोर्निया के सैन अन्टेनिवैल में उन्होंने शान्ति-आश्रम स्थापित किया। इन सभी केन्द्रों में रामकृष्ण मिशन के संन्यासी रहकर वेदान्त का प्रचार करते थे।

स्वामी विवेकानन्द ने पेरिस में धर्मों के दूसरे सम्मेलन में भी भाग लिया और वहाँ हिन्दू धर्म व संस्कृति का प्रबल समर्थन किया। योरोप तथा अमरीका में जहाँ-जहाँ भी वे गए, उन्होंने हिन्दू वेदान्त के आध्यात्मिक तत्वों का बहुत ही युक्तिपूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया। पश्चिमी देशों में अपने प्रवास काल में उन्होंने देखा कि वहाँ के निवासियों को आश्चर्यजनक भौतिक उप-लब्धियों तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के बावजूद भी सच्चा सुख व शान्ति नहीं मिल सकी है। स्वामीजी ने वहाँ के लोगों को जीवन में आध्यात्मिकता का विकास करने की सलाह दी। उन्होंने पश्चिम को वहाँ तेजी से बढ़ती हुई आधिभौतिकता के विरुद्ध चेतावनी दी और उन्हें निवृत्ति या त्याग का उपदेश दिया।

हिन्दुत्व तथा भारत की महान् सेवा—स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और संस्कृति की मैं मंत्र भारत में ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व में प्रतिष्ठा की। अपने भाषणों तथा रचनाओं द्वारा उन्होंने भारतीयों में अपने अतीत के इतिहास साहित्य तथा सांस्कृतिक धरोहर के प्रति गर्व तथा श्रद्धा की भावना जगायी। उन्होंने पश्चिमी देशों में हिन्दू धर्म व संस्कृति की पताका फहरायी। उनकी यात्रा के फलस्वरूप हिन्दुत्व को अन्तर्राष्ट्रीय गौरव प्राप्त हुआ। विदेशों में स्वामी विवेकानन्द की सफलता का आश्चर्यजनक प्रभाव भारतीय जन-मानस पर पड़ा। उन अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीयों की आँखें खुलीं जो पश्चिम की आधिभौतिकता तथा बुद्धिवाद से प्रभावित होकर ईसाइयत अथवा नास्तिकता की ओर दौड़ रहे थे। मानसिक दासता तथा आत्म-हीनता का भाव हटा और उनमें आत्म-गौरव की भावना जागी। स्वामी विवेकानन्द के भाषणों तथा

महान् कार्यों से समस्त भारत में सांस्कृतिक चेतना की लहर दौड़ गयी। उन्हें देश की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जनक कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। सर वैलेंटाइन शिरोल के अनुसार विवेकानन्द 'पहला हिन्दू था जिसके व्यक्तित्व ने विदेश में भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता तथा राष्ट्रीयता पर उसके नवजात अधिकार के लिए प्रदर्शनात्मक स्वीकृति प्राप्त की।'

वेदान्त के महत्त्व का प्रतिपादन और उसकी प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या—स्वामीजी ने वेदान्त-दर्शन के सत्य का सुन्दर ढंग से व्याख्यान किया और वेदान्त की विश्व-भूमिका पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि वेदान्त की आध्यात्मिकता के बल पर भारत सारे विश्व को जीत सकता है। परन्तु विवेकानन्द वेदान्त की परंपरागत व्याख्या से सहमत न थे। अभी तक भारतीय सन्त सामाजिक व नागरिक जीवन से विमुख होकर ध्यान व समाधि द्वारा ब्रह्म से एकता का अनुभव करते रहे थे। विवेकानन्द ने साक्षात्कार की इस विधि का खण्डन किया और कहा कि ईश्वर या ब्रह्म से साक्षात्कार के लिए सांसारिक जीवन से दूर भागना अनुचित है। उन्होंने जोर देकर कहा कि 'मनुष्यों में ही ईश्वर को पहिचानो, क्योंकि वे ईश्वर के आगार हैं। ईश्वर की सच्ची पूजा उन प्राणियों की सेवा है, जिनकी हमने अभी तक उपेक्षा की है या जिन्हें दबाये रखा है'। उन्होंने दीन-दुःखी तथा दरिद्र मानव को ईश्वर का रूप बताया और इस शिक्षा के महत्त्व को दर्शाने के लिए 'दरिद्रनारायण' शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार विवेकानन्द ने धर्म के क्षेत्र को व्यापक बनाया और उसमें लोक-कल्याण का समावेश किया। उन्होंने अमरीका से अपने साथी सन्यासियों को लिखा था कि 'दीन, अज्ञानी, अनपढ़ व दुःखी मनुष्य ही तुम्हारे ईश्वर हैं और उनकी सेवा ही सर्वोच्च धर्म है, उन्होंने दरिद्रनारायण की पूजा पर सर्वाधिक बल दिया। उन्होंने कहा कि 'सच्ची पूजा यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में अपने आप को लगादें। जब पड़ोसी भूखा मरता हो तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। संसार के अगणित नर-नारियों में परमात्मा भासमान है। वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।'

समाज-सेवा कार्य—भारत का भ्रमण करते हुए स्वामीजी ने यह देखा कि भारत वासी कितनी दीन और हीन अवस्था में हैं। दीन-दुःखी देशवासियों का उद्धार कैसे हो – यह प्रश्न स्वामी विवेकानन्द को जीवन भर सताता रहा। उनका कहना था कि बहुसंख्यक भारतीय सामाजिक अत्याचार के शिकार हैं। वे पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हें मनुष्य के स्तर तक उठाना सर्व प्रथम कार्य है। उनकी मान्यता थी कि भारत में धर्म की शिक्षा का उपयुक्त समय नहीं है। पहले देश की गरीबी तथा दीन अवस्था दूर होना आवश्यक है। देश के करोड़ों भूखे, नंगे लोगों को भोजन-वस्त्र प्राप्त कराना

तथा पददलित निम्न वर्ग को सामाजिक न्याय प्राप्त कराना सर्व प्रथम कर्त्तव्य है। दलित-उद्धार विवेकानन्द के राष्ट्र-निर्माण कार्यक्रम का प्रमुख अंग था। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि अपने पीड़ित देशवासियों के उद्धार के पुनीत कार्य के लिए उन्हें मोक्ष खोकर नरक में भी जाना स्वीकार है। स्वामीजी जन्म पर आधारित वर्णभेद को स्वीकार नहीं करते थे। वे अस्पृश्यता के घोर विरोधी थे।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना—विदेशों से लौटने के बाद विवेकानन्द ने समाज-सेवा कार्य को व्यवस्थित रूप देने के उद्देश्य से 'रामकृष्ण मिशन' नाम से एक नया संगठन ५ मई सन् १८६७ ई० में स्थापित किया। इस संगठन के अन्तर्गत समाज सेवा हेतु उन्होंने शिक्षित मध्यमवर्ग से युवक भरती किए। इस संगठन की ओर से दुर्भिक्ष, महामारी व बाढ़ आदि आपदाओं के समय सहायता कार्य संगठित किए गए। १८६७ ई० में मुर्शिदाबाद आदि स्थानों पर अकालराहत कार्य किया गया। १८६८ ई० में कलकत्ते में प्लेग फैलने पर सहायता कार्य किया गया। इस मिशन का कार्यक्षेत्र आगे जाकर सारे भारत में फैल गया। अनेक स्थानों में रोगियों के लिए चिकित्सालय तथा शिक्षण के लिए विद्यालय खोले गए। दीन-दुखियों की सहायता के लिए जगह-जगह रामकृष्ण मिशन की ओर से सेवाश्रम भी खोले गए।

राष्ट्रीय चेतना का प्रसार—स्वामी विवेकानन्द एक सन्त ही नहीं, महान् देश-भक्त भी थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक आधार प्रदान किया। उन्होंने देश में सांस्कृतिक चेतना की जो धारा बहायी, उसी पर भारतीय राष्ट्रीयता का भवन खड़ा किया जा सका। उन्होंने यह घोषणा की कि भारत अपने वेदान्त व आध्यात्मिकता की धरोहर के बल पर समस्त विश्व पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त कर सकता है। किन्तु भारत यह महत्त्वपूर्ण भूमिका तब तक पूरी नहीं कर सकता, जब तक कि वह वर्तमान दासता व दीनता के पाश में बँधा है। स्वामी विवेकानन्द की मान्यता थी कि भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा भौतिक महानता विश्व मानवता के उद्धार के लिए अनिवार्य है। विवेकानन्द ने अपने भाषणों द्वारा भारत के अतीत की महानता तथा गौरव में देशवासियों की श्रद्धा जागृत की। उन्होंने देशवासियों में राजनीतिक स्वाधीनता की इच्छा तथा भ्रातृत्व की भावना उत्पन्न की। उन्होंने भगवद्गीता के महापुरुष कृष्ण को भारतीय राष्ट्र का आदर्श बताया उन्होंने भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिए समुचित सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने गीता तथा वेदान्त की शिक्षाओं को भारतीयों के लिए महत्त्वपूर्ण बतलाया, जो आगे जाकर अनेक राष्ट्रीय नेताओं तथा क्रांतिकारी शहीदों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुई।

भारतीय तथा पश्चिमी दृष्टिकोणों में समन्वय—स्वामी विवेकानन्द

का दृष्टिकोण अत्यन्त मानवीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय था। वे भारतीय तथा पश्चिमी दृष्टिकोणों में समन्वय के समर्थक थे। अमरीका का तथा योरोप में उन्होंने देखा कि वहाँ भौतिक समृद्धि तथा वैज्ञानिक आविष्कार आध्यात्मिक दृष्टिकोण के बिना अशान्ति का कारण बने हुए हैं। निवृत्ति का भारतीय जीवन पर भारी प्रभाव था। विवेकानन्द ने देखा कि यहाँ के लोग दार्शनिक स्तर पर संसार व जीवन को मिथ्या मानते मानते अपने देश तथा समाज से बिल्कुल विमुख हो गए हैं। स्वामीजी का सुझाव था कि पश्चिम तथा भारत के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा यह असन्तुलन ठीक किया जा सकता है। उनका कहना था कि पश्चिम को भारत से आध्यात्मिक ज्ञान लेकर उसके साथ अपनी भौतिक सभ्यता का समन्वय करना चाहिये। दूसरी ओर भारत को बदले में पश्चिम से विज्ञान, तकनीकी कौशल, जीवन स्तर ऊंचा करने के साधन, कर्मठता तथा परस्पर सहयोग से कार्य करने की कला ग्रहण करनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द पश्चिम के समानता, स्वतन्त्रता, कर्मठता एवं वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति—इन गुणों का भारतीय राष्ट्रीय जीवन में इस तरह समावेश करना चाहते थे कि जिससे भारत की आध्यात्मिक परम्परा की क्षति न हो।

विवेकानन्द के कार्यों का महत्त्व—स्वामी विवेकानन्द ने परमहंस राम॰ कृष्ण की शिक्षाओं तथा आध्यात्मिक सन्देश को न केवल भारत में वरन् सारे विश्व में फैलाया। यही नहीं, उन्होंने अपने गुरु के आदर्शों को क्रियान्वित करने के लिए रामकृष्ण मठ व मिशन नाम से एक स्थायी संगठन बनाया जो भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक शक्ति बन गया है। रामकृष्ण के मानव-सेवा के आदर्श का व्यवहार में प्रयोग कर विवेकानन्द ने भारत के नवनिर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। डा॰ रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार यह उनकी महान् देन है। उन्होंने हिन्दुत्व का उद्धार कर उसे विश्व में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान दिलाया। इस महान् संन्यासी के जीवन तथा उपदेशों ने राष्ट्रीय जीवन-प्रवाह को सबल बनाया। उन्होंने पददलित तथा हीनता से ग्रसित भारतवासियों में नयी आशा व आकांक्षाएँ उत्पन्न कीं। उस महापुरुष के भाषणों से समस्त भारत में सांस्कृतिक व राष्ट्रीय चेतना की लहर दौड़ गई। स्वामी विवेकानन्द आधुनिक भारत के व्याख्याता थे। उन्होंने आधुनिक भारत की सभी प्रकार की समस्याओं पर अपने महत्त्वपूर्ण मौलिक विचार प्रस्तुत किए थे। उन्होंने अभिनव भारत के जिस रूप की कल्पना की, वह परवर्ती भारतीय नेताओं के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। वे आधुनिक भारत की समस्त आशाओं तथा आकांक्षाओं के प्रतीक थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ठीक ही कहा है कि 'यदि कोई भारत को समझना चाहे तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।'

रामकृष्ण मठ व मिशन—३९ वर्ष की अवस्था में ही आधुनिक भारत के स्वप्न-द्रष्टा इस महापुरुष का देहान्त हो गया। परन्तु उनके द्वारा स्थापित मठ व मिशन उनके महान् कार्य को सफलतापूर्वक करते रहे। मठ की ओर से आध्यात्मिकता का प्रसार करने के उद्देश्य से दो समाचार पत्र 'प्रबुद्ध भारत' अंग्रेजी का मासिक और 'उद्बोधन' बंगाली पाक्षिक भी निकाले जाते रहे। स्वामी विवेकानन्द के भाषणों का भी कई ग्रन्थों में प्रकाशन हुआ, जैसे (My Master), राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि। इस रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ भारत के विभिन्न नगरों में हैं। चिकित्सालय, अनाथालय तथा विद्यालय आदि खोलकर आज भी यह महत्वपूर्ण समाज-सेवा कर रहा है।

पारसी समाज सुधार आन्दोलन—१९वीं शताब्दी की सुधारवादी लहर ने भारत के पारसी सम्प्रदाय को भी स्पर्श किया। दादा भाई नौरोजी, जे० वी० वाचा, एस० एस० बंगाली और नौरोजी फरदूनजी आदि पारसी नेताओं ने सन् १८५१ ई० में रहनुमाई मज़दयासनन् सभा अर्थात् धार्मिक सुधार संघ स्थापित किया। इसका उद्देश्य जरथुस्त्र के धर्म की पुरानी पवित्रता की पुनः स्थापना करना तथा पारसियों की सामाजिक अवस्था में सुधार करना था। जे० रुस्तमजी ने पारसी संप्रदाय में पश्चिमी शिक्षा का प्रचार किया। पारसी समाज के एक प्रमुख नेता बी० एम० मालाबारी थे जिन्होंने बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। उन्होंने भारतीय नारी, पत्रकारिता तथा शिक्षा को भी महत्वपूर्ण सेवाएँ कीं।

अलीगढ़ मुस्लिम आन्दोलन—१९वीं शताब्दी में सर सैयद अहमदखाँ के नेतृत्व में मुस्लिम समाज में भी सुधार का आन्दोलन हुआ। सर सैयद भारतीय मुसलमानों को आधुनिकता के रंग में रंगना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि भारत के मुसलमान इस्लामी शिक्षा के साथ साथ योरोपीय तर्कशास्त्र व विज्ञान का भी अध्ययन करें। इसी उद्देश्य से इङ्गलैण्ड से लौटने पर उन्होंने १८७५ ई० में अलीगढ़ में मोहमडन ओरियण्टल कालेज स्थापित किया। यह कालेज मुस्लिम शिक्षा प्रसार में विशेष सहायक सिद्ध हुआ। आगे जाकर १९२० ई० में यह मुस्लिम विश्वविद्यालय बन गया। सर सैयद अहमद की प्रेरणा से यहाँ अङ्गरेजी साहित्य और विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों का बड़े पैमाने पर उर्दू में अनुवाद किया गया। सर सैयद ने [illegible] प्रथा का विरोध किया। उन्होंने नारी-शिक्षा का प्रचार [illegible]
सुधारों के पक्ष में जनमत तैयार करने [illegible]
नामक पत्र भी [illegible]
ने भारत के [illegible]

प्रसिद्ध समाज सुधारक नेता थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के साथ सामाजिक कान्फरेन्स बुलाने की परम्परा शुरू की। १८८४ ई० में उनके नेतृत्व में दकन एजूकेशन सोसायटी की स्थापना हुई। गोखले, तिलक तथा गणेश अगारकर जैसे नेता इस सोसायटी के सदस्य थे। इस संस्था के सदस्यों ने जीवन-निर्वाह के लिए केवल ७५ रु० मासिक वेतन पर देश के नवयुवकों को उचित शिक्षा देने का दायित्व अपने ऊपर लिया। इस संस्था ने एक छोटा स्कूल भी चलाया जो आगे जाकर महाराष्ट्र का प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र (फरग्यूसन कालेज) बन गया। तिलक से मतभेद होने के कारण गोखले ने १९०५ ई० में सरवेन्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी स्थापित की। इस संस्था ने समाज व शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सेवाएं की।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. राजा राममोहनराय को 'आधुनिक भारत का पिता' क्यों कहा जाता है ?
२. ब्राह्म समाज के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
३. स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में आप क्या जानते हैं ? धर्म व समाज के क्षेत्र में उनकी सेवाओं का उल्लेख कीजिए।
४. श्रीमती एनीबीसेन्ट की हिन्दुत्व के प्रति की गयी सेवाओं का उल्लेख कीजिए।
५. रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं का वर्णन कीजिए।
६. स्वामी विवेकानन्द के महान् कार्यों का उल्लेख कीजिए।
७. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   १. केशवचन्द्र सेन २. प्रार्थना समाज ३. थियोसोफिकल सोसायटी ४. रामकृष्ण मिशन।

9

राष्ट्रीय आन्दोलन-तिलक व गाँधी

राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म—भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन १९वीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण का ही एक अङ्ग था। राममोहन राय, दयानन्द एवं विवेकानन्द आदि सुधारकों ने अपने देशवासियों में आत्म-गौरव का भाव तथा सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न की। इस सांस्कृतिक चेतना के आधार पर ही राष्ट्रीय आन्दोलन विकसित हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय का सबसे प्रमुख कारण भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का होना है। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत को राजनीतिक एकता तथा एक-सी शासन व्यवस्था प्राप्त हुई। अंग्रेजी देश की राजभाषा बनाई गई, जो देश के विभिन्न भागों के निवासियों के बीच सम्पर्क का माध्यम बनी। यातायात तथा आवागमन के साधनों का विकास हुआ, जिससे राष्ट्रीय प्रचार सुगम हो गया। अंग्रेजी शासन में भारत का पश्चिम से सम्पर्क हुआ। भारतीयों को पश्चिम की राजनीतिक विचारधाराओं—राष्ट्रीयता उदारवाद, लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता, का ज्ञान हुआ और उनसे प्रेरणा मिली। पश्चिम के विचारक मिल, बेन्थम, लाक, व रूसो के विचारों ने भारतीय नवयुवकों को आकर्षित किया। योरोप व अमरीका के राष्ट्रीय आन्दोलनों का भी भारतीयों ने अध्ययन किया। इससे भारतीयों में राष्ट्रीय भावना जागृत हुई। भारतीय प्रेस तथा साहित्य ने भी राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस प्रसंग में बंकिमचन्द्र चटर्जी, रमेशचन्द्र दत्त, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे लेखकों की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। बंकिमचन्द्र का 'आनन्दमठ' देश-प्रेम की बाइबिल बन गया। उनका वन्देमातरम् गीत राष्ट्रगीत बन गया।

अंग्रेजी राज्य की शोषण तथा रंग-भेद की नीति—अंगरेजी राज्य की शोषण तथा रंग भेद की नीति राष्ट्रीय आन्दोलन का कारण बनी। लार्ड लिटन के शासनकाल में हुई भूलों ने राष्ट्रीय असन्तोष को बहुत बढ़ाया। उसने १८७७ ई० में देहली दरबार का आयोजन किया, जब दक्षिण भारत के लोग अकाल से मर रहे थे। १८७८ ई० में उसने देशी समाचार पत्रों पर नियन्त्रण करने के लिए प्रेस अधिनियम पास किया। भारतीयों को शस्त्रहीन करने के लिए उसने शस्त्र अधिनियम पास किया। लंकाशायर के उद्योगपतियों के हित में उसने कपास के आयात की चुङ्गी का त्याग कर दिया। लिटन का उत्तराधिकारी लार्ड रिपन उदार शासक था। उसके

होता है। हम इन्हें मालगुजारी जमा करने और शान्ति कायम
यता नहीं देंगे। हम उन्हें भारत के बाहर भारत के जन प
सहायता नहीं देंगे। हम उन्हें न्याय करने में सहायता न
अपना अलग रास्ता पकड़ेंगे और जब समय आयेगा तब हम ट
अगर आप मिलजुल कर यह कर सकते हैं तो कल से ही आप
तिलक ने बायकाट या बहिष्कार के महत्व के बारे में इस :
"हमारे पास हथियार नहीं हैं और हमें हथियारों की जरूरत
हमारा बायकाट ही जबरदस्त राजनीतिक हथियार है। यह सा
भर म अंग्रेज हमारी सहायता से ही करते हैं। हम लोग छोटी-छ
पर हैं। हम विदेशी सरकार के हाथों में क्लर्क के रूप में स्व
अत्याचार करने के साधन हैं। हमारा नया उग्रवादी दल य
कि आप इस बात को अनुभव करें कि आपका भविष्य अपने हाथ
प्रकार तिलक ने भारतीय जनता को अंग्रेजी सरकार की अ
पढ़ाया। परन्तु तिलक सशस्त्र शान्ति के समर्थक नहीं थे।

जन-आन्दोलन के प्रथम प्रवर्तक—लोकमान्य तिलक प
राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने जन-साधारण में राजनीतिक चेतना जागृ
राजनीतिक आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाने की आवश्यकता
वे अंग्रेजी शासन की कृपा की ओर नहीं, जनता की शक्ति की
थे। उन्होंने देश के राजनीतिक आन्दोलन का जनतन्त्रीकरण
भाषणों व लेखों द्वारा उन्होंने जन-साधारण में देश-प्रेम व राजन
जागृत की। तिलक से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस केवल
वकीलों की जमात थी जो ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्ष या

कल्पना भी नहीं कर सकती थी। तिलक ने राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन में संगठित कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का श्रीगणेश किया। चिरोल ने उन्हें 'भारतीय अशान्ति का जनक' कहा है।

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता—तिलक का प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरव तथा महानता में अटूट विश्वास था। वे संस्कृत के महान् विद्वान् तथा प्राचीन भारतीय ज्ञान के भण्डार थे। वे पहले भारतीय राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने देश में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के विचार का प्रवर्तन किया। वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा व गर्व की भावना को भारतीय राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार बनाना चाहते थे। उन्होंने जनता में नया जीवन व नई राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने के लिए हिन्दू देवताओं व वीरों का भली प्रकार उपयोग किया। तिलक ने महाराष्ट्र में गणपति-उत्सव और शिवाजी-उत्सव का श्रीगणेश किया। तिलक ने लोगों की धार्मिक भावना और ऐतिहासिक परम्परा का देशप्रेम व राष्ट्रीय चेतना का विकास करने के लिए सफलतापूर्वक उपयोग किया। जब तिलक के इन कार्यों का महादेव गोविन्द रानाडे के अनुयायियों तथा कट्टर कांग्रेसी राजनीतिज्ञों ने विरोध किया, तो तिलक ने 'केसरी' में यूनान व रोम के इतिहास से उदाहरण देकर अपनी योजना को उचित ठहराया। इन उत्सवों के माध्यम से लोगों का सामूहिक संगठन भी हो सका। *गणपति-उत्सव महाराष्ट्र में पुराने समय से ही प्रचलित था,* परन्तु तिलक ने उसे राजनीतिक रूप देकर एक राष्ट्रीय उत्सव बना डाला। सर्वप्रथम १८०३ ई०में पूना मे गणपति का विशाल उत्सव मनाया गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न नगरों तथा ग्रामों में गणपति संस्थाएं खोली गई, जिनमें लोगों को व्यायाम की शिक्षा दी जाती थी। गणपति-उत्सव में जुलूस व भाषणों की व्यवस्था होती थी और संगीत कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते थे। इन सब बातों का उद्देश्य लोगों में वीरता तथा अनुशासन की भावना, मातृभूमि के प्रति प्रेम तथा संगठन बढ़ाना था। १८६५ ईस्वी मे रायगढ़ मे शिवाजी के जन्म के उपलक्ष्य में वार्षिक उत्सव तिलक की अध्यक्षता में मनाया गया। सरकारी विरोध के बावजूद रायगढ़ में दो तीन दिन तक इस मेले का आयोजन रहा। तिलक ने इस उत्सव पर अपने महत्वपूर्ण भाषण में शिवाजी द्वारा अफजल खां के वध को उचित ठहराया। उन्होंने शिवाजी की ऐतिहासिक भूमिका की भारी प्रशंसा करते हुए कहा कि शिवाजी ने अपने धर्म तथा कर्त्तव्य का पालन करते [illegible] निःस्वार्थ भाव से अफजलखां का वध किया। महाभारत में श्री कृष्ण ने स्पष्ट रूप से अर्जुन से कहा है कि अपने गुरुओं तथा सम्बन्धियों को मारने में भी कोई दोष नहीं है, यदि वध करने मे अपना स्वार्थ न हो। १८६७ ई० में पूना में शिवाजी के जन्म का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। शिवाजी को महान् राष्ट्र-निर्माता तथा योद्धा के रूप

से बहुत महत्वपूर्ण है। अब देश-प्रेम की निशानी विद्वत्तापूर्ण भाषण और वाद-विवाद नहीं, मातृभूमि के लिए कष्ट झेलना और बलिदान करना था। कोरे भाषण-कर्त्ताओं तथा वक्ताओं के स्थान पर अब देश के लिए बलिदान करने व मर मिटने के लिए तत्पर वीर शहीदों को सम्मान मिलने लगा। इससे भारतीय राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन का श्री गणेश हुआ।

तिलक का दूसरी बार कारावास—सन् १९०८ ई० में बंगाल में मि० केनेडी और उनकी पत्नी पर किसी आतंकवादी ने बम फेंका, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी। तिलक ने 'केसरी' में आतंकवाद के इस कार्य की बड़ी प्रशंसा की और इसकी तुलना चापेकर बन्धुओं द्वारा की गयी रैण्ड की हत्या से की। इसी लेख के आधार पर तिलक पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें ६ वर्ष के कारागार का दण्ड दिया गया। १९०८ ई० से १९१४ ई० तक तिलक बर्मा की माडले जेल में रहे। इस प्रकार अपने राजनीतिक विचारों तथा देश-प्रेम की भावना के कारण तिलक दो बार बन्दी बनाए गये। उन्होंने हँसते-हँसते सब कष्ट सहन किया। उनका आदर्श अनेक देशभक्त नेताओं तथा क्रान्तिकारियों के लिए प्रेरणादायक बना। तिलक भारत में उस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक थे, जो तेजी से फैलती जा रही थी।

तिलक और कांग्रेस—कांग्रेस में प्रविष्ट हो तिलक ने उसके स्वरूप और ध्येय को ही बदलने का प्रयास किया। वे गोखले जैसे नरमदली कांग्रेसी नेताओं की नीति से असन्तुष्ट थे। उन्होंने बनारस कांग्रेस अधिवेशन (१९०५ ई०) में लाला लाजपतराय और विपिन चन्द्रपाल के सहयोग से कांग्रेस के उदारवादी नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह किया। अगले वर्ष १९०६ ई० में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में नरम दल व उग्र दल के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस अधिवेशन के सभापति पद के लिए उग्रवादियों ने तिलक के नाम का प्रस्ताव किया, परन्तु नरम दल के समर्थन से अन्त में दादा भाई नौरोजी इस अधिवेशन के सभापति बने। उस समय तिलक के उग्र दल को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से १९०६ ई० के कांग्रेस अधिवेशन में स्वराज्य, स्वदेशी, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के समर्थन में प्रस्ताव पारित किये गए। इस प्रकार १९०६ ई० के अधिवेशन में कांग्रेस ने उग्रवादियों की मांगें मान लीं, किन्तु उदारवादी नेता उन पर व्यवहार में अमल करने के लिए तैयार न थे। वे सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार के आन्दोलन की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। यही नहीं, वे कांग्रेस के विधान में भी परिवर्तन करना चाहते थे, जिससे १९०६ ई० के अधिवेशन में स्वीकृत 'स्वराज्य' आदि के प्रस्ताव रद्द हो जायें। अतः उदारवादियों व उग्रवादियों में संघर्ष अनिवार्य हो गया।

सूरत कांग्रेस में फूट (१९०७ ई०):—तिलक लाजपतराय को १९०७ ई० की सूरत कांग्रेस का सभापति बनाना चाहते थे, किन्तु वे सफल नहीं हुए।

पुराने नेताओं से मौलिक मतभेद था। नरमदली नेता अंग्रेजी राज को दैवी इच्छा मानते थे और उनका विश्वास था कि जब भारतीय स्वशासन के योग्य हो जायेंगे तो अंग्रेज उन्हें स्वराज्य प्रदान कर देंगे। वे अंग्रेजों की न्याय-भावना तथा ईमानदारी में विश्वास करते थे और उनको सुधारों के लिए प्रार्थनापत्र या अपील भेजकर संतुष्ट हो जाते थे। दूसरी ओर तिलक कोरे शासन सम्बन्धी सुधारों से सन्तुष्ट न थे, उनका लक्ष्य राजनीतिक स्वराज्य था। वे अंग्रेजी राज को वरदान नहीं अभिशाप मानते थे। उनका अंग्रेजों की न्याय-प्रियता व ईमानदारी में बिलकुल विश्वास न था। वे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष व बलिदान का मार्ग अपनाना चाहते थे। उन्होंने अंग्रेजों के हाथ अपार कष्ट सहकर देश में नयी राष्ट्रीय भावना के प्रसार में योग दिया था।

तिलक और गोखले की तुलना—तिलक और गोखले के विचारों में मौलिक अन्तर था। डा० पट्टाभि सीतारमैया ने अपने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में तिलक और गोखले की इस प्रकार तुलना की है— "तिलक और गोखले दोनों ऊँचे दर्जे के देश भक्त थे, दोनों ने जीवन में भारी त्याग किया था; परन्तु उनके स्वभाव एक दूसरे से बहुत भिन्न थे। यदि हम उस समय की भाषा का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि गोखले नरम विचारों के थे और तिलक गरम विचारों के। गोखले मौजूदा संविधान को केवल सुधारना चाहते थे, तिलक उसे नये सिरे से बनाना चाहते थे। गोखले को नौकरशाही के साथ मिलकर कार्य करना था, तिलक को उससे अनिवार्यतः संघर्ष करना था। गोखले जहां संभव हो सहयोग करने तथा जहां जरूरी हो वहां विरोध करने की नीति के पक्षपाती थे। तिलक का झुकाव रुकावट व अड़ंगा डालने की नीति की ओर था। गोखले को प्रशासन और उसके सुधार की मुख्य चिन्ता थी, तिलक राष्ट्र और उसके निर्माण को मुख्य समझते थे। गोखले का आदर्श था—प्रेम और सेवा, तिलक का आदर्श था—सेवा और कष्ट-सहन। गोखले विदेशियों को अपने पक्ष में करने का यत्न करते थे, तिलक का तरीका विदेशियों को देश से हटाना था। गोखले दूसरों की सहायता पर निर्भर थे, तिलक अपनी सहायता आप करना चाहते थे। गोखले उच्चवर्ग और शिक्षित लोगों की ओर देखते थे, तिलक सर्वसाधारण या आम जनता की ओर। गोखले का अखाड़ा था—कौंसिल भवन, तिलक का मंच था—गांव की चौपाल। गोखले अंग्रेजी में लिखते थे, तिलक मराठी में। गोखले का उद्देश्य था, स्वशासन, जिसके लिए लोगों को अंग्रेजों द्वारा पेश की गयी कसौटी पर खरा उतर कर अपने को योग्य साबित करना था; तिलक का उद्देश्य था स्वराज्य जो प्रत्येक भारतवासी का जन्मसिद्ध अधिकार था और जिसे वे बिना किसी बाधा की परवाह किए लेकर ही रहेंगे। गोखले अपने समय के साथ थे और तिलक अपने समय के बहुत आगे।"

श्री तिलक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवाद के प्रवर्तक महान् नेता थे। उन्होंने ज्वलन्त भाषणों तथा अपूर्व बलिदानों द्वारा जनसाधारण में राजनीतिक चेतना उत्पन्न की और इस प्रकार देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप दिया। उन्होंने देश की राष्ट्रीय शक्तियों को अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध संघर्ष में आयोजित किया। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जनता की विचार धारा के वे ही जनक थे। श्री रामगोपाल ने ठीक ही कहा है—"महात्मा गांधी ने तिलक की मृत्यु के बाद जितने आन्दोलन किए वे सब तिलक ने पहले ही किए थे। लगान न देने का आन्दोलन, सरकारी नौकरी का बहिष्कार, शराब-बन्दी, स्वदेशी—इन सब का तिलक ने प्रचार किया था। उन्होंने १८९७ ई० में ही पूर्ण स्वतन्त्रता की बात कही थी"। एक अमरीकी विद्वान् डा० थियोडर एल्शे ने लोकमान्य तिलक की स्वाधीनता-संघर्ष में भूमिका के बारे में कहा है—"जब भारत में वास्तविक राजनीतिक जागृति शुरू हुई, तो सबसे पहले तिलक ने ही स्वराज्य की आवश्यकता और उसके साधनों की ओर जनता का ध्यान खींचा था। श्री तिलक ने ही सर्वप्रथम आन्दोलन के इन तरीकों—विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग, राष्ट्रीय ढंग की शिक्षा, जनप्रिय संयुक्त राजनीतिक मोर्चे इत्यादि की खोज की जिनके द्वारा स्वराज्य के लक्ष्य को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण सहायता मिली। स्वतन्त्रता आन्दोलन को आधार प्रदान करने का श्रेय लोकमान्य तिलक को ही है।" किसी विद्वान् ने कहा है कि 'सुकरात की तरह, तिलक भारत में राजनीतिक दर्शन को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाए, कांग्रेस-मण्डप से बाजार तथा गलियों तक लाए।' पहले जब भारत में राजनीति अपेक्षाकृत बहुत कमजोर धारा थी, उसमें जोश व गतिशीलता न थी। यह श्रेय लोकमान्य तिलक को ही है कि उन्होंने आम जनता में एक नया आत्म-विश्वास तथा आत्माभिव्यक्ति उत्पन्न की। तिलक ने ही सरकार तथा पेंशनर राजनीतिज्ञों को सर्वप्रथम नयी शक्ति का भान कराया। अभी तक सरकारी पक्ष का यह तर्क था कि कांग्रेस जनता की प्रतिनिधि-संस्था नहीं है। तिलक ने आश्चर्यजनक जनजागरण को राजनैतिक आन्दोलन के लिए संगठित कर सरकार की चुनौती का उत्तर दिया।

महात्मा गांधी और राष्ट्रीय आंदोलन—महात्मा गांधी अपने युग के महान् नेता थे। उन्होंने सत्य और अहिंसा के सनातन सिद्धान्तों का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग कर मानवता का मार्गदर्शन किया। उन्होंने समस्त भारत में राष्ट्रीय चेतना जागृत की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उन्होंने प्रभावशाली जन-आन्दोलन में संगठित किया। संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य के पाशविक बल का उन्होंने अहिंसा व सत्याग्रह के शस्त्र से सामना किया। भारत के स्वाधीनता-युद्ध का उन्होंने लम्बे समय तक नेतृत्व किया और अन्त में देश को स्वतन्त्रता दिलवाई। इसलिए उन्हें भारत का 'राष्ट्रपिता' कहा जाता है। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद १९२० ई० से १९४७ ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक गांधीजी ने भारत का एकच्छत्र नेतृत्व किया। इस काल में भारतीय जीवन के सभी पक्षों-राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक व धार्मिक, पर उनके महान् व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ी। अतः इस काल को 'गांधी युग' कहा जाता है।

गांधीजी का प्रारम्भिक जीवन (१८६९—१९४८)—गांधीजी का जन्म काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान में २ अक्टूबर, १८६९ ई० को हुआ था। इनका पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। इनके पिता राजकोट रियासत के दीवान थे। इनकी माता धार्मिक प्रकृति की थी और उनका बालक गांधी पर काफी प्रभाव पड़ा था। १३ वर्ष की छोटी आयु में ही बालक गांधी का विवाह कस्तूरबा से कर दिया गया था। १९ वर्ष की आयु में वे कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड गए। जाने से पूर्व उन्होंने वहाँ शराब, स्त्री तथा मांस का स्पर्श न करने की शपथ ली और इंग्लैण्ड में रहते समय उसका पूरा पालन किया। बैरिस्टरी की परीक्षा पास कर १८९१ ई० में वे भारत लौटे और यहाँ वकालत प्रारम्भ की। सन् १८९३ ई० में वे एक कम्पनी के मुकदमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफ्रीका गए। वहाँ उन्होंने भारतीय प्रवासियों के प्रति बरती जाने वाली रंग-भेद की नीति के विरुद्ध २०

गांधीजी का भारत आगमन—दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का सफलता पूर्वक प्रयोग करने के बाद १९१४ ई० में गांधीजी भारत आए। साबरमती में उन्होंने एक आश्रम खोला। उन्होंने सर्वप्रथम १९१७ ई० में बिहार के चम्पारन जिले में गोरों द्वारा किसानों पर किए जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह किया। गांधीजी को इसमें सफलता मिली। इसके बाद उन्होंने अहमदाबाद के मिल मजदूरों की मांगों के समर्थन में उपवास किया। गुजरात के खेड़ा जिले में किसानों के हितों की रक्षा के लिए उन्होंने सत्याग्रह किया और किसानों को कर देने को कहा। सरकार को झुककर एक समझौता करना पड़ा। खेड़ा-सत्याग्रह से सारे भारत में राजनैतिक जागृति उत्पन्न

श्री तिलक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवाद के प्रवर्तक महान् नेता थे। उन्होंने अपने भाषणों तथा प्रमुख अखबारों द्वारा जनसाधारण में राजनीतिक चेतना उत्पन्न की और इस प्रकार देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप दिया। उन्होंने देश की राष्ट्रीय शक्तियों को अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध संघर्ष में आयोजित किया। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उग्रता की विचार धारा के वे ही जनक थे। श्री रामगोपाल ने ठीक ही कहा है—"महात्मा गांधी ने तिलक की मृत्यु के बाद जितने आन्दोलन किए वे सब तिलक ने पहले ही किए थे। लगान न देने का आन्दोलन, सरकारी नौकरी का बहिष्कार, शराब—बन्दी, स्वदेशी—इन सब का तिलक ने प्रचार किया था। उन्होंने १८९७ ई० में ही पूर्ण स्वतन्त्रता की बात कही थी"। एक अमरीकी विद्वान् डा० थियोडर एलवे ने लोकमान्य तिलक की स्वाधीनता-संघर्ष में भूमिका के बारे में कहा है—"जब भारत में वास्तविक राजनैतिक जागृति शुरू हुई, तो सबसे पहले तिलक ने ही स्वराज्य की आवश्यकता और उसके लाभों की ओर जनता का ध्यान खींचा था। श्री तिलक ने ही सर्वप्रथम आन्दोलन के इन तरीकों—विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग, राष्ट्रीय ढंग की शिक्षा, जनप्रिय प्रभुत्व राजनैतिक मांगें इत्यादि की खोज की जिनके द्वारा स्वराज्य के लक्ष्य को प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिली। स्वतन्त्रता आन्दोलन को आधार दिला रखने का श्रेय लोकमान्य तिलक को ही है।" किसी विद्वान् ने कहा है कि 'सुकरात की तरह, तिलक भारत में राजनीतिक दर्शन को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाए, कांग्रेस-मण्डप से बाजार तथा गलियों तक लाए। अभी तक भारत में राजनीति अपेक्षाकृत बहुत कमजोर धारा थी, उसमें जीवन व गतिशीलता न थी। यह श्रेय लोकमान्य तिलक को ही है कि उन्होंने आम जनता में एक नया आत्म-विश्वास तथा आत्माभिव्यक्ति उत्पन्न की। तिलक ने ही सरकार तथा पेशेवर राजनीतिज्ञों को जनसाधारण की नयी शक्ति का बोध कराया। अभी तक सरकारी पक्ष का यह तर्क था कि कांग्रेस जनता की प्रतिनिधि-संस्था नहीं है। तिलक ने साहसपूर्वक जनसाधारण को राजनैतिक आन्दोलन के लिए संगठित कर सरकार की चुनौती का उत्तर दिया।

तिलक की विद्वत्ता:—तिलक एक महान् देशभक्त व राजनीतिज्ञ ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् भी थे। उन्होंने कई विद्वतापूर्ण रचनाएं की थी—(१) ओरियन, (२) आर्कटिक होम इन द वेदाज, व (३) गीता-रहस्य। गीता-रहस्य तिलक की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसमें उन्होंने गीता की प्रवृत्तिवादी व्याख्या की है। उन्होंने गीता-रहस्य में निष्काम कर्म पर विशेष बल दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'गीता का उद्देश्य निवृत्ति (वैराग्य) नहीं, प्रवृत्ति (कर्म) का प्रतिपादन है'।

(२) सरकारी उपाधियो तथा आनरेरी पदो का त्याग, (३) स्थानीय संस्थाओ से नामजद सदस्यो का त्यागपत्र, (४) सरकारी दरबार तथा उत्सवो मे शामिल न होना, (५) सरकारी स्कूलों तथा सरकारी सहायता से चलने वाले स्कूलों से बच्चो को धीरे-धीरे हटाना, (६) सरकारी अदालतो का वकीलो तथा वादी-प्रतिवादियो द्वारा धीरे-धीरे बहिष्कार, (७) सरकार की नयी धारासभाओ के चुनावो का बहिष्कार, (८) सैनिको, क्लर्कों तथा मजदूरों द्वारा मेसोपोटामिया मे सेवा करने से इन्कार करना। संक्षेप मे असहयोग आन्दोलन का अर्थ था, सरकारी नौकरियो, विधान मडलो, अदालतों तथा स्कूल व कालेजो का बहिष्कार। इस बहिष्कार कार्यक्रम के साथ-साथ गांधीजी की प्रेरणा से कांग्रेस ने यह रचनात्मक कार्यक्रम भी अपनाया था— (१) बच्चो की राष्ट्रीय शिक्षा के लिए राष्ट्रीय शिक्षण संस्थायें खोलना, (२) विवादों के हल के लिए अपनी पचायती अदालतें स्थापित करना, (३) [illegible] ा और (५)

[illegible] उन्होंने सारे [illegible] होने के लिए आवाहन किया। उनके आवाहन पर अनेक विद्यार्थियो ने अपनी पढ़ाई छोड़कर असहयोग आन्दोलन मे भाग लिया। मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, विट्ठलभाई पटेल, देशबन्धु चितरंजनदास, राजेन्द्रप्रसाद, जवाहरलाल नेहरू और वल्लभभाई पटेल आदि नेताओ ने अपनी वकालत छोड़कर आन्दोलन मे सक्रिय भाग लिया। हजारों मुसलमानों ने भी इस आन्दोलन मे भाग लिया। मुसलमानों का भारत के स्वाधीनता आन्दोलन मे ऐसा योग फिर कभी भी नहीं दिखाई दिया। विधान मण्डलों का बहिष्कार भी बहुत सफल रहा। स्वदेशी का आन्दोलन भी बहुत लोकप्रिय बन गया। कई नगरों में विदेशी कपड़े तथा वस्तुओ की होली जलाई गई। १९२१ ई० में जब प्रिन्स आफ वेल्स बम्बई आया तो जनता ने उसका कोई स्वागत नहीं किया और नगर मे पूरी हड़ताल रखी। सरकार ने भी दमन चक्र चलाया। हजारों लोगों को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया। कांग्रेस को गैरकानूनी संस्था घोषित कर दिया गया।

दिसम्बर, १९२१ ई० मे अहमदाबाद मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमे असहयोग आन्दोलन को तेज करने का निर्णय किया गया और इसके लिए गांधीजी को पूर्ण अधिकार दे दिए गए। परन्तु गांधीजी इस दिशा में कोई सक्रिय कदम उठावें, उससे पूर्व ही आन्दोलन मे चौरी-चौरा का हिंसक काण्ड होगया। चौरीचौरा (उत्तर प्रदेश) में एक उत्तेजित भीड़ ने ५ फरवरी १९२२ ई० को एक पुलिस चौकी मे आग लगा दी, जिससे कई सिपाही मर गए। इस हिंसक काण्ड से महात्मा गांधी के हृदय को भारी ठेस पहुँची, क्योंकि

हुई । प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) के समय गांधीजी ने सरकार की पूर्ण सहायता की । किन्तु अंग्रेजी सरकार ने युद्ध समाप्त होने के बाद भारत के सहयोग के बदले रौलट एक्ट पास किया । इस स्वतन्त्रता विरोधी कानून का गांधीजी ने तीव्र विरोध किया । परन्तु विदेशी सरकार ने जनता के विरोध की परवाह न की । इन्ही दिनों पंजाब मे अमृतसर के जलियानवाला बाग मे हुई एक सार्वजनिक सभा में जनरल डायर ने निरीह जनता पर गोली वर्षा की जिससे हजारों व्यक्ति आहत हुए । यही नहीं, पंजाब मे मार्शल ला लागू किया गया और वहाँ लोगो पर तरह-तरह के अत्याचार किए गए । गांधीजी ने इस अत्याचार के विरुद्ध अपना 'केसरे हिन्द' का तमगा सरकार को वापस कर दिया और सरकार के विरुद्ध आन्दोलन चलाने की सोची ।

गांधीजी का नेतृत्व और असहयोग आन्दोलन—असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम की स्वीकृति के लिए गांधीजी ने कलकत्ते में सितम्बर, १९२० ई० में कांग्रेस महासमिति का एक विशेष अधिवेशन बुलाया । इस अधिवेशन का सभापतित्व लाला लाजपतराय ने किया । इस अधिवेशन में महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव रखा । इस प्रस्ताव के तीन उद्देश्य थे—(१) पंजाब में अंग्रेजी सरकार के अधिकारियों ने जो अत्याचार किए हैं उसके प्रायश्चित्त के रूप में पीड़ित लोगों को आर्थिक मुआवजा दिलवाया जाय, (२) टर्की के सुल्तान के साथ, जो भारतीय मुसलमानों का खलीफा भी है, अंग्रेजी सरकार ने जो अन्याय किया है उसे समाप्त किया जाय । (३) स्वराज्य की स्थापना हो । पण्डित मोतीलाल नेहरू तथा मौलाना शौकतअली व मुहम्मदअली ने गांधीजी के प्रस्ताव का समर्थन किया । बहुमत से यह प्रस्ताव पारित हो गया । अब गांधीजी तथा अली बन्धुओं (मौलाना शौकत अली और मुहम्मदअली) ने देश मे घूम-घूम कर असहयोग आन्दोलन के पक्ष मे वातावरण बनाया ।

कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन—(दिसम्बर, १९२० ई०) महात्मा गांधी के प्रयत्नों से १९२० ई० में नागपुर में हुए कांग्रेस अधिवेशन ने पुनः गांधीजी के असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव का समर्थन किया । यही नहीं, नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस के विधान में भी गांधीजी के प्रस्ताव के अनुरूप परिवर्तन किए गए । इस अधिवेशन में कांग्रेस का लक्ष्य 'स्वराज्य' घोषित किया गया । इससे पूर्व कांग्रेस का लक्ष्य केवल ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन (self government) था । नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के शान्तिपूर्ण तथा उचित उपायों को, जिनमे असहयोग का कार्यक्रम भी सम्मिलित था, अपनाने का निर्णय किया । इससे पूर्व कांग्रेस केवल वैधानिक उपायों का ही प्रयोग करती रही थी ।

गांधीजी द्वारा प्रस्तावित असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम—इस प्रकार था (१) विदेशी माल का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग ।

एक जैसी विचारधारा हर जगह दिखाई देने लगी। खादी सब कांग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई।"

सविनय अवज्ञा, आन्दोलन—(१९३०) सरकार ने स्वराज्य की माँग को ठुकरा दिया था। ऐसे समय १९२९ ई० में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और पूर्ण स्वाधीनता को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया गया। गाँधीजी ने लाहौर अधिवेशन के बाद अपने कार्यकर्ताओं को सत्याग्रह की शिक्षा दी। आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व उन्होंने ब्रिटिश सरकार से अन्तिम बार समझौते का प्रयत्न किया। उन्होंने वाइसराय लार्ड इरविन को दो मार्च, १९३० को एक पत्र लिखा। परन्तु वाइसराय से उसका कोई सन्तोष जनक उत्तर न मिला। अतः आन्दोलन का निश्चय किया गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का कार्यक्रम—महात्मा गाँधी के अनुसार सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अन्तर्गत निम्न कार्यक्रम थे—(१) जगह जगह पर नमक कानून को तोड़कर नमक बनाया जाय। (२) राजकर्मचारी सरकारी नौकरियों को छोड़ें और विद्यार्थी सरकारी स्कूल-कालेजों का बहिष्कार करें। (३) स्त्रियाँ शराब, अफीम और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना दें, (४) विदेशी वस्त्रों को जलाया जाय, (५) जनता सरकार को कर न दे।

गाँधी जी का ऐतिहासिक डाण्डी मार्च—आन्दोलन का प्रारम्भ करने के लिए महात्मा गाँधी ने ७९ सत्याग्रहियों के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र तट की ओर कूच किया। रास्ते में लाखों नर-नारियों ने सत्याग्रहियों के इस दल का हार्दिक स्वागत किया। गाँधी जी ने लोगों को अहिंसात्मक आन्दोलन का पाठ पढ़ाया। दो सौ मील की लम्बी यात्रा पूरी कर ६ अप्रैल १९३० को गाँधीजी समुद्र तट पर पहुँचे और वहाँ उन्होंने नमक बनाकर नमक-कानून का भंग किया। यह सारे देश के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का संकेत था। गाँधीजी का अनुकरण करते हुए हजारों लोगों ने जगह जगह सरकारी कानूनों को भङ्ग करना प्रारम्भ किया। बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश व मद्रास में लोगों ने नमक-कानून के विरुद्ध स्वयं नमक बनाना शुरू कर दिया। स्त्रियों ने भी पर्दा छोड़कर इस आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। दिल्ली तथा अन्य कई नगरों में स्त्रियों द्वारा धरना दिए जाने से शराब की कई दुकानें बन्द हो गईं। किसानों ने सरकार को कर देने से इन्कार कर दिया। विदेशी कपड़े का बहिष्कार हुआ। बम्बई में ही अंग्रेज व्यापारियों की सोलह मिलें बन्द हो गईं। इस आन्दोलन में भारतीय मुसलमानों ने बहुत थोड़ा भाग लिया, क्योंकि उनके नेता जिन्ना इसके विरुद्ध थे। जून १९३० ई० तक आन्दोलन अपने पूरे उत्कर्ष पर पहुँच गया। कई जगहों पर अंग्रेजी शासन ठप्प हो गया। गाँधीजी तथा

वे आन्दोलन को अहिंसा के आधार पर चलाना चाहते थे। उन्होंने तुरन्त इस आन्दोलन को समाप्त कर दिया। आन्दोलन के एकदम इस तरह से समाप्त करने से अनेक नेता तथा जनता उनसे रुष्ट हो गए। उनकी लोकप्रियता कम हुई। सरकार ने इस अवसर का लाभ उठाकर गांधीजी को १९२२ ई० को गिरफ्तार कर लिया। उन पर अहमदाबाद में मुकदमा चलाया गया और उन्हें ६ वर्ष की सादा कैद की सजा दी गई।

असहयोग आन्दोलन की समीक्षा—असहयोग आन्दोलन से तुरन्त तो कोई विशेष लाभ न हुआ। क्योंकि सरकार से न तो पंजाब में किए गए अत्याचार की गलती का ही सुधार कराया जा सका और न एक वर्ष में जनता को स्वराज्य ही प्राप्त कराया जा सका, जैसा कि गांधी जी ने आश्वासन दिया था। खिलाफत के प्रश्न को राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़कर भी गांधी जी ने भूल की। क्योंकि खिलाफत का प्रश्न मुसलमानों का शुद्ध धार्मिक प्रश्न था, जिसका भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से कोई संबंध न था। हिन्दू मुस्लिम एकता की गांधी जी की आशा भी पूरी न हुई। तथापि इस असहयोग आन्दोलन का भारत के राष्ट्रीय संग्राम में कम महत्त्व नहीं है। १९२० ई० में कांग्रेस ने पहली बार राजनीतिक भिक्षा वृत्ति की नीति को छोड़कर जन-आन्दोलन चलाया और सरकार से सीधी टक्कर ली। अब कांग्रेस का आन्दोलन कुछ पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित न रहकर सच्चे अर्थों में जन- आन्दोलन बन गया। उसमें किसान, मजदूर तथा आम जनता ने भाग लिया। इस आन्दोलन से देश में भारी राजनैतिक चेतना जागृत हुई। अब जनता देश की आजादी के लिए कष्ट सहने तथा बलिदान करने के लिए तत्पर थी। अब जनता के हृदय से सरकार का भय निकल गया था। सार्वजनिक सभाओं में सरकार की आलोचना करना तथा जेल जाना अब साधारण-सी बात हो गयी थी। अब स्वराज्य का शब्द जन-जन की जबान पर हो गया था। इस आन्दोलन में गांधी जी ने भारत की ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध 'सत्याग्रह' के अनूठे अस्त्र का पहली बार प्रयोग किया था, जिसका सरकार के पास कोई उत्तर न था। शान्त सत्याग्रहियों पर लाठी या गोली का प्रयोग अत्यन्त अनैतिक और घृणित कार्य था। सच्चे अर्थों में यह भारत का प्रथम राष्ट्रीय आन्दोलन था। इस आन्दोलन की सफलता के बारे में श्री सुभाषचन्द्र बोस का मत उल्लेखनीय है—'१९२१ के वर्ष ने निस्सन्देह देश को एक सुव्यवस्थित पार्टी संगठन प्रदान किया। इस से पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल था और वह भी मुख्यरूप से बात करने वाली संस्था थी। महात्मा गांधी ने इसे नया विधान दिया और देशव्यापी बनाया। उन्होंने इसे एक क्रान्तिकारी संगठन में भी परिणत कर दिया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाए जाने लगे, एक जैसी नीति और

[illegible]
विरुद्ध युद्ध में घसीट लिया। इसके प्रतिवादस्वरूप सभी कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया। अब कांग्रेस ने सरकार का विरोध करने के लिए अक्टूबर, १९४० को व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया। गांधीजी ने भारतीयों से अंग्रेजी सरकार को युद्ध में सहायता न करने की अपील की। गांधीजी ने विनोबाभावे को प्रथम सत्याग्रही चुना। व्यक्तिगत सत्याग्रह करते हुए हजारों व्यक्तियों ने अपने को गिरफ्तार करवाया। १९४१ ई० में गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह समाप्त कर दिया। मार्च, १९४२ में सरस्टैफर्ड क्रिप्स भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से कुछ वैधानिक प्रस्ताव लेकर आये। परन्तु गांधीजी तथा कांग्रेस ने इन क्रिप्स प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि इनमें प्रान्तों को भारतीय संघ से अलग होने का अधिकार दिया गया था और तुरन्त भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का आश्वासन नहीं था।

भारत छोड़ो आन्दोलन, ९ अगस्त, १९४२—क्रिप्स प्रस्तावों की अस्वीकृति के बाद भारत में राजनीतिक गतिरोध बना हुआ था। महायुद्ध की स्थिति दिन पर दिन गम्भीर हो रही थी। जापानी सेना द्रुतगति से पूर्वी-एशिया के देशों को रौंदती हुई भारत की ओर बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में गांधीजी निष्क्रिय नहीं रह सकते थे। वे सरकार के विरुद्ध प्रत्यक्ष संघर्ष छेड़ने के पक्ष में थे। ५ जुलाई, १९४२ ई० के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा था, 'अंग्रेजो, भारत को जापान के लिए मत छोड़ो बल्कि, भारत को भारतीयों के लिए व्यवस्थित रूप से छोड़ जाओ'। अन्त में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और उसने ८ अगस्त को 'भारत छोड़ो' के ऐतिहासिक प्रस्ताव को पारित किया। इस प्रस्ताव के अनुसार भारत से ब्रिटिश शासन के तुरन्त हटाये जाने की माग की गई और यह माग न मानी जाने पर महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक अत्यधिक व्यापक पैमाने पर अहिंसात्मक संघर्ष छेड़ने का निर्णय किया गया। गांधीजी ने इस प्रस्ताव पर बोलते हुए भारतीय जनता को 'करो या मरो' का सन्देश दिया। अब गांधीजी ने वाइसराय को इस सम्बन्ध में बातचीत के लिए एक पत्र लिखा। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने बहुत जल्दबाजी की और ९ अगस्त, १९४२ ई० को रात के समय गांधीजी तथा कांग्रेस कार्य समिति के सब नेताओं को बम्बई में गिरफ्तार कर किसी अज्ञात स्थान पर भेज दिया। कांग्रेस को गैरकानूनी संस्था घोषित कर दिया गया और उसके कार्यालयों पर पुलिस ने अधिकार कर लिया। गांधीजी तथा अन्य नेताओं की अनुपस्थिति में भी जनता ने कई वर्षों तक आन्दोलन जारी रखा। नगरों में तथा कारखानों में हड़तालें हुईं। जुलूस व प्रदर्शन किए गए। सरकारी दमन ने जनता को उत्तेजित कर दिया और आन्दोलन

अन्य उच्च कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। लगभग ६०,००० व्यक्ति गिरफ्तार हुए। सरकार ने जमकर दमन किया। अनेक बार भीड़ पर गोलियाँ चलायी गयी। अन्त में ५ मार्च, १९३१ ई० को गांधी जी का वाइसराय इरविन से समझौता होगया और गांधी जी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया। गांधी इरविन समझौते का कांग्रेस में मिश्रित स्वागत हुआ। कांग्रेस के वाम पक्ष ने इस समझौते को सरकार के सामने आत्म-समर्पण बताया, किन्तु दक्षिण पक्ष ने इस पर सन्तोष प्रकट किया।

गांधीजी और दूसरा गोलमेज सम्मेलन—नवम्बर, १९३१ ई० में गांधीजी ने कांग्रेस की ओर से लन्दन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। सम्मेलन में गांधीजी ने कांग्रेस को राष्ट्रीय संस्था बताया और भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता की मांग की। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उनकी मांग को स्वीकार नहीं किया।

पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन—१९३२ में सरकार की दमन नीति के विरुद्ध कांग्रेस कार्यसमिति ने गांधीजी के नेतृत्व में पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का निर्णय किया। महात्मा गांधी ने सारे देशवासियों से आन्दोलन में शामिल होने की अपील की। सरकार ने दमनचक्र तेज किया। महात्मा गान्धी तथा कांग्रेसाध्यक्ष सरदार पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस को गैरकानूनी संस्था घोषित कर दिया गया और उसके सभी कार्यालयों पर पुलिस ने छापे मारे। भारतीयों ने वीरता के साथ आन्दोलन चालू रखा। १,२०,००० व्यक्तियों को गिरफ्तार कर कड़े दण्ड दिए गए। जेल में गांधीजी ने परिवर्तित स्थिति को देखते हुए ६ अप्रेल, १९३४ ई० को सविनय अवज्ञा आन्दोलन को बिल्कुल समाप्त कर दिया।

गांधीजी का आमरण अनशन व पूना समझौता—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रैम्जे मैकडानल्ड ने भारत की साम्प्रदायिक समस्या के हल के लिए साम्प्रदायिक पंचाट (अवार्ड) घोषित किया। इसके अनुसार मुसलमानों व ईसाइयों की तरह हरिजनों को भी एक पृथक् अल्पमत माना गया। महात्मा गांधी ने इस साम्प्रदायिक पंचाट के विरुद्ध २० सितम्बर, १९३२ ई० से आमरण अनशन प्रारम्भ किया, क्योंकि इसमें हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने का षड्यन्त्र था। अन्त में मदनमोहन मालवीय और राजेन्द्रप्रसाद जैसे नेताओं के प्रयत्न से पूना-समझौता हो गया। इस के अनुसार हरिजनों के अलग प्रतिनिधित्व की बात समाप्त हो गई। सवर्ण हिन्दुओं व हरिजनों का प्रतिनिधित्व एक ही रहा, किन्तु हरिजनों को पंचाट द्वारा दिए गए स्थानों से भी लगभग दुगुने स्थान मिल गए।

महायुद्ध के समय देश की राजनैतिक स्थिति—गांधीजी की सहमति से कांग्रेस ने १९३५ के प्रान्तीय स्वायत्तता के अधिनियम के अन्तर्गत हुए चुनावों में भाग लिया और ८ प्रान्तों में अपने मंत्रिमण्डल बनाए। इन कांग्रेसी

सांप्रदायिक दंगों को शान्त करने का यत्न—मुस्लिम लीग की सीधी कार्रवाई की नीति के कारण कलकत्ता, नोआखाली, बिहार, रावलपिण्डी, लाहौर, दिल्ली इन सभी स्थानों में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। गांधीजी ने अब साम्प्रदायिक एकता के लिए अपना जीवन अर्पित किया। भारत के स्वाधीनता समारोह में भाग लेने के बजाय उन्होंने नोआखाली की शान्ति यात्रा प्रारम्भ की। वहां गांव-गांव में घूम कर उन्होंने शान्ति व सद्भाव स्थापित करने का प्रयत्न किया। नोआखाली से वे बिहार आए और वहां उन्होंने शान्ति का वातावरण बनाया। कलकत्ते में उन्होंने ७२ घन्टे का उपवास किया जिससे वहां शान्ति कायम हो सकी। दिल्ली में भी उन्होंने अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए उपवास किया। अन्त में सांप्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष करते हुए गांधीजी ३० जनवरी, १९४८ को बिरला मन्दिर (देहली) में एक प्रार्थना सभा के बीच नाथूराम गोडसे की गोली से शहीद हो गए। गांधीजी की यह मृत्यु भी उन जैसे महापुरुष के अनुरूप ही थी। उनकी हत्या से उनके विचार और सिद्धान्त भारतीय जीवन में अधिक सजीव और सक्रिय बन गए। उनकी मृत्यु ने भारत में घृणा तथा द्वेष के वातावरण को शान्त कर दिया। हिन्दू और मुसलमान पहले की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक समीप आ गए। कई वर्षों तक भारत में कोई सांप्रदायिक दंगे नहीं हुए।

राजनीतिक विचारक—महात्मा गांधी ने, जब वे अफ्रीका में थे, रस्किन की पुस्तक 'अनटू दि लास्ट' (Unto the Last) का अध्ययन किया था। इस पुस्तक का गांधीजी के विचारों पर भारी प्रभाव पड़ा। टालस्टाय की रचनाओं से भी गांधीजी बहुत प्रभावित हुए थे। भगवद्गीता की शिक्षाओं-विशेष रूप से कर्मयोग का भी गांधीजी पर काफी प्रभाव पड़ा था। अपने अध्ययन, चिन्तन तथा अनुभव के आधार पर गांधीजी ने अपने राजनीतिक दर्शन का विकास किया। समाज के नव-निर्माण तथा मनुष्य के उत्थान के लिए उन्होंने कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किए।

राजनीति का शुद्धीकरण—गांधीजी स्वभाव से ही एक धार्मिक व्यक्ति थे। परन्तु उनका धर्म नैतिकता का पर्याय था। सत्य और अहिंसा उनके प्रमुख आधार थे। वे राजनीति को धर्म से अलग नहीं मानते थे। उनके धर्म ने ही उन्हें राजनीति में धकेला था। उन्होंने जीवन भर सत्य और अहिंसा के नैतिक सिद्धान्तों का राजनीति में प्रयोग किया। सत्य और अहिंसा के उल्लंघन को वे तनिक भी सहन नहीं कर सकते थे। भारत की स्वाधीनता का युद्ध भी उन्होंने अहिंसा और सत्याग्रह द्वारा ही लड़ा था। विश्व राजनीति को गांधीजी की महत्वपूर्ण देन यही है कि उन्होंने राजनीति का आध्यात्मीकरण किया-अर्थात् उसे ऊंचा उठाकर उच्च नैतिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने राजनीति को कूटनीति और असत्य से उठाकर एक ऊँचे आदर्शवाद पर पहुँचा दिया जिसमें केवल लक्ष्य ही नहीं, वरन् उसे प्राप्त करने

में कुछ हिंसा का समावेश भी होगया। क्रुद्ध भीड़ ने रेल्वे स्टेशनों, डाकखानों तथा थानों पर भी हमले किए। रेल्वे व तारों की लाइनें काटी गई। उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में तथा अन्य कुछ स्थानों में जनता ने अपना समानान्तर प्रशासन भी स्थापित कर लिया। जयप्रकाशनारायण तथा अरुणा आसफअली आदि नेताओं ने इस आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। मजदूरों, किसानों तथा विद्यार्थियों ने भी इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। सरकार ने आन्दोलन का दमन क्रूरता से किया।

स्वाधीनता के लिए 'भारत छोड़ो' अन्तिम महान् आन्दोलन था। इस आन्दोलन ने जनता में अभूतपूर्व राजनीतिक जागृति उत्पन्न की। 'इस आन्दोलन से भारत की स्वतन्त्रता निकट आयी। इस विद्रोह की आग में औपनिवेशिक स्वराज्य की सारी बात जल गई। भारत अब पूर्ण स्वतन्त्रता से कम कुछ नहीं चाहता था। अंग्रेजों का भारत छोड़ना निश्चित हो गया। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद को बड़ा भारी धक्का था।'

जेल में गांधीजी को अनेक आघात सहने पड़े। उनकी पत्नी कस्तूरबा तथा सेक्रेटरी महादेव देसाई का जेल में ही निधन होगया। गांधीजी ने जेल में २१ दिन का उपवास किया, जिससे उनकी हालत बहुत बिगड़ गई। अन्त में लार्ड वेवल ने ६ मई, १९४४ ई० को गांधीजी को जेल से मुक्त कर दिया।

जिन्ना से गांधीजी की बातचीत—जेल से छूटने के बाद गांधीजी ने साम्प्रदायिक समस्या को हल करने के उद्देश्य से श्री राजगोपालाचारी के फार्मूले के आधार पर मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना से बातचीत की। परन्तु जिन्ना अपनी पूर्ण पाकिस्तान की माग पर ही डटे रहे और इस बातचीत का कोई फल नहीं निकला। मौलाना आजाद के अनुसार यह बातचीत गांधीजी की भयकर राजनीतिक भूल थी। क्योंकि 'इससे जिन्ना को एक नया और अतिरिक्त महत्व मिल गया जिसका उसने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए खूब प्रयोग किया।'

भारत को स्वतन्त्रता-प्राप्ति—विश्वयुद्ध के बाद चुनाव होने पर इंग्लैण्ड में लार्ड एटली की मजदूरदलीय सरकार बनी जिसकी भारत की माग से सहानुभूति थी। १९४६ ई० में एटली ने भारत के राजनीतिक गतिरोध को हल करने के लिए एक मंत्रिमण्डल मिशन भेजा। परन्तु उसकी योजना को कांग्रेस व लीग ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में लार्ड माउण्टबेटन ने देश के विभाजन की नई योजना रखी जिसे कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने मान लिया। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७ ई० के अन्तर्गत १५ अगस्त, १९४७ ई० को हिन्दुस्तान व पाकिस्तान को ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। महात्मा गांधी ने जीवन भर देश के विभाजन का विरोध किया था। किन्तु जब मुस्लिम लीग ने सारे देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़का दिये, तो कांग्रेस के नेता विभाजन को स्वीकार करने के लिए विवश हो गए।

आदर्श समाज की कल्पना—वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज की स्थापना गांधीजी का आदर्श था। यहां लक्ष्य के सम्बन्ध में गांधीजी के *तथा मार्क्स व अराजकतावादियों के दृष्टिकोणों में बड़ी समानता है*, किन्तु उनके साधनों में बहुत भेद है। कार्ल मार्क्स की भांति गांधीजी हिंसक क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं करते। वे सर्वोदय में विश्वास रखते थे। पूंजीवादी व्यवस्था को वे आर्थिक विकेन्द्रीयकरण तथा ट्रस्टीशिप को लागूकर समाप्त करना चाहते थे। गांधीजी राज्य को कोई विशेष पवित्र संस्था या सबसे प्रमुख संस्था के रूप में नहीं देखते थे। वे राज्य को साध्य (end) नहीं, जनता के अधिक से अधिक कल्याण के लिए एक साधन-मात्र मानते थे। वे निरंकुश राजसत्ता के समर्थक न होकर जन-प्रभुता के समर्थक थे। वे सत्ता का विकेन्द्रीयकरण चाहते थे। वे पंचायतों की स्वायत्तता के प्रबल समर्थक थे। वे चाहते थे कि पंचायतों को अधिक से अधिक अधिकार दिए जायें जिससे वे ग्रामों के उत्थान की योजनायें बना सकें। उनकी मान्यता थी कि सत्ता नीचे से ऊपर की ओर चलनी चाहिए, न कि ऊपर से नीचे की ओर। गांधीजी ने अपनी स्वराज्य की कल्पना 'हिन्द स्वराज्य' नामक पुस्तक में तथा 'यंग इण्डिया' पत्र में इस प्रकार रखी है—"स्वराज्य से मेरा अभिप्राय भारत की उस सरकार से है जो स्त्री, पुरुष, वासी, प्रवासी, किसी का भेद किए बिना ऐसी बालिग जनता के बहुमत से बनी हो, जो राज्य को अपना श्रम देते हों और जो स्वयं मतदाता बने हों। मुझे आशा है स्वराज्य थोड़े से लोगों के सत्याग्रह करने से नहीं आयेगा, बल्कि स्वराज्य तब होगा जब सभी में इतनी सामर्थ्य आ जाये कि वे सत्ता का दुरुपयोग होने पर सत्ताधारियों का विरोध कर सकें। दूसरे शब्दों में स्वराज्य की प्राप्ति तब होगी जब जनता को इतना शिक्षित कर दिया जाय कि वह सत्ता का सन्तुलन और नियन्त्रण कर सके" (यंग इण्डिया)। गांधीजी कोई स्वप्नद्रष्टा नहीं थे। उन्होंने जिन सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रचार किया, उन्हें दैनिक जीवन तथा उसकी समस्याओं पर लागू करने का भी प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी मान्यताओं को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

गांधीजी के रचनात्मक कार्य—गांधीजी कोरे राजनीतिज्ञ या विचारक ही नहीं, वरन् एक महान् समाज-सुधारक भी थे। समाज-सुधार के लिए उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया। गांधीजी सामाजिक भेदभाव और हर प्रकार की अस्पृश्यता के विरुद्ध थे। उन्होंने अछूत व पिछड़े हुए वर्ग के लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया। हरिजनोद्धार के लिए उन्होंने जीवन भर

के लिए अपनाए गए साधनों का भी शुद्ध होना अनिवार्य माना गया। गांधीजी ने हमेशा इस बात पर बल दिया कि केवल उद्देश्य का ही अच्छा होना पर्याप्त नहीं है, उसके साधन भी शुद्ध होने चाहिए। मात्र लक्ष्य की श्रेष्ठता अनुचित साधनों को उचित नहीं ठहरा सकती। यह उल्लेखनीय है कि गांधीजी ने कभी भी सत्याग्रह आन्दोलन के दौरान हिंसा के प्रयोग को सहन नहीं किया। जब कभी सत्याग्रह में हिंसक घटना घटी, उन्होंने प्रबल जनमत के विरुद्ध होकर भी तुरन्त सत्याग्रह को स्थगित कर दिया।

अहिंसा व सत्याग्रह—गांधीजी ने देश के स्वाधीनता-संघर्ष को अहिंसा व सत्याग्रह के आधार पर चलाया। उन्होंने बुराई से लड़ने के लिए हमें सत्याग्रह का अनोखा तरीका बताया जो विशुद्ध नैतिक साधन था। उन्होंने हमें यह बतलाया कि सत्याग्रह के नैतिक अस्त्र द्वारा किस प्रकार संसार के सबसे शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य का सामना किया जा सकता है। *अहिंसा का अर्थ है मन, वचन व कर्म से किसी को भी हानि न पहुँचाना।* गांधीजी की दृष्टि में अहिंसा का अर्थ है, असीम प्रेम। अहिंसा सत्य पर आधारित है *और दोनों में अभिन्न सम्बन्ध है। अहिंसा या सत्य जीवन का सबसे बड़ा नियम है।* इसी के द्वारा मानवता की रक्षा संभव है। अहिंसा कायर का नहीं, वीर का अस्त्र है। अहिंसा का पुजारी मन, वचन और कर्म से भी अपने विरोधी को हानि नहीं पहुँचाना चाहता। अहिंसा कठोर व क्रूर व्यक्ति का भी हृदय बदल सकती है।

गांधीजी के अनुसार सत्याग्रह (सत्य+आग्रह) का अर्थ है, 'सत्य पर अटल होकर डटे रहना'। गांधीजी ने इसे प्रेम-शक्ति या आत्मिक शक्ति भी कहा है। 'सत्याग्रही अपने विरोधी को कष्ट नहीं पहुँचाता और सदा कोमल तर्क द्वारा या तो उसकी बुद्धि को प्रेरित करता है या आत्म-बलिदान द्वारा उसके हृदय को। सत्याग्रह दोहरा वरदान है। यह उसके लिए भी वरदान है जो इसका आचरण करता है और उसके लिए भी जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाय। सत्याग्रही हारना तो जानता ही नहीं, क्योंकि वह बिना थके-हारे सत्य के लिए लड़ता है। इस संग्राम में मृत्यु मोक्ष होती है और कारागृह स्वतन्त्रता का द्वार। अहिंसा व सत्याग्रह में गांधीजी की दृढ़ आस्था थी। उनकी मान्यता थी कि अहिंसा व सत्याग्रह द्वारा विदेशी आक्रमणकारी का भी प्रतिरोध किया जा सकता है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में तथा भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध कई बार सफलतापूर्वक सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग कर दिखाया। वैसे सत्य और अहिंसा भारत के लिए कोई नए सिद्धान्त न थे। हजारों वर्ष पूर्व देश ... धार्मिक व नैतिक जीवन में इन शाश्वत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा ... परन्तु अहिंसा व सत्य का प्रयोग गांधीजी से पूर्व केवल व्यक्ति...

10

जवाहरलाल नेहरू एवं उनका योगदान

जवाहरलाल नेहरू केवल भारत के ही नहीं, समस्त विश्व के एक महान् नेता थे, जिन्होंने लगभग चौथाई शताब्दी तक भारतीय राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया। वे स्वाधीनता संग्राम के महान् सेनानी ही नहीं, आधुनिक भारत के मुख्य शिल्पी भी थे। उनका सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीय प्रगति, लोक-कल्याण और विश्व शान्ति के महान् आदर्शों के लिए समर्पित था। उन्होंने शोषित व पददलित मानवता को स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और शान्ति का वह संदेश दिया जिसकी युग को अपेक्षा थी।

नेहरू का जीवन-वृत्त—जवाहरलाल नेहरू का जन्म प्रयाग में पं० मोतीलाल नेहरू के घर १४ नवम्बर, १८८९ ई० को हुआ था। अध्ययन के लिए उन्हें इंग्लैंड भेजा गया, जहाँ उन्होंने बी० ए० आनर्स और बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। भारत लौटकर उन्होंने अपना जीवन देश सेवा के लिए अर्पित कर दिया। उनका कमलाजी के साथ विवाह हुआ, किन्तु वे उन्हें बीच में ही छोड़ कर चल बसी। उन्होंने कई बार विश्व के विभिन्न देशों की यात्रा कर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं व प्रवृत्तियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया। जब वे महात्मा गांधी के सम्पर्क में आए तो उनके जीवन की दिशा ही बदल गयी। गांधीजी ने उनके विचारों को बहुत प्रभावित किया। लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, लोक-कल्याण, निर्भीकता, अहिंसा व मानव-प्रेम के गांधीवादी विचारों का नेहरूजी ने अपने जीवन में समावेश किया था। गांधीजी ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों का भी नेहरू पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वे रोम्याँ रोलाँ तथा बर्नार्ड शा जैसे लेखकों की रचनाओं से भी प्रभावित हुए थे। साहित्य, राजनीति और अर्थनीति पर उनका समान अधिकार था। उनकी रचनाएँ—'मेरी कहानी' 'भारत की खोज,' 'विश्व इतिहास की झलक' व 'पिता के पुत्री के नाम पत्र' विश्व-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

नेहरूजी का स्वाधीनता संग्राम में योगदान—नेहरूजी ने देश के स्वाधीनता संग्राम में सराहनीय भूमिका निभायी। १९१२ ई० में उन्होंने पहली बार कांग्रेस के पटना अधिवेशनमें भाग लिया था और तबसे उनका कांग्रेस से निरंतर सम्बन्ध बना रहा। १९१६ ई० में उन्होंने एनी बीसेण्ट व तिलक द्वारा चलाए गए होमरूल आन्दोलन में भी भाग लिया था। १९२० के असहयोग आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया और गिरफ्तार हुए। १९२३ ई० से १९२५ ई० तक

कार्य किया। उन्होंने 'हरिजन' नाम से एक अखबार भी निकाला। वे स्वयं भी अधिकतर हरिजन-बस्ती में ठहरा करते थे। गांधीजी ने स्त्रियों की शिक्षा पर भी बहुत जोर दिया। उन्होंने कहा कि स्त्री-शिक्षा बिना समाज का उत्थान नहीं हो सकता। उन्होंने बाल-विवाह का भी विरोध किया। उन्होंने आजीवन हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न किया। विभाजन से पूर्व तथा बाद में हुए साम्प्रदायिक दंगों की आग बुझाने के लिए उन्होंने अनशन किए और अपने प्राण दांव पर लगा दिए। उन्होंने शराब-बन्दी के लिए भी अभियान चलाया। शराब की दूकानों पर उन्होंने पिकेटिंग का भी समर्थन किया। उन्होंने विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से बुनियादी या बेसिक शिक्षा का प्रचार किया। उन्होंने कई राष्ट्रीय शिक्षा संस्थायें खोलने में भी सहयोग दिया। ग्रामों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से उन्होंने खादी का समर्थन किया। उन्होंने प्रत्येक कांग्रेसी के लिए खादी पहनना आवश्यक ठहराया। उन्होंने प्रत्येक भारतीय को नियमित रूप से चर्खा कातने की भी सलाह दी। खादी कार्यक्रम से लाखों स्त्रियों तथा जुलाहों को रोजगार मिला। देश भर में खादी-भण्डारों का जाल बिछ गया। गांधीजी ने स्वदेशी का आन्दोलन भी चलाया। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में कुटीर-उद्योगों की स्थापना को बेकारी की समस्या हल करने के लिए आवश्यक बताया। वे भारी मशीनों के प्रयोग के विरुद्ध थे, क्योंकि उनके द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था का विकास होता है। वे आर्थिक विकेन्द्रीयकरण के समर्थक थे।

गांधीजी की देन का मूल्यांकन—गांधी जी ने राजनीतिक जागृति को आम जनता तक पहुँचाया और देश में एक जन-आन्दोलन खड़ा कर दिया। परन्तु स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार 'भारतीय राजनीति को और शायद दुनियां के सारे पीड़ित इन्सानों को गांधी जी की सबसे बड़ी देन वह अनोखा तरीका है जो उन्होंने बुराई से लड़ने के लिये बताया और इस्तेमाल किया। उन्होंने भारत को तथा दुनियां का युद्ध की जगह एक नैतिक साधन दिया है। उन्होंने राजनीति को बड़ी-बड़ी बातों और असत्य से उठा कर एक ऊँचे आदर्शवाद पर पहुँचा दिया, जिसमें लक्ष्य चाहे जितना अच्छा हो पर शुद्ध साधनों के अलावा और किसी तरह के साधन किसी भी हालत में उचित नहीं ठहराए जा सकते। उन्होंने सत्य को राजनीति में भी सबसे ऊँचा रखा'।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. लोकमान्य तिलक की राष्ट्रीय आन्दोलन को देन का उल्लेख कीजिए।
२ तिलक और गोखले के राजनीतिक विचारों की तुलना कीजिए।
३. महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा के विचारों पर एक लेख लिखिए।
४ महात्मा गांधी की भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को क्या देन है ?

धर्म-निरपेक्षता की नीति—नेहरूजी की धर्म-निरपेक्षवाद में प्रबल निष्ठा थी। भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता का समावेश किया गया। नेहरूजी जीवन भर साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। उन्होंने भारत में अल्पसंख्यक मुसलमानों की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की। पाकिस्तान की कट्टर साम्प्रदायिक नीति के कारण बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू शरणार्थियों को भारत आना पड़ा, जिसकी देश के हिन्दुओं पर प्रतिक्रिया हुई। किन्तु फिर भी भारत का शासन धर्म-निरपेक्ष ही बना रहा, इसका बहुत कुछ श्रेय नेहरूजी को ही है।

भारतीय राष्ट्रवाद की कल्पना—नेहरूजी उग्र या संकीर्ण राष्ट्रवाद के समर्थक नहीं थे। उनका आदर्श था सन्तुलित व प्रगतिशील राष्ट्रवाद, जो विश्ववाद का पूरक बन सके। वे पुरातनवाद व सम्प्रदायवाद के आलोचक थे। उन्होंने राष्ट्रवाद की धर्म-निरपेक्ष व्याख्या की थी। वे कहते थे कि 'राष्ट्रवाद के नाम पर धर्म जाति व संस्कृति का सहारा नहीं लेना चाहिए। हिन्दू राष्ट्रवाद या मुस्लिम राष्ट्रवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है। केवल भारतीय राष्ट्रवाद का अस्तित्व हो, जिसमें धर्मवाद का कोई स्थान नहीं हो'। नेहरूजी ने राष्ट्रीय एकता को पुष्ट बनाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय एकता परिषद् की भी स्थापना की थी।

सामाजिक न्याय की स्थापना—नेहरूजी ने भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना में महत्त्वपूर्ण काम किया। उनकी सरकार ने हर प्रकार की छुआछूत को कानून के विरुद्ध अपराध घोषित किया। हरिजन, अनुसूचित व पिछड़ी हुई जातियों को उन्नत बनाने के लिए उन्हें विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई। उनके लिए शिक्षा-सुविधाओं की व्यवस्था की गई। कानून की दृष्टि से सब की समानता स्थापित की गई। नारियों को पुरुषों के समान ही राजनैतिक, वैधानिक व सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार दिलाने में नेहरूजी ने सराहनीय भूमिका निभायी। शराब-बन्दी की दिशा में भी कुछ प्रगति हुई। श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये भी प्रयत्न हुए। १९५२ ई० में कर्मचारी बीमा योजना लागू की गयी और १९५६ ई० में कर्मचारी प्राविडेण्ट फण्ड लागू किया गया।

नेहरूजी का लोकतांत्रिक समाजवाद—नेहरूजी राजनीतिक प्रजातन्त्र की सफलता के लिए समाजवाद को अनिवार्य मानते थे। उनका समाजवाद में अटूट विश्वास था। किन्तु उनका समाजवाद मार्क्स या लेनिन के समाजवाद से भिन्न था। वे वर्ग संघर्ष या हिंसक क्रान्ति द्वारा समाजवाद की स्थापना के पक्ष में नहीं थे। वे लोकतन्त्र के ढाँचे के अन्तर्गत समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के समर्थक थे। उनकी प्रेरणा से आवाड़ी अधिवेशन (१९५५) में कांग्रेस ने समाजवादी व्यवस्था (socialistic pattern of society) की

वे प्रयाग की नगरपालिका के प्रधान रहे। अपनी योग्यता व संगठन शक्ति के बल पर वे कई बार राष्ट्रीय कांग्रेस के मन्त्री नियुक्त हुए। १९२७ ई० में ब्रुसेल्स (बेल्जियम) में हुए दलित राष्ट्रों के सम्मेलन में भी उन्होंने भाग लिया। नेहरू जी भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे। १९२८ ई० में उन्होंने मोतीलाल नेहरू कमेटी की रिपोर्ट का विरोध किया, क्योंकि उसमें पूर्ण स्वाधीनता के बजाए औपनिवेशिक स्वराज्य को लक्ष्य माना गया था। १९२९ ई० में वे कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए। उनकी अध्यक्षता में ही लाहौर कांग्रेस ने देश के लिए पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य का ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किया। इसी अधिवेशन में २६ जनवरी को प्रतिवर्ष स्वाधीनता-दिवस के रूप में मनाने का भी निर्णय किया गया। नेहरू जी ने १९३० ई० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा १९४२ ई० के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी भाग लिया और जेल गए। वे अपनी लोकप्रियता के कारण पाँच बार राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। उन्होंने कांग्रेस के भीतर समाजवादी विचारधारा के विकास में भी सराहनीय योग दिया। १९४६ ई० में जब भारत में अन्तरिम सरकार बनी तो वे उसके प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए और तबसे वे मृत्यु पर्यन्त देश के प्रधान मन्त्री बने रहे।

आधुनिक भारत के निर्माता—जवाहरलाल नेहरू आधुनिक भारत के मुख्य निर्माता थे। स्वाधीनता के बाद उन्होंने देश के नवनिर्माण के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की मृत्यु के बाद वे देश के सबसे महान् नेता और मार्गदर्शक थे। स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री तथा योजना-आयोग के अध्यक्ष के रूप में वे अन्त तक देश की सेवा में लगे रहे। विश्वशान्ति तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रति की गयी उनकी सेवाएँ अनुपम हैं। १९४८ ई० से १९६४ ई० तक के काल को हम 'नेहरू युग' कह सकते हैं, क्योंकि इस सम्पूर्ण काल में उनका महान् व्यक्तित्व पूर्णतः राष्ट्रीय जीवन पर छाया रहा।

संसदीय लोकतन्त्र—नेहरू का लोकतन्त्र में दृढ विश्वास था। भारत में उन्होंने संसदीय जनतन्त्र की नींव डाली और उसके समुचित विकास को प्रोत्साहन दिया। देश के प्रजातन्त्रीय संविधान के निर्माण में उनका महत्वपूर्ण योग था। उनके शासन-काल में देश में वयस्क मताधिकार के आधार पर तीन महानिर्वाचन हुए। नेहरू जी ने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का आदर किया, जो नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। उन्होंने सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के लिए पंचायती राज की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए। उन्होंने १७ वर्ष तक संसार के सबसे बड़े प्रजातन्त्र का सफल नेतृत्व किया, संसदीय प्रजातन्त्र का सफलतापूर्वक परीक्षण किया और स्वस्थ लोकतन्त्री परम्पराओं का देश में विकास किया।

कारण थी। नेहरू सरकार ने निश्चित प्रणाली के अनुसार जोत की सीमाएँ निर्धारित कर दीं। जमीदारों को मुआवजा दे दिया गया और भूमि को किसानों में बाँट दिया गया। यह सुधार किसानों के जीवन स्तर को उठाने में सहायक हुआ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१ से १९५६ ई०)—प्रथम पंचवर्षीय योजना का आकार ११०० करोड़ रुपये का था। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि-उत्पादन तथा सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ाना था। सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए भाखड़ा बाँध, दामोदर घाटी योजना, हीराकुड बाँध आदि बहुमुखी योजनाएँ प्रारम्भ की गईं। कई उद्योग भी स्थापित किए गए, जैसे, चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, सींदरी फर्टीलाइजर फैक्टरी, दुर्गापुर हिन्दुस्तान केबल्स, विशाखापट्टम में हिन्दुस्तान शिपयार्ड, बंगलौर में टेलीफोन फैक्टरी आदि। इस योजना के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में लगभग १८ प्रतिशत की वृद्धि तथा कृषि उत्पादन में १७ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६ से १९६१ ई०)—दूसरी योजना में भारी बुनियादी उद्योगों के विकास पर अधिक जोर दिया गया। इस्पात के तीन बड़े कारखाने स्थापित किए गए—(१) भिलाई (२) रूरकेला तथा (३) दुर्गापुर। भारी उद्योगों के साथ-साथ कुटीर उद्योगों तथा लघु सिंचाई योजनाओं का भी विकास किया गया। ग्रामों के उत्थान के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ शुरू की गयीं। भोपाल में भारी बिजली के सामान का कारखाना खुला। प्रथम दो योजनाओं के बाद राष्ट्रीय आय में ४२.८ प्रतिशत की वृद्धि हुई प्रति व्यक्ति आय में १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई और देश का औद्योगिक विकास पहले से दुगुना हो गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (१९६१ से १९६६ ई०)—नेहरूजी के जीवन काल में ही तीसरी पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ हुआ। इस योजना में भी बड़े उद्योगों के विकास पर जोर दिया गया। देश में हवाई जहाज, जहाज, रेलवे इंजन, ट्रैक्टर, मोटर तथा विभिन्न प्रकार के यन्त्रों का निर्माण शुरू हुआ। बोकारो का इस्पात कारखाना स्थापित किया गया। गाँवों में बिजली पहुँचाई गयी। कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य व यातायात के साधनों का महत्वपूर्ण विकास हुआ। तृतीय योजना में राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था, किन्तु वृद्धि लगभग इससे आधी ही हो सकी। चीन के आक्रमण के कारण इस योजना में परिवर्तन किया गया और देश की रक्षा से सम्बन्धित उद्योगों पर विशेष बल दिया गया। इन पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप देश की राष्ट्रीय आय बढ़ी है। देशवासियों की औसत आयु भी बढ़ी है।

विज्ञान व तकनीकी ज्ञान का विकास—नेहरू जी भारत की वैज्ञानिक प्रगति में विशेष रुचि रखते थे। उन्हीं के प्रयत्न के फलस्वरूप भारत में

स्थापना को अपना लक्ष्य घोषित किया। समाजवाद से नेहरूजी का तात्पर्य था उत्पादन के मुख्य साधनों पर समाज का स्वामित्व, उत्पादन की निरन्तर वृद्धि और समाज की सपत्ति का न्यायपूर्ण बँटवारा। नेहरूजी ने कहा था—समाजवाद का अर्थ धन का वितरण नही है और न ही केवल जन कल्याणकारी राज्य का निर्माण है। आवश्यकता इस बात की है कि देश मे उत्पादन बढाया जाए, धन की वृद्धि हो और फिर अर्जित धन का समुचित ढग से वितरण किया जाए'। नेहरूजी रूसी ढग के अधिनायकवादी समाजवाद के पक्ष मे नहीं थे। उन्होने कहा था—"मैं उस उग्र प्रकार का समाजवाद नहीं चाहता, जिसमे राज्य सर्वशक्ति-सम्पन्न होता है और प्रायः सब क्रिया-कलापो का सचालन करता है। राजनीतिक दृष्टि से राज्य बहुशक्ति-सम्पन्न होता है। इसलिए मैं आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीयकरण की योजना के आदर्श रूप को भारतीय जन-जीवन के लिए व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करना चाहता हूँ। नेहरूजी ने अपने शासन काल मे ऐसी नीति अपनाने का भर सक प्रयास किया, जिसमे उत्पादन बढे, किन्तु व्यक्तिगत एकाधिकार तथा पूँजी का केन्द्रीयकरण न हो। कांग्रेस ने १९५९ ई० मे नागपुर अधिवेशन मे सहकारी खेती, खाद्यान्न मे राजकीय व्यापार तथा कृषि भूमि की अधिकतम जोत निर्धारित करने का निर्णय लिया। नेहरूजी की प्रेरणा से कांग्रेस ने जनवरी, १९६४ ई० मे भुवनेश्वर अधिवेशन मे एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें लोकतन्त्रात्मक ढग से समाजवाद की स्थापना को लक्ष्य घोषित किया गया। नेहरूजी की सरकार ने बीमा कपनियो तथा राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया और इस प्रकार की कर व्यवस्था अपनायी जो देश मे अमीर तथा गरीब के भेद को कम करने मे सहायक हो।

योजनाबद्ध आर्थिक विकास—भारत मे चारो ओर दरिद्रता, अशिक्षा एव बेकारी व्याप्त थी। नेहरूजी ने ४० करोड जनता के जीवन स्तर को सुधारने के लिए देश के तीव्र आर्थिक विकास की आवश्यकता अनुभव की। उन्होने देश के योजनाबद्ध विकास का प्रारम्भ किया और अपने जीवन काल मे ही तीन पचवर्षीय योजनाएँ चलायीं। भारत के योजनाबद्ध विकास की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह देश के प्रजातात्रिक ढाँचे के अन्तर्गत हो रहा है। अभी तक योजनाबद्ध विकास रूस जैसे साम्यवादी देशो मे ही हुआ था। नेहरू जी ने योजनाबद्ध विकास की नीति के अन्तर्गत मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अपनाया। सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों मे ही उन्होने औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दिया।

कृषि व भूमि सुधार तथा जमींदारी उन्मूलन—नेहरू सरकार ने कृषि तथा भूमि सुधार तथा जमींदारी-उन्मूलन द्वारा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। जमींदारी प्रथा किसानों की गरीबी का मुख्य

ह सरकार ने निश्चित प्रणाली के अनुसार जोत की सीमाएँ
। । जमींदारों को मुम्रावजा दे दिया गया और भूमि को किसानो
ा । यह सुधार किसानो के जीवन स्तर को उठाने मे सहायक

ाचवर्षीय योजना (१९५१ से १९५६ ई०)—प्रथम पचवर्षीय
ार ११०० करोड़ रुपये का था। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि-
सिंचाई की सुविधाएँ बढाना था। सिंचाई की सुविधाएँ
दामोदर घाटी योजना, हीराकुड बाँध
गई। कई उद्योग भी स्थापित किए
, सीदरी फर्टीलाइजर फैक्टरी, दुर्गापुर
हुस्तान शिपयार्ड, बंगलौर में टेलीफोन
इस योजना के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय मे लगभग १८
द्धि तथा कृषि उत्पादन मे १७ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

पचवर्षीय योजना (१९५६ से १९६१ ई०)—दूसरी योजना मे
उद्योगो के विकास पर अधिक जोर दिया गया। इस्पात के
ाने स्थापित किए गए—(१) भिलाई (२) रूरकेला तथा
। भारी उद्योगो के साथ-साथ कुटीर उद्योगों तथा लघु सिंचाई
भी विकास किया गया। ग्रामो के उत्थान के लिए सामुदायिक
एँ शुरू की गयीं। भोपाल मे भारी बिजली के सामान का
। । प्रथम दो योजनाओ के बाद राष्ट्रीय आय मे ४३·८ प्रतिशत
प्रति व्यक्ति आय मे १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई और
गिक विकास पहले से दुगुना हो गया।

पंचवर्षीय योजना (१९६१ से १९६६ ई०)—नेहरूजी के जीवन
सरी पचवर्षीय योजना का प्रारम्भ हुआ। इस योजना मे भी बड़े
कास पर जोर दिया गया। देश मे हवाई जहाज, जहाज, रेलवे
रू हुआ।
पहुँचाई
ं विकास
योजना में राष्ट्रीय आय मे २५ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा
। चीन के आक्रमण के

लोहा-इस्पात, रेल के डिब्बे, घड़ियाँ, हैलीकोप्टर, जहाज, खाद, ट्रैक्टर, मोटरकार, औषधियाँ, बिजली का सामान आदि आवश्यक वस्तुओं के निर्माण के विशाल कारखाने स्थापित हुए। नेहरूजी ने भारत में तेल-उद्योग, रेडियो, टेलीविजन, राकेट आदि के निर्माण को भी प्रारम्भ किया। ट्राम्बे में नेहरूजी ने अणु शक्ति के विकास के लिए भट्टियों की स्थापना भी की। नेहरूजी के प्रोत्साहन से भारत में वैज्ञानिक औद्योगिक शोध परिषद् (C. S. I. R.) की भी स्थापना हुई। उन्होंने देश भर में विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक व तकनीकी संस्थान स्थापित किए। तकनीकी प्रशिक्षण के लिए खड़गपुर तथा अन्य कई नगरों में कालेज खोले गए। उन्होंने देशवासियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने का भी सदा प्रयास किया।

नेहरूजी की विदेश नीति:—पंडित नेहरू ही भारत की विदेश नीति के प्रमुख निर्माता थे। स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व भी वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर कांग्रेस के प्रमुख प्रवक्ता रहे थे। विदेश नीति के महत्त्व के कारण ही नेहरूजी ने स्वयं विदेश मन्त्री का पद सम्भाला था। उनके नेतृत्व में भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अत्यन्त प्रशंसनीय भूमिका निभायी। भारत की विदेश नीति पर जितना प्रभाव नेहरूजी का रहा है, उतना शायद ही किसी देश की विदेश नीति पर किसी एक नेता का रहा हो। नेहरूजी ने विदेश नीति के जो सिद्धान्त व मानदण्ड स्थिर किए, वे आज भी भारतीय नेताओं के मार्ग-दर्शक बने हुए हैं। अन्तरिम सरकार के प्रधान मन्त्री के रूप में नेहरूजी ने ६ सितम्बर, १९४६ ई० को राष्ट्र के नाम सन्देश में विदेश नीति के मूलभूत सिद्धान्तों का संकेत किया था—"हम यथा सम्भव शक्ति और पोषित गुटों से अलग रहने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि शक्ति-गुटों के कारण दो विश्व युद्ध हो चुके हैं और वे पुनः एक भयंकर विनाश की ओर अग्रसर कर सकते हैं। पराधीन देशों और उपनिवेशों की स्वतन्त्रता में हमें दिलचस्पी है। हम जातिवाद की नाजीवादी विचारधाराओं के विरुद्ध हैं। आज का विश्व प्रतिस्पर्धा, घृणा तथा आन्तरिक संघर्षों के बावजूद भी अधिक सहयोग तथा विश्व-निर्माण की ओर बढ़ रहा है। विश्व में एकता स्थापित हो, इसके लिए भारत प्रयास करेगा।" नेहरूजी की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्तों का अब हम नीचे विवेचन करेंगे :—

गुट-निरपेक्षता की नीति :—१९४७ ई० में जब भारत स्वतन्त्र हुआ, विश्व दो शक्ति-गुटों में बँटा था—(१) अमरीका तथा पश्चिमी देश व (२) रूस तथा उसके साथी साम्यवादी देश। इन दोनों गुटों के बीच निरन्तर प्रतिस्प [illegible] शीत युद्ध का वातावरण बना हुआ था। नेहरूजी ने इन [illegible]क्त गुटों से पृथक् रहने की नीति अपनायी। उन्होंने यह [illegible] भारत किसी भी गुट में शामिल नहीं होगा, वह [illegible]गे

स्वतन्त्र नीति अपनायेगा, वह प्रत्येक विषय पर अपना निर्णय उसके गुण-दोष के आधार पर निष्पक्ष रूप से करेगा और अपने को शीत-युद्ध से पृथक् रखेगा। गुट-निरपेक्षता की नीति की कल्पना तथा उसका प्रयोग नेहरूजी की विश्व राजनीति को महत्वपूर्ण देन है। प्रारम्भ में दोनों शक्ति-गुटों ने भारत की गुट-निरपेक्षता की इस नीति को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखा। किन्तु धीरे-धीरे बड़े राष्ट्रों ने विश्व-शान्ति के लिए इसके महत्व को पहचान लिया। इस नीति का महत्व इस बात से स्पष्ट है कि एशिया, अफ्रीका व दक्षिण अमरीका के अधिकांश देशों ने भी गुट-निरपेक्षता की नीति को ही अपनाया है। लंका, बर्मा, इन्डोनेशिया, मिस्र, यूगोस्लाविया आदि देश इस नीति के समर्थक हैं।

नेहरूजी द्वारा अपनायी गयी यह नीति पलायनवाद या निषेधात्मक तटस्थता की नीति नहीं है। भारत ने नेहरूजी के नेतृत्व में हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सक्रिय रुचि ली। उसने अन्याय के विरुद्ध निडर होकर सदा अपनी आवाज उठायी। मिस्र पर किए गए इंग्लैण्ड व फ्रांस के आक्रमण की, हंगरी में रूस द्वारा किए गए दमन की तथा क्यूबा पर हुए अमरीकी आक्रमण की भारत ने स्पष्ट शब्दों में निन्दा की। भारत की गुट-निरपेक्षता की यह नीति गतिशील तथा क्रियाशील विदेश नीति है। कुछ आलोचक इस नीति को कोरे आदर्शवाद पर आधारित बताते हैं, किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है। यह नीति राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक कुछ ठोस तथ्यों के आधार पर निर्धारित की गयी थी। अक्टूबर, १९६२ ई० में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो गुट-निरपेक्षता की इस नीति को परखने का अवसर उपस्थित हुआ। चीन का सैनिक दबाव बढ़ने पर भी नेहरूजी ने इस नीति को नहीं छोड़ा। इस गुट-निरपेक्षता की नीति के परिणामस्वरूप भारत को चीनी आक्रमण के विरुद्ध अमरीका तथा रूस दोनों देशों से समर्थन व सहायता मिल सकी।

सैनिक संगठनों का विरोध:—संसार में अमरीका तथा रूस के नेतृत्व में कुछ सैनिक संगठन बने हुए हैं, जैसे नाटो, सीटो, वारसा पैक्ट आदि। नेहरूजी ने सदा इन सैनिक संगठनों की निन्दा की है, क्योंकि इनसे विश्व-शान्ति को खतरा उपस्थित होता है।

पंचशील या सह-अस्तित्व का सिद्धान्त:—नेहरूजी ने भारत की विदेश नीति का आधार पंचशील या पाँच सिद्धान्तों को माना जो इस प्रकार हैं—(१) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभु-सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना, (२) अनाक्रमण (आक्रमण न करना), (३) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, (४) समानता एवं पारस्परिक लाभ और, (५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व। नेहरूजी ने पंचशील के आधार

कर उसके एक भाग पर अपना अधिकार कर लिया, यद्यपि काश्मीर वैधानिक दृष्टि से भारत का अंग बन चुका था। नेहरूजी ने काश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र-संघ में शिकायत की, किन्तु गुटबन्दी का शिकार होने के कारण यह भारत की इस न्यायसंगत माँग पर अभी तक भी कोई निर्णय नहीं ले सका है। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध चीन के साथ साठ-गांठ करली। १९६५ ई० में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण भी किया, किन्तु उसे मुँह की खानी पड़ी।

भारत की विदेशी बस्तियों की मुक्ति—स्वाधीनता के बाद नेहरूजी ने भारत की विदेशी बस्तियों को मुक्त कराया। चन्द्रनगर, माही व पांडिचेरी की फ्रांसीसी बस्तियाँ तो फ्रांस की सरकार के साथ शान्तिपूर्ण बातचीत द्वारा प्राप्त हो गयीं, परन्तु गोआ को पुर्तगाली साम्राज्यवाद से मुक्त कराने के लिए बल प्रयोग करना पड़ा।

एशिया व अफ्रीका के पददलित देशों की स्वाधीनता का समर्थन—एशिया व अफ्रीका के महाद्वीपों में भी राष्ट्रवाद व लोकतन्त्र की लहर उत्पन्न करने में नेहरूजी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने साम्राज्यवाद के विरुद्ध विभिन्न देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रबल समर्थन किया। वे हर प्रकार के साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के कटु आलोचक थे। उन्होंने आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का हमेशा समर्थन किया। उन्होंने लंका, इण्डोनेशिया, बर्मा, हिन्दचीन, सूडान, ट्यूनिशिया, मोरक्को, घाना, अल्जीरिया, लाइबेरिया, नाइजीरिया व कांगो के स्वतन्त्रता आन्दोलनों का अपना समर्थन दिया। डा. वी. पी. वर्मा ने उनके सम्बन्ध में लिखा है कि 'नेहरू जी अफ्रो-एशियायी राजनीतिक, आर्थिक एवं पूर्ण स्वतन्त्रता की आकांक्षाओं के प्रमुख अभि-वक्ता थे। उनके अफ्रो-एशियायी एकता तथा प्रगति के विचार ने नासर, एन्क्रूमा आदि नेताओं को प्रेरणा दी थी।'

विश्व-शान्ति के लिये प्रयत्न—नेहरू जी मानव जाति के कल्याण के लिए युद्ध तथा अस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा को अनावश्यक मानते थे। उन्होंने तृतीय विश्व-युद्ध को रोकने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उन्होंने परमाणु अस्त्रों के परीक्षण के विरुद्ध निरन्तर आवाज उठायी। वे अन्तर्राष्ट्रीय निशस्त्रीकरण का भी प्रबल समर्थन करते रहे। उन्होंने विश्व-शान्ति की स्थापना के उद्देश्य से अफ्रो-एशियायी सम्मेलन, बाडुंग सम्मेलन, तटस्थ राष्ट्रों के सम्मेलन तथा कोलम्बो देशों के संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। राष्ट्र-मण्डल के माध्यम से भी उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए प्रयास किया। ...हे विश्व-शान्ति के पक्ष में प्रबल विश्व-जनमत जागृत करने का ... करते रहे। उन्होंने जीवन भर दक्षिण-अफ्रीका की रंग-भेद ...या।

ष्ट्र-संघ का समर्थन—नेहरू जी की अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, -बन्धुत्व के आदर्शों के प्रति दृढ़ निष्ठा थी। संयुक्त राष्ट्र संघ र में उन्होंने सदा विश्वास प्रकट किया। कोरिया, हिन्दचीन, , अल्जीरिया, लाओस, क्यूबा, कांगो, स्वेज, जोर्डन, फिलस्तीन समस्याओं में जब भी अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हुए, नेहरू जी ने य का पक्ष लिया और संयुक्त राष्ट्र संघ को पूरा-पूरा समर्थन नहीं, उन्होंने शान्ति स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ को सैनिक दी। चीन के साथ विरोध होने पर भी उन्होंने चीन को संयुक्त- सदस्यता का सदा समर्थन किया। १९४८ व १९६० ई० में उन्होंने ष्ट्र संघ की महासभा में महत्वपूर्ण भाषण दिए। विश्व-शान्ति के र मानवता के महान् पुजारी के रूप में उन्होंने सदा ही अन्तर्राष्ट्रीय के समाधान में सराहनीय योग दिया।

नेहरू जी ने देश के सुनियोजित विकास के लिए कई क्रान्तिकारी कदम जैसे जमींदारी-उन्मूलन, प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का विस्तार, र्षिक विकास योजनाएँ, पंचायती राज, सहकारिता अभियान, कृषि- स, ११० से अधिक नदी-घाटी-योजनाएँ। भारत व विश्व के प्रति जी के महत्त्वपूर्ण योगदान के विषय में प्रो० के० पी० करुणाकर ने ठीक कहा है कि 'नेहरूजी समाजवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयवाद के प्रमुख विचारकों उ एक थे। श्री नेहरू एक क्रियाशील महान् व्यक्ति थे, जिन्होंने मानवतावाद झंडा ऊँचा उठाया, राष्ट्रवाद की अभिनव व्याख्या की, पूर्व और पश्चिम समन्वय करने की चेष्टा की, प्रजातन्त्र और समाजवाद का मिलन किया और अपने इन सभी महान् कार्यों से भारतीय राजनीतिक व सामाजिक चिन्तन को एक नया मोड़ दिया। उनका यह योगदान इतिहास में सदैव स्वर्णा- क्षरों में अंकित रहेगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. जवाहरलाल नेहरू ने देश के योजनाबद्ध विकास के लिए क्या-क्या कार्य किए ?
२. नेहरू की विदेश नीति के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।
३. नेहरूजी ने दे[illegible] 'समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए क्या-क्या का[illegible]